भारतीय समाज का
ऐतिहासिक विश्लेषण

लेखक—
भगवत शरण उपाध्याय

प्रकाशक—
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशनस् लि०
गोदौलिया, बनारस।

प्रथम संस्करण
१९५०

मूल्य
४ रुपया

लेखक

भगवतशरण उपाध्याय

प्रकाशक

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशनस् लि० बनारस

मुद्रक

मेवालाल गुप्त, बाम्बेप्रिंटिंग काटेज, बाँसफाटक, काशी

ब्लाक बना

गीताधर्म ब्लाक वर्क्स, मिश्र पोखरा बनारस

अवरण छपा

बाम्बेप्रिंटिंग काटेज काशी

कमर्सियल आर्टिस्ट

कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव आलोक प्रेस बनारस

❀

समर्पण

समाज के उन सर्वहारा श्रमिकों को—
जिन्होंने अन्याय से लड़ते
लहू और पसीने से लथपथ
कभी अपने कंधे न डाले।

सूची

प्रकाशक की ओर से

भारतीय इतिहास की प्रमुख धाराओं का पृथक्-पृथक् विश्लेषण अगले परिच्छेदों में किया गया है। उन सभी दृष्टिकोणों से विचार कर यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि भारतीय समाज को वैज्ञानिक इतिहास की आवश्यकता है। ऐसे स्वतन्त्र और निर्भीक विद्वानों की आवश्यकता है जो इतिहास का समुचित दर्शन समाज को करा सकें। उस दिशा में यह पुस्तक एक बिन्दुमात्र है। "भारतीय समाज के समुचित अध्ययन द्वारा ही वह दर्शन प्राप्त हो सकता है जो न केवल भारतीय समाज का अपितु विश्व मानव समाज का कल्याण कर सके।" यह कहने से यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय ज्ञान भंडार का यथावत् उल्था कर देने से ही वह सब जो आज हमारे लिये आवश्यक है प्राप्त हो जायगा। भारतीय समाज में— यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जो कुछ विभिन्न संघर्षों में लब्ध इतिहास द्वारा ज्ञात होता है उनका क्रमिक अध्ययन भारतीय समाज को वह प्रकाश दे सकता है जिससे ही भारतीय समाज अपने आपको प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक संघर्षों में जो तथ्य किसी एक काल में ग्रहण किये जाते हैं—उनकी जो धारायें बना मिटा करती हैं उनका तत्सामयिक वैज्ञानिक अभिप्राय लुप्त हो जाने पर वे सब तथ्य बहुत देर और दूरतक चलते-चलते इतने बोझिल हो जाते हैं कि उनमें उस तथ्य का दर्शन तक असंभव हो जाता है। जब कि सामाजिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न समाजों में होते रहने वाले प्रयोगों से और समकालीन उत्कर्षशील धारा से अनुप्राणित होते हुए तत्कालीन समाज को सर्वतोमुखी दृढ़ बनाया जाय।

भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था उसी प्रकार की एक बोझिल व्यवस्था है जिसने भारतीय मानव समाज को न केवल अनेक धाराओं में बाँट रखा है वरन् बृहद् मानव समाज से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध करने से रोक दिया है। भारतीय समाज में, जो इसमें आना चाहते भी हैं उन तक को आत्मसात् करने की शक्ति नहीं रह गई है। अन्य धर्मावलम्बियों की संकीर्णता का उदाहरण इस प्रसंग में कदापि उपादेय नहीं हो सकता। जबतक भारतीय समाज के सामायिक और धार्मिक ढाँचे में विकास की धारा उन्मुक्त नहीं होती इस समाज की उन्नति नहीं हो सकती। भारतीय समाज की यही विशेषता रही है, जो, संसार में अन्यत्र नहीं दीख पड़ती, कि इसने सदैव सामाजिक उथल-पथल और संघर्षों के बीच अपना दृष्टिकोण कठमुल्ला पन का न रखते हुए एक जीवित चेतना का परिचय दिया है। आज इतिहास की उसी घटना की पुनरावृत्तियों की आवश्यकता है जब यहां के ऋषि-महर्षि नेता प्रभृति धर्म को सामाजिक संसरण में कभी भी बाधक नहीं होने देते थे। यहाँ के धर्म की विशेष मूल धाराओं को प्रवहमान् रखते हुए यहाँ सामाजिक सम्बन्ध होते रहे हैं। और वही युग भारतीय समाज का स्वर्णकाल है जब इसमें वह लचीलापन था, वह जीवन था जो आनेवालों को आगे बढ़कर लेने को प्रस्तुत रहा है। आज के विश्व को विचारों और धर्मों की असहिष्णुता से दूर भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण ही कर सकता है। भारतीय समाज का मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र रहा है। आज उसकी स्वतन्त्रता छिन गई है। सभी ओर से आज वह पराधीन है। अपनी उदारता की अपेक्षा आज की संकीर्णता से अपने नित्य प्रति सजग स्वरूप की अपेक्षा आज के अपने युगों की सुप्तावस्था से, और अपने क्रांतिशील प्रकृति की अपेक्षा आज की अपनी परिवर्त्तनों को अस्वीकार करने की नीति से ही भारतीय समाज आज इस स्थिति को प्राप्त है।

शिक्षा, संस्कृति, विवाह, नारी-पुरुष, समाज के उत्तराधिकार के नियम और अन्य क्षेत्रों में धर्म द्वारा स्वीकृत सामाजिक प्रभुवर्गों की सत्ता-

को अंध विश्वास पूर्वक मानकर जो क्षति इस समाज की आज हो रही है उसे पलटे बिना समाज की प्रगति आज की विश्व स्थिति में असम्भव है। यों तो उन सत्ताकढ़ों पर प्रहार प्रारम्भ हो चुका है किन्तु अभी ऐसा प्रहार सामूहिक चेतना को उठा नहीं सका है। भारतीय समाज को आच्छादित किये हुए जो प्रभु सत्ता अभी भी जमी हुई है उसकी जड़ें खोदनी ही होंगी। और निर्माण करना होगा—उस समाज का जो वस्तुत: मानवीय नियमों से शासित होगा। जिसमें मिथ्या गौरव का लेश भी न होगा।

संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता रहा है। संस्कृतियों में अन्तरावलम्बन सहज और स्वाभाविक है। आज भारतीय समाज का सम्पर्क ऐसी दृढ़ प्राचीरों से बन्द हो चुका है कि भारतीय समाज का जीवन स्वच्छ हवा और उजली धूप का प्रकाश पाये बिना मरणशील हो रहा है। राष्ट्रीय चेतना का भी अन्तर्भूत प्रकाश इसे आडोलित इसलिये नहीं कर पा रहा है क्योंकि ऐसी राष्ट्रीय चेतना का अभाव है जो भारतीय समाज के मानव समुदाय को किसी एक चेतना, किसी एक गौरव, किसी एक अभिमान अथवा किसी एक अभिप्राय से आबद्ध किये चल रहा हो।

वह एक चेतना, एक अभिप्राय और एक गौरव आज केवल उत्पन्न हो सकता है समाज के प्रत्येक सदस्य को गौरवान्वित कर, प्रतिष्ठित कर और उसका मान करके ही

आज ऐसे प्रकाशनों की आवश्यकता है जो शीघ्र ही पंकिल, बोझिल और पंगु समाज में गति उत्पन्न कर सकने में समर्थ हों और उस क्रांति को उत्पन्न कर सके जिससे भारतीय समाज मानवीय चेतना से अभिभूत हो उन्नत मस्तक कर विश्व में आगे बढ़े।

श्री भगवत शरण उपाध्याय ने, जैसा कि पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक पढ़ने से ज्ञात होगा, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण शोधपूर्वक

किया है। लेखक ने अपनी ओर से एतिहासिक विश्लेषण में कुछ लादने का प्रयास नहीं किया है। एतिहासिक तथ्यों को इस प्रकार रखा है कि अध्येता स्वतः ही उन निष्कर्षों को जान सकें। और यही प्रस्तुत पुस्तक की सफलता है। एतिहासिक विषय को उनके मूलरूप में रखना ही विश्लेषण पद्धति की सफलता होती है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक न केवल सफल ही है अपितु इस क्षेत्र में अनुकरणीय है। पुस्तक के विषय में और कुछ कहना पाठकों के प्रति अन्याय होगा। वास्तविक सम्मति तो पाठकों की ही होती है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्री गंगाप्रसाद खत्री की अमूल्य सम्मति और सहयोग उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक प्रकाशन कार्य में अथक परिश्रम किया है। पुस्तक प्रकाशन कार्य में मेरे मित्र श्री विश्वनाथ पांडे "राहगीर" का उत्साह सराहनीय है। धन्यवाद मात्र देकर ऋण से उऋण होने की इच्छा नहीं है।

"भारतीय समाज का एतिहासिक विश्लेषण" प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष है कि "जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशनस्" का यह प्रथम प्रकाशन श्री भगवत शरण उपाध्याय ऐसे विद्वान् लेखक की पुस्तक द्वारा हुआ है।

पुरुषोत्तमदास—मैनेजिंग डाइरेक्टर,

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशनस् लि०

दो शब्द

मैं इस पुस्तक की 'भूमिका' नहीं केवल दो शब्द लिख रहा हूँ—यथार्थतः दो शब्द क्योंकि इस जल्दी में 'दो शब्द' ही संभव, उपादेय पर आवश्यक हैं। इस ग्रन्थ के लिए वस्तुतः 'भूमिका', और समुचित सविस्तर भूमिका, अपेक्षित थी, परन्तु अवकाश के अभाव में उसे दूसरे संस्करण के लिए स्थगित रखता हूँ।

यह पुस्तक मेरे सांस्कृतिक निबन्धों का संग्रह है। स्पष्ट है कि यह समष्टयात्मक अनुशीलन नहीं, भारतीय संस्कृतिका विश्लेषण मात्र है। उसका समष्टयात्मक अध्ययन समय लेगा। समय उसने लिया भी है, प्रायः दस वर्ष, और उसकी रूपरेखा-अन्तरगामी मेरे सामने है, परन्तु उसका प्रकाशन मैं विदेश से लौटकर करूँगा। इस समय मैं इस संकलन अथवा भारतीय संस्कृति के अध्ययन की इस सूची मात्र से सन्तोष करता हूँ।

हाँ, यह सूची मात्र है परन्तु, जैसा इससे आशा की जा सकती है, यह उस अध्ययन के स्पन्दन और नाड़ी पर सही हाथ रखती है, उसकी यथार्थ झाँकी देती है। इसमें मुझे सन्देह नहीं।

मेरे पिछले दो साल अत्यन्त कष्ट के रहे हैं। कारण मुझे अपनी विदेश यात्रा बारबार स्थगित करनी पड़ी है, विदेशों में अपने व्याख्यानों की नियत तिथियाँ भी बदलनी पड़ी हैं। परन्तु अपने सांस्कृतिक अध्ययन में और विलम्ब न कर सकने के कारण नितान्त असह्य पारिवारिक स्थिति बारबार आँखों की ओट कर समुन्दर पार जा रहा हूँ जिससे भारतीय संस्कृति के आधार स्वरूप पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि से खोद कर निकाले पुरातात्विक मूल सामग्री का अमेरिका और यूरोप के संग्रहालयों में अध्ययन कर सकूँ और फलतः संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन का अनुशीलन

अपने जीवन में ही समाप्त कर सकूँ। अतः पाठकों के सामने अपने संयोजित अध्ययन की इस अनुक्रमणी मात्र को रख रहा हूँ।

ग्रन्थ दो वर्षों से प्रकाशन के वातावरण में रहकर भी अप्रकाशित रहा है और अब मेरे मित्र श्री पुरुषोत्तम दास खत्री के प्रयास से प्रकाशित हो रहा है। इसमें संग्रहीत निबन्ध समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। मैं उन पत्र-पत्रिकाओं का ऋणी हूँ। पिछले कई महीनों से प्रायः अज्ञातवास ही करता रहा हूँ। इससे मेरा पता न जानने के कारण प्रकाशक मुझे पुस्तक का प्रूफ़ न भेज सके और छपाई की इसमें अनेक अशुद्धियाँ रह गईं। एक अशुद्धि तो पृष्ठ २२३ पर काफी बड़ी है। 'संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन' स्वतन्त्र और अत्यन्त महत्वपूर्ण निबन्ध है जो 'भारतीय संस्कृति में ग्राह्य और अग्राह्य' के परिशिष्ट के रूप में उससे जुड़ा हुआ छप गया है। विज्ञ पाठक कृपया उसे सुधार लेंगे। भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति शीर्षक लेख पहले 'पारिजात' में दिङ्नाग नाम से छपा था जिससे इस पुस्तक में भी लेखक का नाम उस लेख की १० वीं पंक्ति में छप गया है। इस प्रकार की और भी त्रुटियाँ होंगी जिनके लिए अपने पाठकों से मैं क्षमा चाहूँगा।

यदि इस पुस्तक से भारतीय संस्कृति को समझने में पाठकों को कुछ सुविधा मिली तो मैं अपना प्रयास सफल मानूँगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री पुरुषोत्तमदास खत्री ने जो कठिनाइयाँ झेली हैं उनके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग
२०-७-५० }

लेखक

लेखक के बारे में

जन्म—१६१० उजियार, जिला बलिया। १६२२ में असहयोग के आन्दोलन में दो बार कैद भारत के सबसे अल्पायु कैदी। गाजीपुर, बनारस आदि जेलों से १६२४ में छूटे। प्रगतिशील इतिहास के खोजी। कभी लखनऊ के पुरातत्व संग्रहालय के अध्यक्ष "बिड़ला कालेज" में इतिहास के अध्यापक। प्राचीन इतिहास के अन्वेषक। संसार के समष्टयात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के पोषक। संस्कृति के खोजी और 'संस्कृतियों' के अंतरावलम्बन-सिद्धान्त के समर्थक।

इतिहास-दर्शन

इतिहास अतीत के सभ्य युग में किए मानव-प्रयास की आनुक्रमिक कथा है। इतिहास-शरीर के आवश्यक अंग हैं—१ अतीत, २ सभ्य युग, ३ मानव-प्रयास, और ४ घटनाओं का आनुक्रमिक प्रसार। "वर्तमान" जो अभी जीवित है, इतिहास का विषय नहीं, यद्यपि वह शीघ्र अतीत होकर उसका अंग हो जायगा। घटना जो संपन्न हो चुकी, चाहे अभी चाहे सहस्राब्दियों पूर्व, इतिहास का अंग हो जाती है। इतिहास विगत घटनाओं का चिन्तन करता है।

"अतीत" अनादि है, उसका अधिकतर सुदूर भाग अज्ञात है। उस सुदूर मानव काल को हम दो बड़े भागों में बाँट सकते हैं—१ बर्बर और २ सभ्य युग। इन दोनों के भी अपने अपने अनेक काल-भाग हैं, परन्तु अपने अध्ययन के लिए हम इन दो विशिष्ट कालों की ही यहाँ चर्चा करेंगे। बर्बर-युग का इतिहास मनुष्य के उस काल-स्तर की घटनाओं का उल्लेख करता है जब वह हिंस्र बर्बर था और प्रकृति से संघर्ष में व्यस्त था, जब वह उष्ण-कटिबन्ध के बनों-वृक्षों पर, गुफाओं में, रहता था, आखेट किया हुआ माँस, कन्द-मूल, फल-फूल खाता था, पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों से आक्रमण और रक्षा करता था, जब उसने बर्तन भाण्ड बनाने सीखे, अग्नि का प्रयोग जाना, पशु-पालन और कृषि के सूत्रपात किए तथा उस अद्भुत चक्र-यन्त्र का अनुसन्धान कर यह व्यक्त किया कि गोल पहिया ही चिपटी पृथ्वी पर दौड़ सकता है। ग़रज़ कि बर्बर युग पूर्व और उत्तर—पाषाणकालीन

मनुष्य का काल है, यद्यपि विराट रूप में इतिहास बीती हु
सारी घटनाओं का अध्ययन करता है चाहे ये घटनाएँ अनन्त
पूर्व की ही क्यों न हों और इसी कारण सभ्य युग के इतिहास
का अध्ययन करते समय इस बर्बर पाषाण युग का भी हवाल
दिया जाता है। परन्तु यह हवाला वास्तव में सभ्य काल के इति-
हास के आधार और पृष्ठभूमि के रूप में ही होता है। उस काल
की घटनाएँ प्रायः अनुपलब्ध होने के कारण इतिहास शृंखला
की अटूट कड़ियाँ बनकर सामने नहीं आतीं, इससे इतिहास के
चेतन कलेवर का निर्माण वैज्ञानिक रूप से नहीं हो पाता। उस
काल की घटनाओं और मानव-प्रयासों का अध्ययन वास्तव में
किसी न किसी अंश में समाज-शास्त्र का अध्ययन हो जाता है।
उसके दो रूप मानव जाति के इतिहास और उस जाति के विभिन्न
दलों के स्वकीय और सामूहिक आचरण के अध्ययन हैं। इन्हें
क्रमशः "ऐन्थ्रापालोजी" और "एथ्नालोजी" कहते हैं। इनके
अतिरिक्त इतिहास का निकटतम आधार और पूर्ववर्ती विज्ञान
"पुरातत्त्व" (आर्क्यालोजी) है, जो स्वयं तो इतिहास नहीं
परन्तु उसके लिए वह आधारतत्त्व और सामग्री प्रस्तुत करता
है। कभी कभी इतिहासकार को भूगर्भ विद्या अथवा भू-निर्माण
के इतिहास की भी आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार भूगोल
की भी (और इस भूगोल का तो इतिहास से अत्यन्त निकट का
संबंध है)। परन्तु इतिहास न तो प्रकृति का इतिहास है, न
मानव जाति का अथवा मानव समूहों के सामाजिक आचरण
का, न भूगर्भ का, न पृथ्वी का, न पुरातत्त्व का। वह सभ्यता
काल में किए मानव-प्रयासों का इतिहास है, यद्यपि इतिहासकार
के लिए ऊपर गिनाए इतिहासाभासों का ज्ञान उसके कार्य के लिए
अत्यन्त समर्थ और आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। उस

पृष्ठभूमि के दो अवयव और हैं—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म-शास्त्र। इस प्रकार चूँकि प्रकृति और मानव-प्रयासों के विविध अंगों के अनुशीलन के लिए तत्तद्विषयक विज्ञान बन गए हैं, इतिहास का क्षेत्र सभ्य-काल में किए मानव-प्रयासों का ही रह जाता है।

इतिहास मानव-प्रयास से संघटित घटनाओं का होता है। मानव-संघटित घटनाएँ ही इतिहास के अंग हैं, इतर नहीं। घटनाएँ क्यों घटती हैं? मनुष्य प्रयास क्यों करता है? आदम के प्रति भगवान के दिए अभिशाप की पूर्ति के अर्थ—पेट के लिए। प्रकृति अन्य प्राणियों की भाँति ही मनुष्य पर भी कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं का अनुबन्ध डालती है इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य प्रयास करता है। परन्तु न मनुष्य स्वतंत्र है, न उसकी परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ और न उसके प्रयास ही। वह माता-पिता के कुटुम्ब में उत्पन्न होता है और प्रायः उनकी कृपा से नष्ट होने से बचता है। इस कारण स्वभाव से ही वह यूथाचारी होता है और समुदाय-प्रवृत्ति से आचरण करता है। उसकी यह प्रवृत्ति एक समाज (चाहे इसका रूप कितना भी प्रारंभिक क्यों न हो) का सृजन करता है। यही समाज कालान्तर में प्रबल, अपनी इकाई व्यक्ति मनुष्य—से कहीं प्रबल हो उठता है और उसका सारभूत कृत्रिम रूप मनुष्य के प्रयास की प्रगति तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तक में नैसर्गिक परिवर्तन करने में सक्षम होता है। मानव आवश्यकताएँ इस प्रकार कालान्तर में अपनी कृत्रिम सामाजिक परिस्थितियों के वशीभूत हो उनके द्वारा मात्रा और फलतः गुण में प्रभावित होती हैं। उनके रूप तक में अधिकाधिक परिवर्तन होता जाता है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में

मनुष्य का काल है, यद्यपि विराट रूप में इतिहास बीती हुई सारी घटनाओं का अध्ययन करता है चाहे ये घटनाएँ अनन्त पूर्व की ही क्यों न हों और इसी कारण सभ्य युग के इतिहास का अध्ययन करते समय इस बर्बर पाषाण युग का भी हवाला दिया जाता है। परन्तु यह हवाला वास्तव में सभ्य काल के इतिहास के आधार और पृष्ठभूमि के रूप में ही होता है। उस काल की घटनाएँ प्रायः अनुपलब्ध होने के कारण इतिहास शृंखला की अटूट कड़ियाँ बनकर सामने नहीं आतीं, इससे इतिहास के चेतन कलेवर का निर्माण वैज्ञानिक रूप से नहीं हो पाता। उस काल की घटनाओं और मानव-प्रयासों का अध्ययन वास्तव में किसी न किसी अंश में समाज-शास्त्र का अध्ययन हो जाता है। उसके दो रूप मानव जाति के इतिहास और उस जाति के विभिन्न दलों के स्वकीय और सामूहिक आचरण के अध्ययन हैं। इन्हें क्रमशः "ऐन्थ्रापालोजी" और "एथ्नालोजी" कहते हैं। इनके अतिरिक्त इतिहास का निकटतम आधार और पूर्ववर्ती विज्ञान "पुरातत्त्व" (आर्क्यालोजी) है, जो स्वयं तो इतिहास नहीं परन्तु उसके लिए वह आधारतत्त्व और सामग्री प्रस्तुत करता है। कभी कभी इतिहासकार को भूगर्भ विद्या अथवा भू-निर्माण के इतिहास की भी आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार भूगोल की भी (और इस भूगोल का तो इतिहास से अत्यन्त निकट का संबंध है)। परन्तु इतिहास न तो प्रकृति का इतिहास है, न मानव जाति का अथवा मानव समूहों के सामाजिक आचरण का, न भूगर्भ का, न पृथ्वी का, न पुरातत्त्व का। वह सभ्यता काल में किए मानव-प्रयासों का इतिहास है, यद्यपि इतिहासकार के लिए ऊपर गिनाए इतिहासाभासों का ज्ञान उसके कार्य के लिए अत्यन्त समर्थ और आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। उस

पृष्ठभूमि के दो अवयव और हैं—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म-शास्त्र। इस प्रकार चूँकि प्रकृति और मानव-प्रयासों के विविध अंगों के अनुशीलन के लिए तत्तद्विषयक विज्ञान बन गए हैं, इतिहास का क्षेत्र सभ्य-काल में किए मानव-प्रयासों का ही रह जाता है।

इतिहास मानव-प्रयास से संघटित घटनाओं का होता है। मानव-संघटित घटनाएँ ही इतिहास के अंग हैं, इतर नहीं। घटनाएँ क्यों घटती हैं? मनुष्य प्रयास क्यों करता है? आदम के प्रति भगवान के दिए अभिशाप की पूर्ति के अर्थ—पेट के लिए। प्रकृति अन्य प्राणियों की भाँति ही मनुष्य पर भी कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं का अनुबन्ध डालती है इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य प्रयास करता है। परन्तु न मनुष्य स्वतंत्र है, न उसकी परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ और न उसके प्रयास ही। वह माता-पिता के कुटुम्ब में उत्पन्न होता है और प्रायः उनकी कृपा से नष्ट होने से बचता है। इस कारण स्वभाव से ही वह यूथाचारी होता है और समुदाय-प्रवृत्ति से आचरण करता है। उसकी यह प्रवृत्ति एक समाज (चाहे इसका रूप कितना भी प्रारंभिक क्यों न हो) का सृजन करता है। यही समाज कालान्तर में प्रबल, अपनी इकाई व्यक्ति मनुष्य—से कहीं प्रबल हो उठता है और उसका सारभूत कृत्रिम रूप मनुष्य के प्रयास की प्रगति तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तक में नैसर्गिक परिवर्तन करने में सक्षम होता है। मानव आवश्यकताएँ इस प्रकार कालान्तर में अपनी कृत्रिम सामाजिक परिस्थितियों के वशीभूत हो उनके द्वारा मात्रा और फलतः गुण में प्रभावित होती हैं। उनके रूप तक में अधिकाधिक परिवर्तन होता जाता है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में

मनुष्य इतिहास का सृजन करता जाता है। "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मूल तर्क है यद्यपि सामाजिक जीवन की यह समष्टि केवल उसी सिद्धान्त की मीमांसा नहीं है। उससे पहले स्वयं हीगेल ने संपूर्ण इतिहासकल्प समाज की निःशेष प्रगति की वैज्ञानिक व्याख्या ढूँढ़ी थी, उन सारे मानव प्रयासों की व्याख्या जो परस्पर स्वतंत्र और पृथक् समझे गए थे। यहाँ तक तो हीगेल की मीमांसा सर्वथा साधु और वैज्ञानिक थी परन्तु अर्तमू के उपासक उस अपूर्व दार्शनिक ने अपनी प्रखर मेधा का श्रम अन्ततः निरर्थक कर दिया। "सर्वदेशीय ब्रह्म" को जगत का आदि कारण और सृष्टि का हेतुक (teleogical) मानने वाले उस विदग्ध दार्शनिक की 'समष्टि'-विषयक दृष्टि 'हेतुक' होकर अन्धी हो गई। आधुनिक द्वन्द्वात्म भौतिकवाद ने हीगेल के मूल से उठकर उसकी तर्कसम्मत पद्धति को अपनाते हुए उस बीच में ही छोड़ी दूषित की हुई मीमांसा को उसके न्याय्य परिणाम तक पहुँचाया। समाज-शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन-क्षेत्र से हेतुकता का निष्कासन इस द्वान्द्वात्मक भौतिकवाद का सफल परिणाम है। और हीगेल के द्वन्द्वात्मक तर्क की वस्तुतः यही 'व्याप्ति', यही शुद्ध 'निगमन' है।

इतिहास में एक वर्ग ने "पूर्वनिश्चित प्रगति" की भी उपासना की है। उसके विचार से मानव-प्रयास "हेतुक" रूप से एक पूर्व निश्चित पद्धति से पूर्वनिश्चित मार्ग पर चलकर पूर्वनिश्चित परिणाम पर पहुँचता है। वास्तव में जैसा कि इटालियन इतिहास-दर्शनकार लाब्रियोला ने सुझाया है मानव-प्रयास का उद्देश्य सहेतुक नहीं और फलतः उससे संभूत इतिहास किसी सहेतुक अमूर्त विकास के विधान का आसरा नहीं करता, उसके कारण प्रादुर्भूत नहीं होता। मनुष्य इतिहास का निर्माण, जैसा ऊपर

कहा जा चुका है, अपनी अनिवार्य और पश्चात् कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में करता है। फिर यह विज्ञान का विषय हो जाता है कि वह इस कारण की व्याख्या करे कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के विविध तरीके किस प्रकार मनुष्य के पारस्परिक सामाजिक आचारों को प्रभावित करते हैं। मानवीय आवश्यकताओं में भूख की अभितृप्ति प्रमुख है और आहार की खोज उसका प्रमुख प्रयास है। आहार को खोजता-खोजता वह उसको उत्पन्न भी करने लगता है। आहारोत्पादन के साधन कुछ तो वह स्वयं ढूँढ़ निकालता है, कुछ प्रकृति उसे प्रदान करती है। परन्तु प्रकृति इसके साथ साथ ही उन आवश्यकताओं का उन्हीं साधनों से नियन्त्रण भी करती ह, जिनसे एकांश में मनुष्य उस पर अपनी विजय स्थापित करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आवश्यकताएँ उत्पादक शक्तियों द्वारा निश्चित और नियंत्रित होती हैं। जब जब इन शक्तियों में गुरु परिवर्तन होते हैं तब तब मनुष्य की सामाजिक स्थिति, रूप और संगठन में भी तत्परिणाम में परिवर्तन होते हैं। प्रायः सारे आदर्शवादी, (आत्मवादी, हेतुक, "आइडियलिस्ट") आर्थिक विकारों (संबंध-रूप-विशेषताओं) को मानव स्वभाव-जन्य मानते हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी उन्हें सामाजिक उत्पादक शक्तियों की देन मानते हैं। प्राकृतिक परिस्थितियाँ एक असंस्कृत समाज अथवा सामाजिक संबंध उपस्थित करती हैं और यह सामाजिक पारस्पर्य उन कृत्रिम परिस्थितियों को जन्म देती है, जिनसे समाज में उत्तरोत्तर परिवर्त्तन होते हैं और जो प्राकृतिक परिस्थितियों से किसी प्रकार गौण नहीं होतीं।

यह आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ मानव-प्रयासों से प्रादुर्भूत समाज "प्रागितिहास"-कालीन मानव समाज है। ऐतिहासिक

(सभ्य) जीवन का आरम्भ वस्तुतः उस सामाजिक परम्परा का आरम्भ है, जिसमें कृत्रिम परिस्थितियों की सत्ता उत्तरोत्तर विकसित होती और जोर पकड़ती जाती है, प्रायः उसी अनुपात में जिसमें मनुष्य प्रकृति की वश्यता से स्वतन्त्र होता और उस पर अपनी प्रभुता स्थापित करता जाता है। विविध समाजों के पेचीदे आन्तरिक सम्बन्ध, कम से कम अपने ऐतिहासिक विकास (सभ्यकाल) के मार्ग आरूढ़ होने पर, नैसर्गिक परिस्थितियों के हरगिज नहीं बनते। वस्तुतः इस पेचीदे सामाजिक आचरण के निर्माण में आवश्यकता पूर्ति और उसके साधनों की एक लम्बी परम्परा कारण है। समाज के इस प्रारम्भिक ऐतिहासिक विकास-स्थिति तक पहुंचने के पूर्व मजूर के कुछ हथियार बन चुके थे, पशुपालन और वार्ता का ज्ञान हो चुका था, खानों से धातु निकालने के कुछ तरीके भी अख्तियार किये जा चुके थे। उत्पादन के ये उपकरण समय-समय पर स्थान-स्थान में प्रचुरता और वेग से बदलते रहे। इनमें उन्नति, अगति अथवा जब-तब ह्रास तक होता रहा, परन्तु यह महत्व की बात है कि मनुष्य इन उन्नति अथवा ह्रासजनित परिवर्तनों के कारण उस बर्बर पाशविक जीवन को न लौट सका जो प्रकृतिप्राणा परिस्थितियों के प्राचुर्य का परिणाम है। लाब्रियोला इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहता है—"अतः इतिहास-विज्ञान का पहला और मुख्य उद्देश्य इसी कृत्रिम आधार का निश्चय और समीक्षा करना है, उसकी व्यष्टि और समष्टि को समझना है, उसके परिवर्तनों की व्याख्या करनी है।"

इस प्रकार आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ मनुष्य प्रयास करता है, इन प्रयासों में मुख्य आहार के निमित्त होते हैं। उत्पादन के उपकरण और उत्पाद्य शक्तियाँ समाज का रूप स्थिर

करती हैं। परिणामतः आर्थिक व्यवहारों का संघटन होता है। इससे उन स्तरों का सम्बन्ध बनता है, जिसमें समाज के उत्पादक वर्ग (उत्पत्ति के स्वामी और श्रमिक) अपना स्थान ग्रहण करते हैं। आर्थिक व्यवहारों से वर्गीय स्वार्थों का प्रादुर्भाव होता है जिनकी रक्षा के अर्थ समाज के कानून बनते हैं। कानून की प्रत्येक प्रणाली किसी न किसी वर्ग के स्वार्थों का साधन और रक्षा करती है। उत्पादित शक्तियों से जिन वर्गों का निर्माण होता है, उनके स्वार्थ न केवल विभिन्न वरन् परस्पर विरोधी होते हैं। यह विरोध कलह उत्पन्न करता है जिससे वर्गों में संघर्ष-बुद्धि और वास्तविक संघर्ष का आरम्भ होता है। इस संघर्ष का परिणाम होता है कबीलों का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना और उनके स्थान पर स्टेट अथवा राज्य का आरोहण; और इस स्टेट का कर्तव्य उस वर्गविशेष के स्वार्थों की रक्षा करना हो जाता है, जिसने उसे खड़ा किया है अथवा जो कालवशात् उसका सूत्रधार है। अन्ततः समाज में उस समान आचार का जन्म होता है, जिससे उसके व्यक्ति साधारणतया सञ्चालित होते हैं। इस प्रकार व्यवहार (कानून), स्टेट और आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्ध एवं परिस्थितियों से निर्मित होते हैं। अर्थ के अभाव में चोरी का भाव न था; अर्थ की रक्षा के लिये चोरी का आचार-विधान हुआ। विवाह-प्रथा के पूर्व व्यभिचार का विचार नहीं उठ सकता था; दासीरूपिणी कामसाधिका पत्नी की (व्यक्तिगत विलास की) रक्षा के लिये व्यभिचार का आचार-विधान हुआ। कोई आचार-पद्धति प्राकृतिक और मानव-सम्बन्ध से विरहित नहीं; वह समाज-सम्बन्ध से उत्पन्न और ऐतिहासिक-आर्थिक कारणों से प्रादुर्भूत है। ये ही आर्थिक सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मन और कल्पना की सारी रचनाओं, कला, विज्ञानादि की रूप-

करती हैं। परिणामतः आर्थिक व्यवहारों का संघटन होता है। इससे उन स्तरों का सम्बन्ध बनता है, जिसमें समाज के उत्पादक वर्ग (उत्पत्ति के स्वामी और श्रमिक) अपना स्थान ग्रहण करते हैं। आर्थिक व्यवहारों से वर्गीय स्वार्थों का प्रादुर्भाव होता है जिनकी रक्षा के अर्थ समाज के कानून बनते हैं। कानून की प्रत्येक प्रणाली किसी न किसी वर्ग के स्वार्थों का साधन और रक्षा करती है। उत्पादित शक्तियों से जिन वर्गों का निर्माण होता है, उनके स्वार्थ न केवल विभिन्न वरन् परस्पर विरोधी होते हैं। यह विरोध कलह उत्पन्न करता है जिससे वर्गों में संघर्ष-बुद्धि और वास्तविक संघर्ष का आरम्भ होता है। इस संघर्ष का परिणाम होता है कबीलों का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना और उनके स्थान पर स्टेट अथवा राज्य का आरोहण; और इस स्टेट का कर्तव्य उस वर्गविशेष के स्वार्थों की रक्षा करना हो जाता है, जिसने उसे खड़ा किया है अथवा जो कालवशात् उसका सूत्रधार है। अन्ततः समाज में उस समान आचार का जन्म होता है, जिससे उसके व्यक्ति साधारणतया सञ्चालित होते हैं। इस प्रकार व्यवहार (कानून), स्टेट और आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्ध एवं परिस्थितियों से निर्मित होते हैं। अर्थ के अभाव में चोरी का भाव न था; अर्थ की रक्षा के लिये चोरी का आचार-विधान हुआ। विवाह-प्रथा के पूर्व व्यभिचार का विचार नहीं उठ सकता था; दासीरूपिणी कामसाधिका पत्नी की (व्यक्तिगत विलास की) रक्षा के लिये व्यभिचार का आचार-विधान हुआ। कोई आचार-पद्धति प्राकृतिक और मानव-सम्बन्ध से विरहित नहीं; वह समाज-सम्बन्ध से उत्पन्न और ऐतिहासिक-आर्थिक कारणों से प्रादुर्भूत है। ये ही आर्थिक सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मन और कल्पना की सारी रचनाओं, कला, विज्ञानादि की रूप-

रेखा सँवारते हैं। सामाजिक परिस्थिति ही मनुष्य में उसकी चेतनता के रूप (कला-सम्बन्धी आदि) जानती है और इस रूप के प्रादुर्भाव के साथ वह चेतनता इतिहास का अङ्ग बन जाती है। इतिहास की कोई घटना नहीं, कोई सचाई नहीं, जो समाज के आर्थिक आधार से न उठी हो, परन्तु कोई ऐतिहासिक यथार्थता भी नहीं जिसके पूर्व, साथ और पश्चात् चेतनता (सजग प्रयास) न रही हो।

घटनाओं का आनुक्रमिक प्रसार इतिहास का एक विशिष्ट अङ्ग है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, इतिहास पूर्व-पर से जुड़ी घटनाओं का एक अनादि प्रवाह है जिससे घटना-विशेष को अलग नहीं किया जा सकता। इतिहास की यह शृङ्खला सजीव है। घटना उससे अलग होते ही जलविरहित मीन की भाँति निर्जीव हो जाती है। उस शृङ्खला को वास्तव में सही-सही एक छोर से ही देखा जा सकता है, ऊपरली छोर से जिससे "जनक" और "जनित" का सम्बन्ध बना रहे, कारण और कार्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार विच्छेद न होने पाये। केवल घटनाओं का एकत्रीकरण उन पुरावस्तुओं के विक्रेता के अज्ञान की भाँति होगा जो स्वयं अपनी वस्तुओं का वास्तविक मूल्य नहीं जानता। घटनाओं के इस प्रकार के सङ्कटन में पितामह का पौत्र और पौत्र का पितामह हो जाना आश्चर्य की बात नहीं। इस कारण कार्य, पिता-पुत्र, के क्रम को सही-सही कायम रखने के लिये इतिहास का आनुक्रमिक वितन्वन आवश्यक हो जाता है। इसी कारण तिथि-क्रम की भी आवश्यकता पड़ती है। तिथि इस क्रम को बनाये रखने के अतिरिक्त घटना को काल से बाँधकर उसकी परिस्थितियों को समझने में भी सहायक होती है। यद्यपि अत्यन्त दूर की घटना के सम्बन्ध में तिथि विशेष सहायक नहीं

सिद्ध होती। अत्यन्त दूर की घटना का काल संख्या में अङ्कित करने पर कुछ असम्भव नहीं कि दुर्ज्ञेय हो जाय। उदाहरणार्थ एक काल्पनिक इतिहास-वाक्य लें—"१३ करोड़ २८ लाख ७० हजार ८९५ वर्ष हुए जब मन्दर नामक राजा शासन करता था।" वस्तुतः इसके अतिरिक्त कि यह राजा अत्यन्त प्राचीन है, इस वाक्य-संख्या-क्रम से कोई अर्थ नहीं सिद्ध होता। मानव-मस्तिष्क उस सुदूर काल के संख्याकाल को धारण करने में सर्वथा असमर्थ है। भारतीय पुराणों में इसी कारण तिथियों का अधिकतर अभाव है। केवल घटना-क्रम को कायम रखने का उन्होंने प्रयत्न किया है। परन्तु इसी कारण वह क्रम उनमें अनेक बार विकृत भी हो गया है। सम सामयिक वंश पूर्व-पश्चात्कालीन हो गये हैं और क्रमिक राजकुल समकालीन। तिथि का एक और भी कार्य है। यह घटना के लिये संकेत का काम भी करती है। जब हम किसी घटना के प्रति संक्षेप में संकेत करना चाहते हैं तो उसे नाम और तिथि प्रदान करते हैं। जैसे सिकन्दर का आक्रमण संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में सिकन्दर ३२६ ई० पू०' से व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु उसी सच्चाई के साथ जैसे जल की बनावट प्रसिद्ध रसायन सूत्र 'ह२ओ' से स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं तिथि की इतनी महत्ता नहीं है क्योंकि वह घटना की व्याख्या नहीं करती, उसकी ओर संकेत मात्र करती है। इसी कारण इ तहासकारों का जो वर्ग इस पर अत्यन्त आस्था रखता है वह वास्तव में इतिहास के मुख्य प्रान्त पर जोर नहीं देता। घटनाओं के साथ व्यक्तियों और स्थलों के नाम भी इतिहासकार संबद्ध रखता है कारण अमुक घटना कहाँ घटी, उसका संघटयिता कौन था इसका जानना कठिन हो जायगा और फलतः इतिहासअस्पष्ट हो जायगा।

सिद्ध होती। अत्यन्त दूर की घटना का काल संख्या में अङ्कित करने पर कुछ असम्भव नहीं कि दुर्ज्ञेय हो जाय। उदाहरणार्थ एक काल्पनिक इतिहास-वाक्य लें—"१३ करोड़ २८ लाख ७० हजार ८९५ वर्ष हुए जब मन्दर नामक राजा शासन करता था।" वस्तुतः इसके अतिरिक्त कि यह राजा अत्यन्त प्राचीन है, इस वाक्य-संख्या-क्रम से कोई अर्थ नहीं सिद्ध होता। मानव-मस्तिष्क उस सुदूर काल के संख्याकाल को धारण करने में सर्वथा असमर्थ है। भारतीय पुराणों में इसी कारण तिथियों का अधिकतर अभाव है। केवल घटना-क्रम को कायम रखने का उन्होंने प्रयत्न किया है। परन्तु इसी कारण वह क्रम उनमें अनेक बार विकृत भी हो गया है। सम सामयिक वंश पूर्व-पश्चात्कालीन हो गये हैं और क्रमिक राजकुल समकालीन। तिथि का एक और भी कार्य है। यह घटना के लिये संकेत का काम भी करती है। जब हम किसी घटना के प्रति संक्षेप में संकेत करना चाहते हैं तो उसे नाम और तिथि प्रदान करते हैं। जैसे सिकन्दर का आक्रमण संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में सिकन्दर, ३२६ ई० पू०' से व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु उसी सच्चाई के साथ जैसे जल की बनावट प्रसिद्ध रसायन सूत्र 'ह२ओ' से स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं तिथि की इतनी महत्ता नहीं है क्योंकि वह घटना की व्याख्या नहीं करती, उसकी ओर संकेत मात्र करती है। इसी कारण इ तहासकारों का जो वर्ग इस पर अत्यन्त आस्था रखता है वह वास्तव में इतिहास के मुख्य प्रान्त पर जोर नहीं देता। घटनाओं के साथ व्यक्तियों और स्थलों के नाम भी इतिहासकार संबद्ध रखता है कारण अमुक घटना कहाँ घटी, उसका संघटयिता कौन था इसका जानना कठिन हो जायगा और फलतः इतिहासअस्पष्ट हो जायगा।

सिद्ध होती। अत्यन्त दूर की घटना का काल संख्या में अङ्कित करने पर कुछ असम्भव नहीं कि दुर्ज्ञेय हो जाय। उदाहरणार्थ एक काल्पनिक इतिहास-वाक्य लें—"१३ करोड़ २८ लाख ७० हजार ८९५ वर्ष हुए जब मन्दर नामक राजा शासन करता था।" वस्तुतः इसके अतिरिक्त कि यह राजा अत्यन्त प्राचीन है, इस वाक्य-संख्या-क्रम से कोई अर्थ नहीं सिद्ध होता। मानव-मस्तिष्क उस सुदूर काल के संख्याकाल को धारण करने में सर्वथा असमर्थ है। भारतीय पुराणों में इसी कारण तिथियों का अधिकतर अभाव है। केवल घटना-क्रम को कायम रखने का उन्होंने प्रयत्न किया है। परन्तु इसी कारण वह क्रम उनमें अनेक बार विकृत भी हो गया है। सम सामयिक वंश पूर्व-पश्चात्कालीन हो गये हैं और क्रमिक राजकुल समकालीन। तिथि का एक और भी कार्य है। यह घटना के लिये संकेत का काम भी करती है। जब हम किसी घटना के प्रति संक्षेप में संकेत करना चाहते हैं तो उसे नाम और तिथि प्रदान करते हैं। जैसे सिकन्दर का आक्रमण संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में सिकन्दर ३२६ ई० पू०' से व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु उसी सच्चाई के साथ जैसे जल की बनावट प्रसिद्ध रसायन सूत्र 'ह२ओ' से स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं तिथि की इतनी महत्ता नहीं है क्योंकि वह घटना की व्याख्या नहीं करती, उसकी ओर संकेत मात्र करती है। इसी कारण इ तहासकारों का जो वर्ग इस पर अत्यन्त आस्था रखता है वह वास्तव में इतिहास के मुख्य प्रान्त पर जोर नहीं देता। घटनाओं के साथ व्यक्तियों और स्थलों के नाम भी इतिहासकार संबद्ध रखता है कारण अमुक घटना कहाँ घटी, उसका संघटयिता कौन था इसका जानना कठिन हो जायगा और फलतः इतिहासअस्पष्ट हो जायगा।

इस प्रकार इतिहास अतीत काल में सभ्य मानव के प्रयास से समुद्भूत घटनाओं का क्रमबद्ध ग्रन्थन है। इतिहास-विज्ञान में प्रयोग (experiments) नहीं हो सकते। जो घटना एक बार घट चुकी वह फिर नहीं घट सकती। उसके विधाता विनष्ट हो चुके। न तो वह समय लौटाया जा सकता है, न वह घटना और न उसके कारण परिणाम, यद्यपि कभी-कभी समान कारणों से समान घटनाओं के घटने का आभास मिल जाता है। इस प्रकार जब हम ऐतिहासिक क्रम से घटनाओं का वर्णन करते हैं तब उन्हें काल-प्रसार में वितरित करते हैं और जब भौगोलिक क्रम से इनका उल्लेख करते हैं तब हम उन्हें स्थानानुसार रखते हैं। इतिहास और भूगोल दोनों कारण और परिणाम के साथ घटनाओं की तिथि और स्थान को व्यवस्था प्रदान करते हैं।

(२)

अब हम इतिहास में व्यक्ति के प्रभाव पर विचार करेंगे। व्यक्ति से यहाँ पर 'हिरो' अथवा 'वीर' से मतलब है जिसके विषय में एक वर्ग के इतिहासकारों का मत है कि वह इतिहास की घटनाओं का संघटयिता है और उसकी धारा अपने सक्रिय शक्ति से बदल सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ लोगों ने इतिहास को वीरकृत्यों का समाहार मात्र मान लिया है। व्यक्ति-विशेष का इतिहास में स्थान अवश्य है परन्तु इतिहास निर्माता के रूप में इतना नहीं, जितना परिवर्तन (जो इतिहास-प्रवाह का कारण है) के एजेन्ट के रूप में इतिहास का अधिकतर अंश परिवर्तन की कहानी है और महापुरुष कुछ अंश में उस परिवर्तन में सक्रिय योग देते हैं। यह परिवर्तन सभ्य समाज में ही अधिक तीव्रता से सम्पन्न होता है। प्रागितिहास काल में परिवर्तन कम होते हैं। तात्कालिक

समाज में रूढ़ियाँ अत्यन्त सशक्त होती हैं, प्रथाओं में परिवर्तन कम होते हैं। नवीनताओं के साहसी प्रवर्तकों को कुचल दिया जाता है इस कारण परिवर्तनहीन दशा में वहाँ इतिहास का निर्माण नहीं हो पाता। इसी कारण कुछ जातियों के इतिहास नहीं हैं, ऐसा कहा जाता है। अर्वाचीन काल में भी अफ्रीका की अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन न हो सकने के कारण उनका इतिहास नहीं है। परन्तु जहाँ इतिहास हैं और परिवर्तन होते हैं वहाँ परिवर्तन को महापुरुषों के प्रयास का फल मान लेना अनुचित और अवैज्ञानिक है। महापुरुष वास्तव में अपने समय की परिस्थितियों का उच्चतम शिखर मात्र है जो अन्य निम्न शिखरों से गुणतः भिन्न नहीं है। इस महत्वपूर्ण विषय पर कुछ विस्तार के साथ विचार करना उपादेय होगा।

उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण में जर्मन इतिहासकारों में इस विषय पर बड़ा विवाद चला था। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला कि इन महापुरुषों की राजनीतिक क्रियाशीलता ही ऐतिहासिक विकास का प्रमुख कारण रही है। इसके उत्तर में दूसरे वर्ग ने उस मत को दोषपूर्ण कहा। महापुरुषों के कार्यों और राजनीतिक इतिहास को उचित महत्व प्रदान करते हुए उन्होंने इतिहास-विज्ञान के लिए निःशेष ऐतिहासिक जीवन पर विचार करना नितान्त अनिवार्य समझा। इस पिछले विचार के प्रवर्तक 'जर्मन जाति का इतिहास'-लेखक कार्ल लाम्प्रेख्त (१८५६–१९१५) था। बिस्मार्क का एक वक्तव्य उद्धृत करते हुए उसने दिखाया है कि उस महापुरुष ने स्वयं स्वीकार किया है कि समर्थ होकर भी वह घड़ी की सुइयाँ आगे करके भी इतिहास का निर्माण नहीं कर सकता। नितान्त प्रतिक्रियावादी और इस्पाती कौल का वह जर्मन चैन्स्लर बिस्मार्क निस्सन्देह

प्रगति के स्वाभाविक प्रवाह के सम्मुख अपनी निस्सहाय और क्षीण दशा का अनुभव करता था। अपने को वह ऐतिहासिक विकास का एजेन्ट मात्र मानता था। विस्मार्क का विश्वास और वक्तव्य घोषित करते हैं कि व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह इतिहास में न तो पहले कभी सर्वशक्तिमान हुए और न आगे कभी हो सकेंगे। लम्प्रेख्त की ही भाँति फ्रेंच इतिहासकार मोनोद और वेल्जियन पाइरेन की भी राय है कि कालविशेष की सामाजिक और आर्थिक स्थिति समुद्र की जलराशि है, महान् व्यक्ति उसमें ऊँची उठती हुई लहरें मात्र हैं इसलिये इतिहासकार के लिए विशेष गवेषण का विषय सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ होनी चाहिये न कि व्यक्तिविशेष के कृत्य।

रूसी इतिहास-दार्शनिक प्लेखानाव के विचार से भी इतिहास-विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय सामाजिक संस्थाओं और आर्थिक परिस्थितियों का अनुशीलन होना चाहिए। इस विचार-परम्परा का आरम्भ वास्तव में उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही हो गया था जब गुइजाट, मिग्नेट, आगस्टिन तायरी, ताकेविल, आदि ने इसके पक्ष में अपनी व्याख्या रखी थी। परन्तु उन्होंने इतिहास में व्यक्ति के चरित की समस्या का निःशेष विवेचन नहीं किया। इन फ्रांसीसी इतिहासकारों का मत वस्तुतः अठारहवीं सदी के विरोधी विचारों की प्रतिक्रिया मात्र था। अठारहवीं सदी के इतिहास-दर्शन में व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा हो गई थी।

सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किस प्रकार इतिहास का निर्माण करती हैं और उनकी अपेक्षा व्यक्ति (चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो) के कार्य कितने नगण्य हैं इसे स्पष्ट करने के लिए प्लेखानाव ने कुछ उदाहरण दिए हैं। उनमें

से कुछ इस प्रकार हैं—१. आस्ट्रियन-उत्तराधिकार-युद्ध में फ्रांसीसी सेनाओं ने आस्ट्रिया को अपनी विजयों से इस प्रकार लाचार कर दिया कि यदि फ्रांस चाहता तो आसानी से बेल्जियम छीन सकता था परन्तु लुई पन्द्रहवें ने कहा कि वह विजेता-नरेश है क्रेता सौदागर नहीं, और आकेन की सन्धि में फ्रांस को कुछ न मिला। इसका कारण कुछ विद्वानों के विचार में एक नारी की शक्ति-लोलुपता थी। मदाम दी पाम्पादूर लुई की प्रेयसी थी जो राजकार्य में काफ़ी दख़ल देती थी और उसकी नकेल अपने हाथ में रखती थी। सो आस्ट्रियन रानी मारिया थेरेसा को प्रसन्न करने के लिए पाम्पादूर ने लुई को तद्वत् आचरण करने को बाध्य किया। फिर सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस असफल हुआ और उसके सेनापतियों को अनेक बार धूल चाटनी पड़ी। रीचलू लूट मार करने लगा था, सुबोई और ब्रोग्ली एक दूसरे की राह में रोड़े अटकाने लगे थे। एक बार तो ब्रोग्ली मुसीबत में पड़ गया था और सुबोई उसकी मदद को नहीं गया जिसमें ब्रोग्ली को मैदान छोड़ भागना पड़ा। यह अकुशल सुबोई उसी पाम्पादूर का प्रसादलब्ध अनुचर था इससे लुई के उससे अप्रसन्न हो जाने पर भी पाम्पादूर ने परिस्थिति सम्हाल ली। इससे कहा जा सकता है कि लुई यदि अपेक्षाकृत कम दुर्बल होता अथवा पाम्पादूर राजकार्यों में दखल न देती तो फ्रांस को क्षति न उठानी पड़ती। फ्रांसीसी इतिहासकारों का कहना है कि फ्रांस को बजाय आस्ट्रिया आदि से युद्ध करने के समुद्रों में अंग्रेजों के विरुद्ध अपना आधार सबल करना था। परन्तु जो वह ऐसा न कर सका उसका कारण पाम्पादूर का विरोध था जो मारिया थेरेसा को प्रसन्न करना चाहती थी और जिसने फ्रांस को युद्ध में झोंक दिया। परन्तु उसका एक लाभ अवश्य हुआ। वह

यह कि फ्रांस के उपनिवेश उसके हाथ से निकल जाने पर उसके आर्थिक विकास को अत्यन्त लाभ हुआ। इस प्रकार नारी की गर्वोन्मत्तता फ्रांस के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई। २ अगस्त १७६१ को आस्ट्रियन और रूसी सेनाओं ने फ्रेडरिक को घेर लिया पर आक्रमक शिथिलकर्मा थे और जेनरल बुतुर्लिन अपनी सेना लिए लौट गया। इससे आस्ट्रियन जेनरल की विजय व्यर्थ हो गई। इसी समय ज़ारीना एलिज़ावेथ की मृत्यु ने पाँसा पलट दिया और फ्रेडरिक पेंच से निकल भागा। यदि बुतुर्लिन सक्रिय होता अथवा उसके स्थान पर रूसी जनरल सुवोराव होता और एलिज़ावेथ मरी न होती तो निस्सन्देह परिणाम और होता।

इन पर विचार करते हुए प्लेखानाव ने उस सबल ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है जो व्यक्ति के प्रभाव को नगण्य कर देता है। पन्द्रहवें लुई के शासन काल में फ्रांस का सैन्य-संगठन दिन पर दिन दुर्बल होता गया। सप्तवर्षीय युद्ध के अवसर पर तो फ्रेंच सेना में सौदागरों, नौकरों और वेश्याओं की अगणित संख्या थी। उसमें युद्ध में काम आनेवाले घोड़ों से तिगुनी उन टट्टुओं की संख्या थी जो सामान ढोते थे। यह सेना वस्तुतः तुरेन और गुस्ताव की सेनाओं से कितनी भिन्न थी, दारा और ज़रक्सीज़ की सेनाओं के कितनी अनुरूप! सन्तरी कार्य के लिए नियुक्त सैनिक पास के गाँवों में नाचते फिरते थे और अफसर की आज्ञा स्वेच्छा से ही मानते थे। सेना की इस अधोगति के कारण थे उन अभिजात कुलों का पतन जो सेना के लिए अफसर प्रदान करते थे, और "प्राचीन-पद्धति" की अधोधः प्रगति। ये कारण सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस को धूल चटा देने के लिए पर्याप्त थे। सुबोई और

पाम्पादूर का योग फ्रांसीसी मुसीबतों को उत्तरोत्तर बढ़ाता गया। वास्तव में पाम्पादूर की अपनी शक्ति कुछ नहीं थी। उसकी शक्ति लूई की शक्ति पर अवलंबित थी। यदि लुई की मनोवृत्ति अन्य होती तो पाम्पादूर की शक्ति कुछ न होती। फिर भी क्या उन आधारभूत सबल परिस्थितियों का निराकरण हो सकता था जो फ्रांस को क्रान्ति की ओर खींचे लिए जा रही थी? रोस्वाख की लड़ाई के बाद पाम्पादूर के पास जनता की ओर से अपमान भरी अनन्त-अनन्त बेनामी चिट्ठियाँ आती रहीं जिससे वह उन्निद्र रोग से पीड़ित हो गई। फिर भी वह जनता के रुख के विरुद्ध सुवोई के स्वार्थों की रक्षा करती गई। क्यों? क्योंकि फ्रांसीसी जनता के पास उसे अथवा राजा को उचित आचरण करने पर मजबूर करने के लिए कोई शक्ति, संस्था न थी। समाज का संगठन जो तात्कालिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की उपज था, कुछ इस प्रकार था कि पाम्पादूर के सारे कार-नामे उसे सह्य हो सकें। माना कुछ हद तक, कभी-कभी काफी, व्यक्ति समाज के भाग्य को प्रभावित करता है परन्तु यह प्रभाव और इसकी मात्रा समसामयिक समाज के संगठन और उसके अन्तर्गत की शक्तियों द्वारा सीमित रहती है। व्यक्ति का प्रभाव समाज के विकास में वहीं, उसी काल और उसी सीमा तक परिमित रहता है जहाँ, जिस काल तक और जिस सीमा तक समाज उसे अङ्गीकार करता है।

कहा जा सकता है कि व्यक्ति का प्रभाव उसकी अपनी योग्यता से परिमित होता है सही। परन्तु यह भी निश्चय है कि व्यक्ति अपना प्रभाव तभी व्यक्त कर सकता है जब वह समाज में एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। क्या कारण है कि तत्कालीन फ्रांस के भाग्य एक ऐसे राजा के हाथ में थे

जो नितान्त अयोग्य और अक्रिय था। क्योंकि समाज का संगठन उसे अङ्गीकार करता था। इस प्रकार संगठन का रूप ही वस्तुतः काल विशेष में मेधावी अथवा मूर्ख व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव के परिणाम को निश्चित करता है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के कारण सामाजिक आर्थिक थे; मिराबो, मारात् और राब्स्पियर नहीं। और न अठारहवीं सदी के एन्साइक्लोपीडिस्ट दान्तो, होल्बाख़ और हेल्वेतियस। और नहीं वोल्तेयर अथवा रूसो। इन्होंने उस क्रान्ति को बढ़ाया ज़रूर, परन्तु वे वहाँ संयोग से ही थे। यदि वहाँ वे न होते तो उनके स्थान पर और होते, उन्हीं के रूपगुण के। सम्भव है उनके स्थानापन्न व्यक्ति उनसे लगन, क्रियाशीलता अथवा योग्यता में कम होते, सम्भव है अधिक होते, पर होते जरूर। कारण कि रूसो राब्स्पियर आदि को उन परिस्थितियों ने ही बनाया था जो औरों को भी बना सकती थीं, औरों को भी बनाया—नेपोलियन को, दूसरी क्रान्ति के प्रवर्तकों को; नेपोलियन तृतीय को, १८७० के मजदूर-स्टेट के निर्माताओं को और पहले क्रान्तिकालिक साधारण सेनापतियों को, जो कभी अभिनेता, कम्पोज़िटर, नाई, रंगसाज़, वकील और खोंचेवाले थे। यह सोचना नितान्त दोषपूर्ण है कि यदि राब्स्पियर संयोग से मर गया होता अथवा नेपोलियन गोली का शिकार हो गया होता तो फ्रांस का इतिहास बदल जाता। राब्स्पियर का दल निश्चय नष्ट हो जाता, क्योंकि उसके सिद्धान्तों में क्रान्ति के परवर्ती जीवन को संगठित करने के लिए कोई सुझाव न था और उसके दल के कार्य नित्य प्रति असह्य होते जा रहे थे। नेपोलियन यदि इटली में गोली का शिकार हो गया होता तो दूसरे जेनरल उसका स्थान ले लेते, यद्यपि संभव है उनकी विजयों की संख्या

या मात्रा इतनी न होती जितनी नेपोलियन की थी; परन्तु निःसन्देह फ्रेंच प्रजातन्त्र निरन्तर विजयी होता जाता। फ्रांस के पास उस समय संसार के सबसे बाँके सैनिक थे और सबसे बाँके अफ़सर। क्यों ? क्यों अभी हाल की लुई पन्द्रहवें की सैनिक वस्तु-स्थिति सहसा बदल गई थी ? क्योंकि अभिजातवर्गीय स्वार्थों की परम्परा अब टूट गई थी और जनता निर्बाध रूप से सेना में भरती होकर उसकी शक्ति बदल सकती थी। जनता का अजस्र स्रोत अब खुल कर बह चला था।

स्वयं नेपोलियन वहाँ इसीलिए था कि सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे माँगा। वह वहाँ इसलिये आ धमका कि वह वहाँ था। वह यदि वहाँ न होता तो और कोई होता। प्रजातन्त्र मृत्यून्मुख हो चुका था, डिक्टेटरी नष्टप्राय थी। अबी सेये ने जैसा कहा है—ज़रूरत 'तेज़ तलवार' की थी, जिसे संयोग से नेपोलियन ने प्रस्तुत कर दी। वास्तव में उस पद के लिये नेपोलियन का नाम बहुत पीछे लिया गया। पहले जूबर्ट का ध्यान लोगों को आया, पर नोवी की लड़ाई में उसके मर जाने पर मोरो, मैक्डोनाल्ड, बर्नादोत्ती की पुकार हुई। यदि नेपोलियन भी जूबर्ट की ही भाँति मर गया होता तो उसका कोई नाम तक न लेता। और यदि उसका वह अन्त भी न होता जो हुआ तब भी वह उसकी स्वेच्छाचारिता से उस क्रान्ति का सृजन होता जो 'टुलरीज़' के महलों को बैस्टिल के दुर्ग की भाँति पत्थरों का ढेर बना देती। क्या कुछ ही पहले मारात् ने नहीं कहा था कि हमारे विजयी जेनरल ही हमारी स्वतन्त्रता को नाश कर हमारी बेड़ियाँ सिद्ध होंगे ? तब नेपोलियन कहाँ था ? शायद सेना में एक अगण्य अफ़सर। क्या मारात् का यह उद्गार जनता के एक नये स्तर के विचारों का विस्फोट न था ? किसी

प्रकार भी फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का परिणाम व्यक्तियों के बीच में आ जाने के कारण अन्यथा न होता। अपने मानसिक गुणों और आचरणों से प्रभावशाली व्यक्ति घटनाओं के एकाध अवयव और उनके परिणाम के रङ्ग कुछ गहरे कर दें यह सम्भव है पर वे इतिहास का स्वाभाविक प्रवाह बदल दें, यह सम्भव नहीं। हमें इस बात को न भूलना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति जो सामाजिक शक्ति हो जाता है, वस्तुतः स्वयं सामाजिक सम्बन्धों का परिणाम है। नेपोलियन महान् था, परन्तु जनशक्तियाँ जो उसके कृत्यों का समर्थन कर रही थीं, जिनके बल पर—लुई के बल पर मादाम पम्पादूर के बल की भाँति—उसकी शक्ति निर्भर थी, वे महत्तर थीं। सम्भव है, रफ़ील और दा विंसी न होते तो इटली के नए जागरण के भीति-चित्रों अथवा मूर्तियों का सौन्दर्य इतना न निखर पाता जितना उनके द्वारा निखरा, पर उनके अभाव में इन कलाओं का अभाव ही रहता, यह मानना असम्भव होगा। अनन्त छोटे-बड़े कलाकार रफ़ील और दा विंसी के अतिरिक्त इटालियन चित्रों और भास्कर्य को सँवार रहे थे और निश्चय ही मात्रा के सङ्कट (Quantity) से गुणपरक परिवर्तन होता जिससे उस नवजागरण की शक्ति असिद्ध न हो पाती। प्रभावशाली से प्रभावशाली व्यक्ति जनविचार और जन-प्रयास को उसके स्वाभाविक बहाव की ओर ढकेलता मात्र है, उसके विरुद्ध खड़ा होकर उसके प्रवाह को लौटा नहीं सकता, चाहे वह बिस्मार्क हो, चाहे हिटलर, चाहे गाँधी। गाँधी ने उस महास्रोत को जो १८५७ अथवा उससे भी पहले, फूट पड़ा था केवल बढ़ाया, केवल उसी ओर जिधर वह स्वयं प्रवाहित हो रहा था। यदि वे उसके विरुद्ध खड़े होते तो निश्चय विपन्न हो जाते जैसे अनेक और उनसे कहीं बढ़कर, मेधावी 'लिबरल' विपन्न हो

ाये। जनघोष में उन्होंने भी अपना निर्घोष मिलाया यद्यपि उनका घोष सबसे ऊँचा था। इस सिद्धान्त की सचाई गाँधी के ही जीवन से सिद्ध हो जाती है। जनता ने खादी नहीं पहनना चाहा और गाँधी के लाख प्रयत्न करने पर चर्खा के निरन्तर स्तोत्र गाने पर भी उसने खादी न पहनी। यह उदाहरण इस बात को निश्चित कर देता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही इतिहास का निर्माण करती हैं व्यक्तिविशेष नहीं। इतिहास का स्रोत बहता जायगा और क्लियोपेट्रा की नाक चाहे उसके सौन्दर्य के अनुपात से कुछ छोटी भी हो जाय तो उस प्रवाह में विघ्न नहीं पड़ सकता, क्योंकि सीज़र और ऐन्तनी को उत्पन्न करनेवाले कारण अन्यत्र हैं, क्लियोपेट्रा के मादक सौन्दर्य में नहीं।

३

यहाँ पर इतिहास के दृष्टिकोणों पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। साधारणतया इतिहास के, वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दो दृष्टिकोण हैं। जब इतिहासकार प्रस्तुत सामग्री को पूर्व और पर के क्रम में रख घटनाओं और उनकी शृङ्खला के कारण और उनके परिणाम को सामने रखते हुए उद्‌घाटन करता है तब वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करता है। यह इतिहास का आधुनिक दृष्टिकोण है। इस परम्परा में इतिहासकार स्वयं घटनाओं के बीच में नहीं आ जाता, उनको वह अपनी सुविधा अथवा रुचि से नहीं रखता। उनके प्रति पूर्वाग्रह (Prejudice) के वशीभूत हो उनके रूप बदलने की वह चेष्टा नहीं करता। घटनाओं को वह शुद्ध बुद्धि से यथातथ्य रखता है। यदि वह उनके सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है तो वह उसकी अन्त्य आलोचना होती है जिसे प्रसङ्ग के बाद वह करता है। घटनाओं अथवा उनके सङ्घटयिताओं के प्रति उसे क्रोध या अप्रसन्नता नहीं

होती। मनुष्य होने के नाते वह स्वयं उनके अभाव से विरहित तो नहीं रह सकता परन्तु इतिहास के प्रणयन में कम से कम वह अपनीयता का उपयोग नहीं करता, अपनी धारणाओं को पृथक रखता है। इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, परन्तु इसके आधार और परिणाम के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त रखता है। उस दृष्टिकोण के अनुसार, जैसा आरम्भ में कहा जा चुका है, इतिहास का विकास समाज के द्वन्द्वात्मिका परिस्थितियों के कारण होता है। प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ मनुष्य प्रयास करता है। उस प्रयास के सिलसिले में वह उत्पादन का कार्य सम्पन्न करने के लिए अपने हथियार प्रस्तुत करता है, जिसकी सीमाएँ प्रकृति निर्धारित करती है यद्यपि मनुष्य अपने इन्हीं हथियारों के बल पर प्रकृति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। उत्पादन के बाहुल्य और वितरण से समाज के स्तर बनते हैं, जिनमें पारस्परिक सङ्घर्ष होता है। समाज के वर्ग कबीलों को हटाकर स्टेट की स्थापना करते और अपने स्वार्थ में कानून-विधान बनाते हैं। इसी सङ्घर्ष से इतिहास का निर्माण होता है। यह तो हुआ आधार का सिद्धान्त। परिणाम के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक से किञ्चित् भिन्न है। शुद्ध वैज्ञानिक इतिहास जहाँ केवल घटनाओं के तारतम्य को समझाकर उनकी अन्तिम व्याख्या कर उनसे पृथक् हो जाता है वहाँ मार्क्सीय इतिहासकार ऐतिहासिक निगमन और निष्कर्ष को काम की वस्तु मानता है। समाज की व्यवथा आर्थिक कारणों से बदल कर मनुष्य के स्वभाव में भी परिवर्तन करती है। अब तक का समाज मनुष्य ने अपने सचेत प्रयास से बनाया है जो अमान्य अवश्य है इससे आगे वह उसे बदल डालने का प्रयत्न करेगा।

उस प्रयत्न को सफल करने में इतिहास अपने इतिवृत्तक उदाहरणों से सहायता करता है। मार्क्सवादी 'कला कला के लिए' नहीं मानता। उसे मनुष्य के लिए मानता है। इससे वह इतिहास को भी कुछ हदतक उद्देश्यपरक मानता है परंतु किसी मंजिल पर वह इस कारण इतिहास के स्तरों को उटकारता नहीं। इतिहास का प्रणयन वह भी नितान्त वैज्ञानिक ढंग से करता है।

उद्देश्यपरक इतिहास सर्वथा मार्क्सीय अथवा उपादेय ही नहीं होता। शुद्ध वैज्ञानिक रूप में इतिहास अन्ताराष्ट्रीय होता है। राष्ट्रीय इतिहास अवैज्ञानिक और अशुद्ध है। जिस प्रकार राष्ट्रीय औषधि, राष्ट्रीय रसायन, राष्ट्रीय विज्ञान नहीं हो सकते, वैसेही राष्ट्रीय इतिहास भी नहीं हो सकता। जाति की अखण्डता जितनी असत्य है इतिहास की राष्ट्रीयता भी उतनी ही अयथार्थ है। इतिहास राष्ट्र की संकुचित सीमाओं को सहज ही पार कर जाता है। जहाँ पर इतिहासकार राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इतिहास का प्रणयन करता है वहाँ वह उसकी घटनाओं और व्यक्तियों से राग द्वेष करने लगता है। उसके सामने वास्तव में इतिहास नहीं राष्ट्र है और राष्ट्रीय उपादेयता को दृष्टि में रख वह इतिहास की घटनाओं को रूप-रंग देता रहता है। उसके लिए इतिहास एक राजनीतिक उद्देश्य का पूरक हो जाता है जैसा कि वह नेपोलियन, नीलो, विस्मार्क, हिटलर के हाथ में हो गया था। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन व्यक्तियों ने इतिहास की रचना की वरन् यह कि राष्ट्र को दृष्टि में रख जो उन्होंने इतिहास के आँकड़ों से राष्ट्रीयता को जगाया तो वह भयावह हो गई और उसने कालान्तर में अन्य राष्ट्रों को उखाड़ फेकने का प्रयत्न किया। इतिहास के उदाहरणों का उन्होंने दुष्प्रयोग किया। मार्क्सवाद के क्षेत्र और दृष्टिकोण अन्ताराष्ट्रीय हैं इससे उसकी ऐतिहासिक व्यवस्था में इति-

हास की वैज्ञानिकता विच्छृंखल अथवा दूषित नहीं होने पाती, परन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखे जानेवाले इतिहास में अपने पराए की मनोवृत्ति का उठना स्वाभाविक है। इस प्रकार के इतिहास में अपनी पराजय की कथा कम अथवा नहीं मिलती प्रायः विजयों की ही होती है, या पराजय को विजय से भी स्पृहणीय बना दिया जाता है। भारतीय पुराण प्रायः इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं इसी कारण उनमें सिकन्दर के आक्रमण और विजय तथा कुषाण-राजवंश का कोई हवाला नहीं मिलता। बाख्त्री के ग्रीक राजकुलों ने भारत में अनेक केन्द्रों से लगभग दो सदियों तक राज किया परन्तु उसका भी कोई हवाला नहीं मिलता। देमेत्रियस ने पाटलिपुत्र तक जीत लिया था, इस नाते ग्रीक इतिहासकार उसे 'भारत का राजा' (Rex Indorum) कहते हैं, परन्तु सिवा गार्गी-संहिता (ज्योतिष-ग्रंथ) के युगपुराण के उसका अन्य पुराणों में हवाला नहीं मिलता। शक-पल्हवों के पाँच-सात कुलों ने भारत के अनेक बाह्य और आभ्यन्तर केन्द्रों से राज किया था, परन्तु उनका हवाला भी नहीं के बराबर है और यदि इनके सिक्के, अभिलेख आदि उपलब्ध न होते तो हम उन्हें जान भी न सकते। प्रथम शती ई० पूर्व के लगभग शक अम्लाट के आक्रमण के पश्चात् मगध और उसकी राजधानी की जो दयनीय दशा हो गई थी उसका वर्णन भी किसी पुराण ने नहीं किया है। केवल गार्गी-संहिता में उसका इस प्रकार उल्लेख है—"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायेगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जायेगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषि कार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्र में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में

चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुण्ड के झुण्ड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहाँ तहाँ देखकर वे आश्चर्य! आश्चर्य! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी।" यह चूँकि विदेशी द्वारा पराजित राष्ट्र की दशा थी, इसका उल्लेख साधारणतया पुराणों में नहीं किया जा सका। गार्गी-संहिता के युगपुराण को छोड़ शेष सारे पुराण इस प्रसंग पर मूक हैं।

इसका अर्थ सर्वथा यह भी नहीं कि राष्ट्रीय इतिहास किसी स्थल पर वैज्ञानिक नहीं होता। अनेक स्थलों पर उसमें सत्य की स्तुति निर्भयता से हो जाती है। विष्णु-पुराण गुप्तकालीन है। समुद्रगुप्त की असुरविजयी प्रणाली से संतप्त होकर पुराणकार ने राम का प्रसंग खड़ा कर रहा है—"मैंने यह इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। भविष्य में इन राजाओं का अस्तित्व संदिग्ध होकर वैसे ही विवादास्पद हो जायगा जैसे आज राम और अन्य महान् व्यक्तियों का हो गया है। सम्राट काल के प्रवाह में पड़ कर भूली हुई ख्यातें बन गए—वे सम्राट्, जिन्होंने सोचा था और जो सोचते हैं कि 'भारत मेरा है।' साम्राज्यों को धिक्कार है। सम्राट राघव के साम्राज्य को धिक्कार है!" इस प्रकार के वैज्ञानिक आलोचन के जहाँ तहाँ पुराणों में भी दर्शन हो जाते हैं। राष्ट्रीय इतिहास हर्ष के पंचवर्षीय दान को प्रश्रय देगा, उसकी प्रशंसा करेगा। उस दान की जो जनता के श्रम का परिणाम था, जिसे जनता नंगे भूखे रह कर, राह में सुरक्षा के अभाव में लुट लुट कर प्रस्तुत करती थी और जिसे वह अनुत्तरदायी हर्ष स्वार्थ और प्रदर्शन में लुटा देता था! राष्ट्रीय इतिहास की बुनियाद का ही यह फल है कि अतिस्त्रीगामी विलासी पृथ्वीराज युद्ध से भागता हुआ सरस्वती के तट पर मारा जाकर भी अमर

है और नरपुंगव जयचन्द्र अपनी मुट्ठी भर सेना के साथ अस्सी वर्ष की बुढ़ौती में चन्द्रावर के मैदान में शहीद होकर भी कायरता और देशद्रोहिता का प्रतीक बना हुआ है। इतिहास की राष्ट्रीयता पर वह विकट व्यंग है, अमोघ और अमिट।

यह दोष कुछ भारतीय ही नहीं है। पूर्वाग्रह से विकृत अनेक इतिहासों का निर्माण हुआ है। भारतीय इतिहास विज्ञान को अपनी खोजों से परिपूर्ण करके भी स्वयं 'स्मिथ' अलीक न रह सके और अपने इतिहासों में उन्होंने विजयी जाति के शासकों की मनोवृत्ति दर्शाई। हालवेल के गप्पों की परंपरा प्राचीन है। ईरानी दरबार का पाँचवी शती ई. पू. का ग्रीक राजदूत हेरोदोतस भारत से आए "दो पूँछों वाले सिंह" का उल्लेख करता है। उसके इतिहास की सत्यता अनृत के व्यंग पर पहुँच जाती है जब वह कहता है कि हिमालय में जो स्वर्ण-सिकता निकलती है और जिसे भारतीय गाड़ियों पर लाद-लाद कर ले जाते हैं, उसे भूमि खोद-खोदकर दीमकें निकालती हैं जो लोमड़ी की ऊँचाई की होती हैं! रोम का इतिहास लिखनेवाला लिवी स्वयं पक्षपात से नहीं बच सका। उसकी अवैज्ञानिकता का मुख्य कारण उसकी राष्ट्रीयता है। लिवी मेधावी है, देशप्रेमी है, साहित्यिक है, उसकी लेखनी में जादू है। इतिहास को भी वह साहित्य की भांति लिखता है और उसमें रस का संचार करता है परन्तु इतिहास-विज्ञान की दृष्टि से वह असफल है। लिवी इतिहासकार पीछे है, रोमन पहले। इस कारण रोम की अनेक कुरीतियों, अनेक दुर्बलताओं, को वह क्षमा कर देता है। जो रोमन पराजय इतिहास सिद्ध हैं उनको भी वह विजयों में बदल देता है। प्रत्येक रोमन कृत्य का वह अनुमोदन करता है यदि वह रोम के अर्थसाधन में संपन्न हुआ है, चाहे वह अत्यन्त अनुचित ही क्यों न रहा हो। जब

जब रोम का रोमेतर राष्ट्रों से संघर्ष हुआ है उसके वर्णन में वह रोम पक्षवर्ती हो गया है यद्यपि रोमन-रोमन के सम्बन्ध में उसका पक्ष स्तुत्य और न्याय्य है। लवी आलोचक की दृष्टि से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं परन्तु वज्ञानिक तरीके को, राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने के कारण वह समझ ही नहीं पाता। 'अहं' (Subjective element) और रोम की भावना उसमें अधिक है जो उसके दृष्टिकोण को विकृत कर देती है। उसमें धार्मिक भावना भी है जो स्थान स्थान पर प्रकट होकर उसके विचारों को दूषित कर देती है। परन्तु जो उसे अत्यन्त अवैज्ञानिक बना देती है वह है उसके भीतर राष्ट्र-दृष्टि की पैठ।

इतिहास की भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं। उसके प्रति इतिहासकार का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होना उचित है। इतिहास की सामग्री केवल पुस्तकीय अध्ययन की वस्तु नहीं। उसकी उपादेयता भी है और राष्ट्र तथा राष्ट्रीयों के चरित्र-निर्माण में उसका प्रयोग किया जा सकता है। देश और राष्ट्र-प्रेम बुरा नहीं परन्तु उसके कार्य के लिए इतिहास की श्रृंखला को दूषित करना बुरा है। देश के बच्चों के चरित्र गठन के लिए इतिहास के उदात्त-व्यक्तियों के चरित चुने जा सकते हैं। उनका चरित गाया जा सकता है, रामायण-महाभारत की भांति। परन्तु उस वीर गाथा को इतिहास नहीं कहा जा सकता। घटना श्रृंखला की कड़ी है और हटाई नहीं जा सकती। फिर उदात्त चरित के लिए जब हम इतिहास के एक प्रसंग को अलग कर चरित निर्माण के अर्थ फिर से संगठित करते हैं तब उसके एक स्थल पर अधिक जोर देते हैं, दूसरे को दबा देते हैं। इस प्रकार का इतिहास इतिहास नहीं, राष्ट्र की सुविधाओं के लिए प्रस्तुत राजनीतिक संकलन है। कुछ अंशों में वह स्तुत्य भी है। परन्तु उसे इतिहास की संज्ञा प्रदान

करना अनुचित और दोषपूर्ण दोनों है। इतिहास इतिवृत्त है, अतीत में घटी हुई घटना, जिसका इतिहासकार ऋषिवत् दर्शन कर पुनरुद्धार करता है और जिसे वह शुद्ध वैज्ञानिक रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। ऐसा इतिहासकार स्तुत्य है, उसका इतिहास स्तुत्य है।

गीता-दर्शन अथवा संघर्ष

'धिग्बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।'
बलाबले विनिश्चित्य तप एव परं बलम् ॥ (महाभारत)
'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥'

श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन अब तक एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में हुआ है। यह दृष्टिकोण यथार्थतः दोषपूर्ण है। प्रत्येक कृति, चाहे वह साहित्यिक अथवा घटनापरक हो, साधारणतया ऐतिहासिक है, अतः उसकी ऐतिहासिक व्याख्या की जा सकती है। इतिहास के दृष्टिकोण से गीता एक रेखा के छोर पर खड़ी है जिसमें ब्राह्मण-क्षत्रियों के दो वर्ग सचेत सङ्घर्ष करते हैं। इस सिद्धान्त के आधार निम्नलिखित हैं:—

१—अनुवृत्त

संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद से भगवद्गीता तक के काल-प्रसार में आर्थिक लाभ और राजनीतिक शक्ति के अर्थ ब्राह्मण-क्षत्रियों का पारस्परिक द्वन्द्व स्पष्ट है। ऋग्वेद में दस राजाओं के प्रसिद्ध 'दाशराज्य' युद्ध का जो विषद वर्णन है वह शक्ति और

सम्पत्ति के केन्द्र पुरोहित पद के लिए वशिष्ठ और विश्वामित्र के सङ्घर्ष का चरम परिणाम है। पुराणों, रामायण और महाभारत में परशुराम द्वारा क्षत्रियों के अनेक बार संहार की जो कथा कही गई है वह स्वयं इस दिशा में एक गम्भीर संकेत है। फिर उसी परशुराम का क्षत्रियों को शस्त्र-ज्ञान न देने का व्रत भी अर्थ रखता है। कर्ण ने किस प्रकार प्रवञ्चन से उस विद्या को ग्रहण किया और किस प्रकार परशुराम के शाप से रण के बीच उसका निधन हुआ, क्यों उस ब्राह्मण का युद्ध राम-भीष्मादि, केवल क्षत्रियों से ही हुआ, फिर उसके असाधारण युद्ध-दुर्मद होते हुए भी 'परशुरामायण' अथवा 'परशु-महाभारत' न लिखे गये, इसके विरुद्ध 'रामायण' और 'महाभारत' नामक इतिहास केवल क्षत्रिय नरपुङ्गवों की स्तुति में ही रचे गये इन सबके कारण, और अर्थ हैं। यह भूलने की बात नहीं है कि भीष्म के पिता शान्तनु का अग्रज देवापि जब त्वचा-दोष के कारण राज्याधिकार से वञ्चित कर दिया गया तब उसने झट पुरोहित का ब्राह्मण-पद स्वायत्त कर लिया और भाई के अश्वमेध में ऋत्विज बना। परीक्षित का बेटा जनमेजय हुआ। उसका पुरोहित ब्राह्मण-उपनिषदों का प्रख्यात ऋषि तुर-कावषेय हुआ। जनमेजय के राजकुल और तुर-कावषेय के पुरोहित-कुल का परम्परागत पारस्परिक विद्वेष इतिहास-प्रसिद्ध है। जनमेजय के अश्वमेध में उसके पुरोहित ऋत्विज और ब्राह्मण-वर्ग-नेता तुरकावषेय ने साजिश से जान-बूझकर स्वयं ऋत्विज होते हुए भी जिस प्रकार उस यज्ञ को अपवित्र और उसका विध्वंस किया वह व्यक्तिगत क्रोध का फल न था, यह ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्याख्या से स्पष्ट है। जनमेजय के भाइयों ने इस यज्ञ-विध्वंस के फलस्वरूप जो ६०,००० ब्राह्मणों का वध कर शेष को देश से निकाल बाहर किया वह इस पारस्प-

रिक विद्वेष का ही चरम परिणाम था। महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक ब्राह्मण द्वारा वर्ग रूप में क्षत्रिय बल-प्रताप को चुनौती देता है। रक्षा-बन्धन के अवसर पर ब्राह्मण द्वारा यजमान के प्रति कहा गया श्लोक "येन बद्धो बली राजा···" एक अभिसन्धि उपस्थित करता है जिसमें वामन-पुरोहित की भाँति बलि-यजमान को प्रवञ्चित करने का व्रत घोषित है।

उत्तर-वैदिक काल के आरम्भ अथवा वैदिक तथा उपनिषत् काल की सन्धि पर जानपद राज्यों का उदय हुआ। अब वैदिक राजा केवल दरिद्र जनराजा न होकर समृद्ध जनपद राज्यों के स्वामी थे। ब्राह्मण गुरु-पुरोहितों ने उन्हें अविजित को जीतने के लिए उत्साहित किया परन्तु विजयों की अपहृत विभूति को सर्व-जित-यज्ञ में ब्राह्मणों की दक्षिणा की वस्तु ठहराई। कुछ काल तक तो ब्राह्मणों की कूटनीति चल गयी परन्तु शीघ्र राजन्य-नृपतियों ने उनकी चाल भाँप ली। जिन विभूतियों को उन्होंने जान पर खेल कर दिग्विजयों में दूसरों के खून में रथ चला कर उपार्जित किया था उनको परोपजीवी ब्राह्मणों को वे क्यों दे दें? रघु विश्व जीत कर भी पुरोहितों के वाग्जाल में फँस सर्वस्व खोकर मिट्टी के पात्र से अर्घ्य-दान क्यों करे यह स्वयं रघु तो न समझ सका पर उसके वंशजों ने समझा। उधर ब्राह्मणों ने एक और प्रबन्ध बाँधना शुरू किया था। स्वयं तो वे मन्त्रकर्ता थे, अपनी सूझ के रास्ते औरों को चलाने की क्षमता रखते थे परन्तु धीरे-धीरे जो उनके वर्ग की मेधा क्षीण होती जा रही थी उसके लिये—अद्यावधि अनागत परन्तु उत्तर-क्रमिक कुलांकुरों के लिये—कुछ करना था। पुरोहिताई के लाभ अनन्त थे और उनको कुलागत करने के लिये उन्होंने अनेक प्रयत्न किये जिनमें सबसे महत्वपूर्ण यज्ञों की योजना थी। सैकड़ों वर्ष तक चलने

वाले सूत्रों की उन्होंने नींव डाली जिनमें राजकुलों और पुरोहितों की अनेक पीढ़ियाँ आसानी से लगी रह सकती थीं। प्राचीन काल के आर्थिक संघर्ष के दाँव-पेचों की यह चाल साधारण महत्व की न थी। यज्ञों की शैली असाधारण कर उसमें अनेक गुत्थियाँ डाल उन्होंने उसे अत्यन्त गोपनीय और रहस्यमय कर डाला। अनुष्ठान की अनन्त भेद भरी क्रिया-प्रक्रियाओं का विधान कर उन्होंने उस पर वर्ग-विशेष का स्वत्व कर दिया। उस विधान की शाखा-प्रशाखाओं को उन्होंने एक विशिष्ट प्रकार के ग्रन्थों में आवृत्त किया और उनका नाम उस वर्ग के नाम पर ही 'ब्राह्मण' रखा जिनकी कुंजी केवल उनके कुलों में थी। यज्ञ का टेकनीक अब रहस्यमय, जन-साधारण से अलक्षित वर्ग-विशेष का हो गया। अब विश्वामित्र अथवा देवापि का ऋत्विज होना सम्भव न था। परन्तु क्षत्रिय कम समर्थ न थे। समृद्धि भरा उनका जीवन था, समय का अभाव न था, पेट के लिए उन्हें इधर-उधर झाँकने की जरूरत न थी। उन्होंने भी अपने 'ब्राह्मण' बनाने की ठानी। दर्शन, भरे पेट का परिणाम है, चिन्तन बेकारी और समृद्धि का मन बहलाव। राजन्यों ने दर्शन की नींव डाली "उपनिषदों" की रचना की जिनके मूल तत्त्व और भेद उन्होंने अपने पास रखे, जिनके मन्त्र उन्होंने आरण्यकों के एकान्त में सन्निकट बैठे नवदीक्षितों के कान में कहे। समर्थ राजन्य ने इस प्रकार अपने साधन-हीन दरिद्र प्रतिस्पर्धी के ऊपर दार्शनिक विजय पायी।

यज्ञ-प्रक्रियाओं और उनसे प्रजनित अर्थ-हानि के प्रति राजन्यों ने जो विद्रोह किया उसके नेता चार क्षत्रिय ऋषि हुए जो उपनिषद्-विद्या के प्रख्यात गुरु माने जाते हैं—अश्वपति कैकेय (पंजाब), प्रवहण जैबलि (पंचाल), अजातशत्रु (काशी)

जनक (विदेह) [illegible] स्पष्ट है कि क्यों उपनिषत्काल के ब्राह्मण उपनिषद्-ज्ञान से अपनी अनभिज्ञता घोषित करते हैं। जब अजातशत्रु दृप्त बालाकि से प्रश्न करता है तो उद्भट मेधावी होता हुआ भी 'घमंडी' बालाकि बगलें झाँकने लगता है। उसने तो केवल यज्ञों के पति, विशाल पटवाले, अनंत आमिष भोजी, अमित सोमासवपायी और अप्सराओं में वृषभ की भांति वर्षण करने वाले अतिमानव इन्द्र और उसके अनंत शरीरी विश्वेदेवा का साक्षात् किया था, अमूर्त "ब्रह्म" अज्ञेय "आत्मा" क्या बला है यह उसकी समझ में न आया। कहाँ तो वह शरीरांत में स्वर्ग में अप्सराओं के रोमांचक स्पर्श, सुस्वादु मांस, प्रमुख पायस के आहार और सोम के आपान के स्वप्न देखता था और कहाँ जन्म-मरण से रहित फिर भी आवागमन के केंद्र निरीह आत्मा की बात सुनकर वह चित्त हो गया। "ब्रह्म" तक को अन्न का पर्याय बनाकर "ब्रह्मचर्य" को "अन्न-भोजन" का प्रतीक जिसने माना था उसके सामने न खाने, न खिलाने वाले ब्रह्म और आत्मा के रूप अबूझ पहेली बनकर आये। निस्संदेह उनके प्रतिद्वन्द्वी विजेता समृद्ध राजन्य के सामने पेट का प्रश्न न था इससे उसका ब्रह्म भी अनाहारी था। ब्राह्मण इस भार से बिलबिला उठा। जनक ने याज्ञवल्क्य को, अजातशत्रु ने दृप्त बालाकि को, और अश्वपति कैकेय ने उद्दालक-आरुणि को अपना शिष्य बनाया, तीनों ब्राह्मण अपने-अपने क्षेत्र में यद्यपि अद्वितीय थे। अश्वपति ने तो ब्राह्मणों की यहाँ तक विडंबना की कि जब आरुणि और श्वेतकेतु—पिता-पुत्र—उसके पास इस नये ज्ञान के लिए पहुँचे तो उसने उनसे कहा "समित्पाणि भव" जो कह कर ब्राह्मण आचार्य नव ब्रह्मचारी को गुरू कुल में दीक्षित करते थे। यह क्षत्रिय विद्रोह बढ़ता गया और अनेक मेधावी उसमें योग देते

गये। पार्श्व, महावीर, बुद्ध इस संघर्ष के पिछले काल में हुए, तीनों राजन्य, तीनों अभिजात-कुलीय, तीनों यज्ञानुष्ठानों के प्रहर्ता। इनमें से अन्तिम, बुद्ध ने एक नयी शैली को अपना अस्त्र बनाया। उसने ब्राह्मण-समाज की व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म पर ही आक्रमण किया, और उनकी भाषा संस्कृत को तिरस्कृत कर दिया। योरपीय देशों में जिस प्रकार लातीनी को धर्म की भाषा बनाकर पादरी लोग उसकी दुर्भेद्य प्राचीरों के पीछे धर्म के विधाता हो गये थे वैसे ही संस्कृत भी अल्पजनीन होने के कारण ब्राह्मणों की सहायक बन गयी थी, बुद्ध ने उसे त्याग, जनभाषा पाली को अपने आक्रमण और व्याख्या का वाहन बनाया।

जिस बग़ावत का सूत्रपात कैकेय आदि ने किया था, जिसका वितन्वन पार्श्व-बुद्ध ने किया था उसकी पराकाष्ठा भगवद्गीता ने की। ब्राह्मण ने दुर्बल होते हुए भी अपना प्रयास न छोड़ा। अब संघर्ष असम था फिर भी ब्राह्मण रक्त और शरीर का तर्पण करने को उद्यत हुआ। एक ओर यदि शक्ति और साधन थे तो दूसरी ओर दुःसाहस और प्रतिशोध की भावना थी। उसके श्रम और दीक्षित अध्यवसाय की टेकनीक अनेक बार रिक्त दर्शन तथा शक्ति का अतिक्रमण कर गयी। जैन-बौद्धों की शक्ति-परंपरा में शीघ्र एक विशाल साम्राज्य की मगध में स्थापना हुई थी जिसका आरंभ परिस्थितिवश ब्राह्मण-क्षत्रिय के सम्मिलित-अध्य-वसाय से हुआ परन्तु जिसे भोगा केवल क्षत्रिय ने किया। यह मौर्य कुल था जिसमें संघर्ष के सिद्धांत और क्रिया एकत्र हो गये थे। इसके नृपति कुल रूप में क्षत्रिय थे, दर्शन-सिद्धान्त रूप में उप-निषदों की विद्रोही न्याय-परंपरा के उत्तराधिकारी बौद्ध अथवा जैन थे। अंतिम मौर्यराज वृहद्रथ को उसके पुरोहित-सेनानी पुष्यमित्र शुंग ने सारी सेना के सामने चमकते दिन के उजाले में

मार डाला। पुष्यमित्र न केवल ब्राह्मण और राजपुरोहित कुल का प्रधान था वरन् वह महाभाष्यकार और योगसूत्रों के रचयिता महर्षि पतंजलि का शिष्य भी था। ब्राह्मण ने क्षत्रिय को मार गद्दी अपना ली और यज्ञानुष्ठानों का पुनः संगठन कर संस्कृत को राजपद दे ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार किया। उसके अश्वमेध में स्वयं पतंजलि ने ऋत्विज का कार्य किया। इसी काल में मनुस्मृति की रचना हुई जिसमें ब्राह्मण "महिसुर" बना और क्षत्रिय को उसने पार्थिव, दूसरा स्थान दिया। निश्चय मौर्य राज्य का अंत ब्राह्मण षडयंत्र का परिणाम था। जिसके तन्तुवाय सम्भवतः स्वयं पतंजलि और संघटक निस्सन्देह पुष्यमित्र थे। क्षत्रिय ने दर्शन के चिन्तन में अपनी तलवार कोने में टिका दी थी, ब्राह्मण ने अब वह उठा ली। वह उसके हाथों में सहसा चमक उठी। क्षत्रिय राजमुकुट धूल में पड़ा था, ब्राह्मण ने तलवार की नोक से उठाकर अपने मस्तक पर रखा। मगध में शुंगों के बाद पहले काण्डवायन फिर आंध्र-सातवाहन आये तीनों ब्राह्मण थे। उनके बाद विदेशियों का शासन रहा, सदियों तक क्षत्रिय असावधान रहे। और मगध में जब वे फिर आये तब ब्राह्मण चारण हो गया था और उसकी प्रशस्ति में 'रघुवंश' गाता था, 'आलोक—शब्द' बोलता था। परन्तु अवश्य इसका कारण है कि ईसा से लगभग दो सदियों पूर्व शुंग काल में भारत के सुविस्तृत भूक्षेत्र के भोक्ता तीन ब्राह्मण सम्राट-कुल ही क्यों थे, क्षत्रिय कुल क्यों न थे? क्यों तब नर्मदा से सिन्धुनद तक शुंग कुलीय पुष्यमित्र तपता था? क्यों पूर्व में सागर तटीय कलिंग, चेदी कुलीय खारवेल खड्ग से अपनी कीर्ति लिखता था? क्यों दक्षिणापथ की दिशायें आंध्र-सातवाहनों की शासन-घोषणाओं से गूँजती थीं? आखिर वे तीनों कुल ब्राह्मण क्यों थे?

२—अन्तरंग

गीता एक उपनिषद् है। वह स्वयं अपने को उपनिषद् कहती है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसको उपनिषत्संज्ञा दी गयी है। अनुवृत्त भी उसे उपनिषद् ही कहता है। अन्य उपनिषद् गाय हैं, गोपाल-कृष्ण उसके दोग्धा हैं और गीता इस प्रकार दुहा हुआ दूध है, उपनिषदों का निचोड़। उपनिषदों के अनेक भावों से गीता अनुप्राणित है और उसके अनेक श्लोक सीधे उपनिषदों से ले लिये गये हैं। गीता प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम है और उसका दर्शन औपनिषदिक विद्रोह की पराकाष्ठा है। इस कारण यह स्वाभाविक ही है कि वह उस क्षत्रिय क्रान्ति की लहर को आगे बढ़ाये। ब्राह्मणों, ब्राह्मण-साहित्य और उनके यज्ञपरक अनुष्ठानों के केन्द्र वेदों की अवमानता और उनके प्रति प्रहार में गीता अपना सानी नहीं रखती। उसकी विचारधाराएँ शुद्ध ब्राह्मण-धर्म पर प्रहार पर प्रहार करती हैं, उसका पद-पद उनको नगण्य और निरर्थक घोषित करता है। ऊपर उद्धृत महाभारत के ब्राह्मण-वाक्य "तप एव परंबलम्" के विरुद्ध गीता में स्थान-स्थान पर "तप, यज्ञ, क्रिया" आदि पर आक्षेप है जहाँ यज्ञानुष्ठानों के केन्द्र इन्द्र के स्थान पर क्षत्रिय वसुदेव-पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा की जाती है। ब्राह्मण-धर्म निन्दक श्लोक गीता में भरे पड़े हैं।* इन श्लोकों और इनकी भांति अन्य श्लोकों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। ब्राह्मणों की अवमानता की दूसरी ओर क्षत्रिय-ऋषियों का स्तवन

---

*स्थानाभाव से यहाँ अवतरण अथवा व्याख्या न देकर केवल उनके हवाले देना ही काफी होगा। २, ४२-४३, २, ४५-४६, २, ५३, ८, २८, ११, ४८-५३ आदि।

हुआ है। ज्ञान से युक्त मानवों में राजन्य जनक का परिगणन प्रतीक रूप में हुआ है परन्तु याज्ञवल्क्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं चौथे अध्याय के दूसरे श्लोक में गीता अपने ज्ञान अथवा उपनिषत्तत्व को क्षत्रिय-रहस्य—राजविद्या-घोषित करती है जो क्षत्रिय कुलों में ही गुह्य-राजगुह्यं—है। इस गोपनीय विद्या रहस्य के संरक्षक कौन हैं—क्षत्रिय राजर्षियों की एक "परम्परा" (परम्परा प्राप्त—राजर्षयः विदुः)। कृष्ण का कहना है कि पहले-पहल उन्होंने इस निगूढ़ विद्या का ज्ञान सूर्यवंश के आदि पुरुष विवस्वान को दिया, विवस्वान ने उसे प्रथम क्षत्रिय राजा मनु को दिया और मनु ने ऐक्ष्वाकु वंशीयों में प्रथम राजा इक्ष्वाकु को दिया (४, १-२)। इसके बाद शृंखला टूट जाती है और सारे कुलागत रहस्यों की भांति इस रहस्य का भी लोप हो जाता है (४, २) भूलना न चाहिये कि यह रहस्य जन-साधारण का नहीं, वर्ण-विशेष का है और उसमें भी वर्ग-विशेष, अभिजात-कुलीयों का। और इस गूढ़ दर्शन का तत्व क्या है ? पन्द्रहवें अध्याय का प्रथम श्लोक सम्भवतः इस प्रसंग पर प्रकाश डालता है—इस दर्शन के सिद्धान्त स्वाभाविक, काल-क्रमागत नहीं है। यह दर्शन ऐसा अश्वत्थ है जिसकी शाखाएँ तो अधो-मुखी हैं और जड़ें आकाश में हैं (ऊर्ध्व-मूल मधः शाखा) ?*

---

*इस पद का प्रयोग गीता के पूर्व के साहित्य उपनिषदों (कठ) में हुआ है इस कारण चौंकने की कोई बात नहीं है क्योंकि लेखक ब्राह्मण-धर्म के प्रति यह क्रान्ति उपनिषदों से ही मानता है जिनका चरम विकास गीता का विषय है इससे इस पद का गीता का पूर्व वर्ती होना लेखक के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं डालता। और चूँकि कृष्ण उपनिषदों से पूर्व के व्यक्ति हैं। गीता के इस पद की प्राचीनता भी एक प्रकार से प्रमाणित की जा सकती है। —लेखक।

सिद्धान्त प्रमाणतः ब्राह्मण-धर्म के विरोध में है। उसके प्रति यह कृष्ण और गीता, क्षत्रिय और उपनिषद् का वाम मार्ग है। साहसी दार्शनिक आनुवृत्तिक परम्परा को बदल देता है, प्राचीन धर्म-शरीर को उलट देता है, मूल ऊपर कर देता है, शाखाएँ नीचे। और फिर जैसे कहता है—यह है मेरा दर्शन जिसमें अनन्त-अनन्त पत्ते हैं, जिसका पत्ता-पत्ता वेद है (छन्दांसि यस्य पत्राणि) अर्थात् अनन्त-अनन्त वेदों का जिस दर्शन में समावेश है। कितना अज्ञानी त्रिगुणात्मक वेदों का पाठक है। प्राचीन को भुलाकर जो इस अपेक्षाकृत नवीन, फिर भी विवस्वान, मनु आदि के अध्यापित होने के कारण स्वयं प्राचीन, इसके वेदवत् पत्तों को जानता है वही वास्तव में वेदों का जानने वाला है (यस्तं वेद स वेदवित्)! इतना ही नहीं योग की प्राचीन परम्परागत व्याख्या—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग सूत्र १, २) की सर्वथा उपेक्षा कर, उलट कर, व्याख्याता ने उसकी अपनी परिभाषा की—योगः कर्मसु कौशलम्—क्रमागत व्याख्या के विरुद्ध, परन्तु अपनी सर्वस्वापत्तीकरण नीति से सर्वथा संगत। कौन अस्वीकार कर सकता है कि अवतारवाद की मीमांसा कर स्वयं उसका केन्द्र बन जाने वाला कृष्ण कर्मयोगी-योजनाओं को पूर्णतया सम्पादित करने में कुशल न था?

३—व्यक्तित्व।

अनुवृत्त, संस्कृति का था, अन्तरंग गीता का था, अब यह व्यक्तित्व कृष्ण का। आनुवृत्तिक परम्परा से कृष्ण ब्राह्मण अनुष्ठानों के केन्द्र इन्द्र का अत्यन्त शत्रु माना जाता है जिसका संकेत स्वयं ऋग्वेद में मिलता है। इन्द्र का विरोध सहज ही ब्राह्मणों का विरोध था जो उसके पूजक थे। इस लम्बे संघर्ष का अन्त

कृष्ण की विजय में हुआ। कृष्ण ने अपनी प्रजा की रक्षा गोवर्धन गिरि उठाकर इन्द्र के वज्र और वर्षा दोनों से की। पहली बार हम कृष्ण का उल्लेख ऋग्वेद में आर्यों के शत्रु अनार्य के रूप में पाते हैं। अथर्ववेद (२०, १३७) में यह प्रसंग दुहराया गया है जहाँ कृष्ण को "द्रप्सः, कृष्णः" कहा गया है। इस पद की व्याख्या सायण "द्रुतगामी कृष्ण" लिखकर करते हैं। अथर्ववेद में कृष्ण का यह प्रसंग परीक्षित के प्रसंग के पास ही है जिससे इन महाभारत के व्यक्तियों की प्रसंगतः ऐतिहासिकता भी प्रमाणित हो जाती है। वहाँ कृष्ण का दस हजार अनुयायियों के साथ अंशुमती अर्थात् यमुना के तट पर होना कहा गया है। आर्य ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वह अपने वज्र से कृष्ण का नाश करे।

दूसरा उल्लेख इस सम्बन्ध में महाभारत में हुआ है। परन्तु वहाँ भी कृष्ण क्षत्रिय ही है, गोपाल (गोप)। परन्तु प्रमाणतः उसकी शक्ति उस काल तक अजेय हो गयी है। वहाँ तर्क का उत्तर वह तर्क से नहीं देता, चक्र की तेज धार से देता है, शिशुपाल के प्रति वह मैतिओती के साथ मसोलिन का-सा आचरण करता है। आखिर शिशुपाल ने क्यों कहा था? "परंपरया राजसूय में पूजा कुलीन की होती आयी है, सो भीष्मादि के रहते गोप अथवा सन्दिग्धकुलीय की कैसे होगी?" प्रश्न समसामयिक आचार का प्राण था और इसका अनादर होने से युधिष्ठिर के सामने एक प्रश्न खड़ा हो गया। कृष्ण के अनाचार से जब अन्य राजा भी क्षुब्ध हो गये तब युधिष्ठिर को बड़ी चतुराई से परिस्थिति सम्हालनी पड़ी। इस प्रकार अन्धक-वृष्णियों के संघ की बिना अनुमति लिये कृष्ण ने दुर्योधन को जो यादव सेना दे डाली थी उसका विरोध भी कुचल कर कृष्ण

ने संघ की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया था। कृष्ण का एकान्ततः प्रयास पहले क्षत्रिय बनना है क्योंकि ब्राह्मण से यदि कोई लोहा लेना चाहता तो उसका क्षत्रिय होना पहले आवश्यक था। तभी वह उस वर्ग की शक्ति का प्रयोग कर ब्राह्मणों की प्रतिष्ठित सत्ता का अन्त कर सकता था। कृष्ण का आरम्भिक व्यक्तिगत इतिहास इसी उत्तरोत्तर-अनार्य से आर्य और आर्य से क्षत्रिय-आरोहण की कहानी है। क्षत्रिय वह हो जाता है, सम्भ्रान्त क्षत्रिय और आश्चर्यजनक वेग से। शिशुपाल के विवाहार्थ प्रयुक्त भोजवंशीय रुक्मन् की भगिनी रुक्मिणी को बलपूर्वक ब्याह कर उसने अपना सम्बन्ध विदर्भ के उस सम्भ्रान्त क्षत्रिय कुल से स्थापित किया जहाँ अपना विवाह कर कभी राम के दादा अज ने गर्व किया था। फिर अर्जुन के सुभद्रा को भगा ले जानेवाले निन्द्य कार्य में भी वह प्रभूत सहायक होता है और बलराम जब आक्रमण करना चाहते हैं तो वह समझा-बुझाकर उन्हें शान्त करता है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इस कार्य में सारी चाल कृष्ण की ही रही हो। इससे उसका सम्बन्ध तत्कालीन भारत के सर्वोच्च क्षत्रिय राजकुल कौरवों से हो जाता है। निस्सन्देह मथुरा से गोकुल जाने की प्रथा भी इसी कुल-परिवर्तन का एक उदाहरण है सम्भव है वसुदेव का पितृत्व भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये गढ़ा गया हो। कम-से-कम अभिजात कुलीय चेदिराज शिशुपाल कृष्ण को गोप नन्द का ही पुत्र जानता है। गीता के सिद्धान्त-निरूपण के बाद के अध्याय प्रायः कृष्ण के स्तुतिपरक हैं जिनमें कृष्ण को संसार की वस्तुओं में सबसे विशिष्ट कहा गया है (देखिये दसवाँ अध्याय) और जहाँ पाठकों को अपना मन सब देव-देवियों की ओर से हटा एकमात्र कृष्ण में लगाने की बात कही गयी है। स्वयं कृष्ण

कहते हैं—'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं व्रज'। और भक्त कहीं कृष्ण को आध्यात्मिक ब्रह्म न समझ बैठे इसलिये बार-बार वसुदेव के बेटे, 'वासुदेव इति', पार्थिव शारीरिक कृष्ण की देवत्व-सिद्धि का वितन्वन हुआ है। गीता इतिहास में पहले-पहल अवतारवाद की विस्तृत और पूर्ण प्रतिष्ठा करती है। क्षत्रिय क्रान्ति-दर्शन का सिद्धान्ततः निरूपण उपनिषदों में ही हो चुका था। अब इस समन्वय-दर्शन गीता द्वारा उस सिद्धान्त में पुरुष-भक्ति की प्रतिष्ठा की गयी। क्षत्रिय ने न केवल ब्राह्मण धर्म का अन्त कर दिया बल्कि वह उसके देवालय के गर्भगृह में भी स्वयं पुरुषाकार जा बैठा। उसे देवता मानकर रामायण, महाभारत, गीता, भागवत लिखवाने की उसने अश्रुतपूर्व योजना की। ब्राह्मणों की धर्माट्टालिका भहराकर अपनी ही विशालता में खो गयी।

प्रश्न यह है कि कृष्ण का यह प्रयास और परिणामतः सफलता क्या इतिहास में अनोखी है? नहीं, यदि व्यक्तिगत अध्यवसाय की दृष्टि से देखा जाय तो यह युग-धर्म का ही एक अंश है। महाभारत युद्ध का काल साधारणतया प्रायः १४०० ई० पू० माना जाता है जब मिस्र असीरिया संसार की राजनीति में विशेष जागरूक थे। दोनों देशों के सत्रहवीं सदी के राजा विदेशों को जीतकर उनके देवालयों से प्राचीन देव मूर्तियों को हटाकर अपनी प्रतिमाएँ पधराते और पुजवाते हैं। मिस्र के आहहेतेप और असीरिया के हम्मुराबी (विशेषकर पिछले) की तो यह स्वाभाविक नीति हो गई थी। हम्मुराबी के पश्चात्कालीन वंशज नेबूचेद्रेज्जार के समय तक मेसो-पोतामिया में यह प्रयास चलता रहा था। हम्मुराबी का उदाहरण कृष्ण के सामने था। कृष्ण ने पाँसा फेंका और वह जीत गये। परन्तु

निश्चय उसकी यह विजय जुआरी की सद्यः—प्राप्त अल्पकालीन नहीं है। आहहेतेप और हम्मुराबी अपने शासन तलवार की नोंक से प्रतिष्ठित करते हैं। कृष्ण महान् है, उनसे कहीं महत्तर और उसके चमकते चक्र की पैनी धार के साथ-साथ गीता का एक समन्वित दर्शन है। ब्राह्मण देवताओं को स्वर्गीय सिंहासनों से घसीट कर कृष्ण गोबर्द्धन की पथरीली भूमि पर पटककर चूर-चूर कर डालता है।

इस प्रकार अध्ययन करने पर गीता क्षत्रिय ग्रन्थ प्रतीत होती है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन ब्राह्मणों को इस संघर्ष के क्रम में इसका विरोध करना चाहिये था, वे ही आज इसके स्तम्भ बने हुए हैं। सम्भवतः उन्होंने अपनी पराजय की क्षति और अवमानता से बचने के लिये गीता को अपना कहकर घोषित किया। इस प्रकार की उनकी पराजय एक और थी—जिसे उन्होंने विजय से अधिक गौरव प्रदान किया—अब उन्होंने राम-कृष्ण की पंक्ति में एक तीसरे अब्राह्मण बुद्ध को स्थान दिया।

भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति

भारतीय इतिहास और संस्कृति के विकास में वर्ग (वर्ण) संघर्ष कारण हुआ है, इसे स्वीकार करने में किसी मार्क्सवादी को आपत्ति न होगी। इसी 'डायलेक्टिक्स' (द्वन्द्वात्मकता) का निरूपण इस लेख का मन्तव्य है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन को द्वन्द्वात्मक विकास और उसके प्रति समाज की प्रतिक्रिया अथवा भारतीय द्वन्द्वात्मक दर्शन का सामाजिक जीवन में समन्वय अभी अधिकतर कल्पना की वस्तु रही है। प्रस्तुत लेख में उसका ऐतिहासिक स्पष्टीकरण है। अन्य इतिहासों की ही भाँति भारतीय इतिहास की प्रगति भी तत्वतः द्वन्द्वात्मक रही है जिसका कुछ व्यक्ति-करण श्री भगवत शरण उपाध्याय ने 'प्रतीक' के पावस अङ्क में किया है। उस सिद्धान्त का वर्गीय, सामाजिक और प्रमाणजन्य अभिपोषण ऐतिहासिक आँकड़े में से ही हो सकता है और उसकी अभिपुष्टि निम्ननिरूपण के आधार पर होगी।

भारतीय इतिहास का रूप क्या है? अन्तर्जातीय संघर्ष-सामाजिक द्वन्द-ऐतिहासिक प्रगति। जातियाँ आयीं, देशस्थ जातियों और समाज में प्रतिक्रिया हुई, संघर्ष हुआ, पारस्परिक आदान-प्रदान और समन्वय हुआ और परिणामतः व्यवस्था बदली, समाज में प्रगति हुई, इतिहास का स्रोत आगे बढ़ा।

सभ्ययुग के समाजोत्थान के पूर्व भारत में भी अन्य देशों की भाँति ही ऐतिहासिक समाज का क्रमिक विकास हुआ। पहले घोर बरबर, फिर बरबर-युग, तब पूर्व और उत्तर पाषाण-काल, तदनन्तर द्रविड़ और सैन्धव-सभ्यता-युग। इस सैन्धव-सभ्यता के युग तक समाज को किन संघर्षों अथवा किन-किन परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा, यह स्पष्ट नहीं। कम-से-कम अभी उनकी प्रगति की मंजिलों की विस्तृत व्याख्या नहीं की जा सकती, यद्यपि यह सही है कि उनका क्रमिक उद्यम और विकास भी अन्य देशों के समानान्तर और अनुकूल ही हुआ होगा, अर्थात् अनार्थिक स्थिति से उठकर उत्पादन के आर्थिक स्तरों की ओर अर्थ-बहुल-स्वामित्व की संख्या में सङ्कोच उत्पन्न करते हुए। जहाँ-जहाँ यह अर्थ संघर्ष व्यापक न हो सका अथवा जो अर्थ और उत्पादन की सीमित व्यवस्था के कारण कम-से-कम हमको आज स्पष्ट नहीं हो सका है, वहाँ-वहाँ उसे विकास और उसके स्रष्टाआधार को हम आज प्रत्यक्ष नहीं कर सके हैं। यह हमें न भूलना चाहिये कि द्वन्द्वात्मक वर्ग-संघर्ष अर्थ-सम्पत्ति की विषमता और उत्पादन की बहुलता का सीधा परिणाम है। यह उत्पादन-बहुलता जन्य जिस समाज में जितनी ही अधिक होगी समाज के वर्ग उतने ही स्पष्ट पृथक होंगे, उनका संघर्ष उतना ही व्यापक और गम्भीर होगा, प्रगति उतनी ही सुघर और वेगवती होगी, और इतिहासकार की दृष्टि में यह क्रमिक कारण-कार्य-परिणाम-संयोग उसी उपेक्षा में साफ साफ चमकेगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अर्थ और उत्पादन-योग के अभाव में संघर्ष होता ही नहीं। वास्तव में ऐसे युग की कल्पना कठिन हो जायगी, जब उत्पादन का किसी न किसी रूप में स्थायी अभाव रहा हो। इससे संघर्ष का सर्वथा स्थायी

अभाव कभी सोचा नहीं जा सकता। वह हलका और मन्दगामी अवश्य रहा होगा। फिर ऐसी अवस्था में उस संघर्ष के क्षेत्र शुद्ध आर्थिक से फैलकर अन्य दिशाओं में भी घर कर लेते हैं, वे दार्शनिक, सामाजिक, जातीय आदि भी हो सकते या हो जाते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आधाररूप में प्रत्येक स्तर में संघर्ष का कारण उत्पादन का कोई न कोई रूप होने के कारण आर्थिक होता है—हो वह चाहे जितना भी सूक्ष्म और अस्पष्ट क्यों न। दार्शनिक चिंतन्वन निःसन्देह समाज के विकसित स्तर का मनोयोग है, जब देह की चिन्ता नहीं रह जाती और आकाश का शून्य भरना ही होता है। कर्मकाण्ड उसका आरम्भिक परिणाम है जब भूख का दैत्य सर पर सवार रहता है और क्षुधा के निवारण के लिए समाज के अर्ध-निमीलित शिथिल वर्गों पर कर्मकाण्डी अपने विधि-अनुष्ठानों के वितान तानता है, जब पुरोहित-जादूगर अपने जादू से समाज के निद्रित अङ्गों को और भी निद्रित कर देता है। इसी कारण संसार के प्रत्येक जाति के इतिहास में यदि दर्शन है तो वह कर्मकाण्ड-टोना-टटका जादू-मन्तर के बाद। समाज के भूखे आदिम युगों में कर्मकाण्ड प्रबल है, पिछले अर्थ-सपन्न युगों में दर्शन। और भूखों का कर्मकाण्ड है, सम्पन्नों का दर्शन। अधीन दोनों ही हैं। भ्रामक दोनों। किसी ने पूछा—मनुष्य का आहार क्या है? उत्तर मिला—मनुष्य का कोई आहार नहीं होता, केवल बुद्धिमान का आहार होता है और वह आहार है मूर्ख। आर्थिक बहुलता न होने के कारण प्राचीनकालिक भारतीय समाज के वर्गों अथवा वर्ग संघर्ष का हमें स्पष्ट और नग्न दर्शन तो नहीं होता; परन्तु हमारे अध्ययन से आँकड़े अवश्य उपस्थित हो जाते हैं, जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वर्ग थे। वर्ग

संघर्ष हुआ—चाहे उनका रूप स्पष्ट न हो, अव्यक्त आवरणाच्छन्न ही हो। प्रगति हुई है यह तो असन्दिग्ध ही है, और यही लौटकर प्रमाणित करती है कि वर्ग थे और वर्ग संघर्ष हुए; क्योंकि प्रगति अर्थ-द्वन्द्व और वर्ग-द्वन्द्व का परिफलित प्रतीक है। इन सीमाओं को दृष्टि में रखकर ही हम भारतीय समाज के विकास और उसके आधार अन्तर्जातीय तथा अन्तरङ्ग संघर्ष की खोज और निरूपण करेंगे। परदा मोटा है और नेपथ्य अन्धकार पूरित; पर अन्धकार से अभ्यस्त होकर नेत्र सत्य के दर्शन कर सकेंगे।

यह सत्य है कि उत्तर-पाषाण-युग के बाद द्रविड़ सभ्यता का उत्कर्ष हुआ। पाषाण-आयुधों के बाद जब भारती मानव ने धातु निर्मित आयुधों का प्रयोग किया तब सम्भवतः द्रविड़ ही अपनी सभ्यता का विस्तार कर रहे थे। अनुमानतः द्रविड़ भी भारत में बाहर ही से आये, जैसा बिलोचिस्तान के बीच उनकी भाषा "ब्रहुई" के अवशेष और प्रचलन में जान पड़ता है। यह विजातीय भाषाओं के बीच अद्यावधि जीवित द्राविड़-भाषा-द्वीप सम्भवतः अपने भाषियों के पूर्व-दक्षिण अभिगमन के समय बन गया था। द्रविड़ कहाँ से और कब आये, इससे हमारा उद्देश्य सिद्ध न होगा। पर वे आये और उनका एतद्देशियों से संघर्ष हुआ, जिसमें उनकी अपनी सभ्यता की सीमाएँ विस्तृत हुईं, यह स्वीकार किया जा सकता है। यही सभ्यता सम्भवतः विकसित होकर सिन्ध-नद के कोठे में फैली जिसका प्रसार सिन्ध और रावी के निचले कोठे में सिन्ध तक और उत्तर में बिलोचिस्तान तक था। सिन्ध के लरकाना जिले में, दक्षिण पंजाब मान्टगोमरी जिले, और बिलोचिस्तान के मोहन जोदड़ो-हड़प्पा कलात आदि के उसके भग्नावशेष मिलते हैं बिलोचिस्तान तक इस

सभ्यता का प्रचार इसका सुमेर की सभ्यता से भी सान्निध्य स्थापित कर देता है। जिस सभ्यता का प्रचार उस भारतीय इतिहास के आरम्भ काल में द्रविड़ों ने किया, उसका विकास सैन्धव सभ्यता में हुआ। यदि द्रविड़ बाहर से आये तो निस्सन्देह उनका संघर्ष समकालिक भारतीयों से हुआ उत्तर-पाषाण-कालीनों और उनके उत्तराधिकारी धातु-युगियों से। पाषाण-कालीनों के प्रस्तर-आयुध भी सैन्धवों के ताम्र-आयुधों के साथ ही मोहनजोदेड़ों आदि में मिले हैं, साथ ही प्राणि-पूजा और वृक्ष-पूजा के भी कुछ स्पष्ट आभास वहाँ की मुद्राओं पर मिले हैं जिससे जान पड़ता है कि संघर्ष और तज्जनित परिणाम समन्वय इस सभ्यता के भी आवश्यक मंजिल थे।

दूसरा और अपेक्षाकृत स्पष्ट जो हमें संघर्ष का प्रमाण मिलता है वह है भारतीय सैन्धवों और अभारतीय आर्यों का। सैन्धव सभ्यता का काल प्रसार प्रायः ३२५ ई०पूर्व से २७५ ई० पूर्व तक माना जाता है। परन्तु यह अनुमान उस प्रस्तर का है, जब यह सभ्यता अपना स्पष्ट रूप धारण कर चुकी थी। इसका आरम्भ निस्सन्देह सदियों पूर्व हुआ होगा और कुछ आश्चर्य नहीं हमें ऐसे आँकड़े मिल जायँ जिनके आधार पर हम इसका आरम्भ उत्तर-पाषाण-काल के पिछले छोरों से कर सकें। सैन्धव सभ्यता के पिछले युग काफी हलचल के थे और मध्य एशिया में एक नयी जाति के नवागन्तुकों ने प्राचीन जमी हुई सभ्यताओं को खतरे में डाल दिया था। कितनी ही सभ्यतायें उनकी टक्करों से टूट भी गयीं। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व इस संघारक जाति के कबीले भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भी मँडराने लगे। स्थानीय सैन्धव सभ्यता सशंक हो उठी। जिन्होंने कभी सही-सही मिट्टी के घर न देखे थे, सिन्धु कोठे के पक्की ईंटों के मकान देख

उनके आश्चर्य का ठिकाना न था। नवागन्तुकों के अनवरत कबीले आते और इस प्राचीन सभ्यता से टकराते रहे। लगभग तीन सदियों तक इनका संघर्ष चलता रहा। अन्त में यह प्राचीन भारतीय नागरिक सभ्यता चूरचूर हो गयी। इसके भग्नावशेष कुछ रावी ने, कुछ सिन्धुनद ने अपने जल प्रसार से ढक लिये। विजयी जाति ने विजित सप्तसिन्धु को अपना आवास बनाया वहाँ उन्होंने अपने गाँव खड़े किये जहाँ उनके राजा अपने 'जनों' पर राज करते, जहाँ उनकी ढोरें चरतीं, जहाँ स्थानीय दासों की सहायता से उन्होंने खेतों में अन्न उपजाना सीखा। घोड़े पर फर और धनुष की सम्पत्ति लेकर चलने वाले ये विजयी आर्य थे। और अपनी अनायास सद्यः प्राप्त समृद्धि देख उनका प्रकृति सेवी मुदित मन नाच उठा। अपने देवताओं का आभार उन्होंने अपनी ऋचाओं में स्वीकार किया और वे अपने शत्रुओं को घृणावश "अनासा:" "मृधुवाचा" शिश्नदेवा:, "अपज्वन्" "अदेवयु" "दास" "दस्यु" आदि कहने लगे।

परन्तु यह संघर्ष धीरे-धीरे तिरोहित हुआ। अनन्त संख्या में सैन्धव आर्यों के खेतों और घरों में कार्य करने लगे। उनके प्रति आर्य ऋषियों ने दया के भाव बरते। अपनी नव विवाहिता बधुओं को "चतुष्पदों" के साथ ही इन "द्विपदों" के प्रति भी दयालुता का बर्ताव करने की सलाह दी। इन दासों ने आर्यों को कृषि कर्म सिखाया, घर बनाना और एक स्थान पर जमकर रहना सिखाया, कपास की रूई से सूत निकाल उससे कपड़ा बनाना और पहनना सिखाया। दास नारियाँ सहस्रों की संख्या में आर्यों की आश्रयिणी हुईं जिन्हें आर्यों ने भोगा और अपनी उदारता के चिन्ह स्वरूप रथों में भर-भर पुरोहितों को दान किये। कालान्तर में इनसे अनेक ऋषि रत्न-कक्षीवान्, औशिज,

कण्व, वत्स आदि प्रसूत हुए। आर्यों की वंश-शुद्धि की भावना पर इतिहास का यह चुटीला व्यंग था। कुछ युग और बीते और अथर्ववेद के काल-स्तर तक पहुंचते-पहुंचते, भाव, पूजा, और जीवन के दृष्टिकोण में आर्य अनेकांश में सैन्धवों के विजित हो चुके थे। उनका धर्म नव-धर्म के संयोग से समन्वित हो चुका था। अथर्ववेद आर्यों और प्राचीन सैन्धवों का सम्मिलित पैतृक सिद्ध हुआ। जन्तर-मन्तर, टोना-टटका, झाड़-फूँक इस वेद के प्राण थे और आर्यों के एक रूढ़िवादी दल ने एक लम्बे और उसके विविध स्तरों से ग्रथित ऋग, यजुर्वेद और सामवेद को ही "त्रयी" के नाम से वे जानते रहे। निस्सन्देह अथर्ववेद अपने विषय में उन तीनों से सर्वथा भिन्न था। योग की परम्परा भी, जिसका पश्चात्कालीन आर्यों ने विकास किया और जिसे काला-न्तर में उन्होंने दर्शन तक का पद प्रदान किया, प्राचीन सैन्धवों की धर्मव्यवस्था का एक विशिष्ट अंग था।

इस पूर्व वैदिक काल में जब बाह्य संघर्ष का अन्त हुआ, अन्तःसंघर्ष का भी आरम्भ हुआ। आर्यों में वर्ण-व्यवस्था प्रति-ष्ठित हो चुकी थी। कृषि और लूट, विजय और वाणिज्य से समाज में अर्थ और सम्पत्ति का संचय हो चला था, उनके अर्जन और शोषण के केन्द्र बन गये थे और इन केन्द्रों पर अधिकार करने के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ग (वर्णों के आधार आर्थिक पेशे थे) परस्पर टकराने लगे थे। कर्मकांड की टेक्नीक का असीम विस्तार कर ब्राह्मणों ने उन्हें अपने बीजक-सदृश्य ग्रन्थों में रक्खा और इन्हें अपने वर्ग के नाम पर "ब्राह्मण" कहा। क्षत्रियों ने इन "ब्राह्मणों" के उत्तर में अपने "उपनिषद्" प्रस्तुत किये जो ब्राह्मण जप-तप, कर्मकांड, देवता, यज्ञ-अनुष्ठान, पशुबलि आदि के विरोध में थे। इन उपनिषदों की परम्परा को

गीता ने समाप्त कर सशरीर क्षत्रिय को इन्द्रादि के स्थान पर वैष्णव अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया। उपनिषदों के अमूर्त "ब्रह्म" के ऊपर इस अन्त्य गीतोपनिषत् की यह घोर बिडम्बना थी। उधर वशिष्ठ और विश्वामित्र, परशुराम और देवव्रत, जनमेजय और तुरकावशेष की संघर्ष परम्परा चलती रही। जनमेजय की क्षत्रिय-परम्परा अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैबलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध मौर्यराज्य ले चले। उसका विरोध श्वेतकेतु, जाबालि, राक्षस (महानन्द का मन्त्री) पतंजलि, पुष्यमित्र शुङ्ग, आन्ध्र-सातवाहनों ने किया। द्वितीय शती ईस्वी पूर्व में भारत में तीन साम्राज्य स्थापित हुए—वरदा से सिन्धु तक शुङ्गों, दक्षिणापथ आन्ध्र-सातवाहनों के और आसमुद्र कलिंग में ये दीपवंशियों के—तीनों ब्राह्मण थे। मगध में शुङ्गों के बाद कारावायन आये, कारावायनों के बाद आंध्र-सातवाहन, तीनों ब्राह्मण थे। इसके बाद शकों ने मध्य देश आक्रान्त कर लिया, न ब्राह्मण रहे न क्षत्रिय।

ब्राह्मण ग्रन्थों के शीघ्र ही बाद उपनिषदों के उत्तर में उन्हीं के समय-स्तर में कुछ ब्राह्मण-दर्शनों का भी ग्रन्थन होने लगा था ब्राह्मणों की भी यह देखने दिखाने की प्रवृत्ति हो चली थी कि वे क्षत्रियों के शस्त्र-शास्त्र किसी क्षेत्र में कम नहीं हैं। षड्-दर्शनों का निरूपण उपनिषदों के ग्रन्थन से अधिक पीछे का नहीं है। केवल उनका तर्क-सम्मान सम्पादित दर्शन रूप पश्चातकालीन है। वस्तुतः उपनिषद् भाव-तत्व के साथ ही साथ उसकी प्रतिक्रिया के रूप में इन दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। ऋगवेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों की देव परम्परा सर्वथा पार्थिव और भौतिक थी, उनमें देवता शरीरी थे मनुष्यवत्, उनकी आवश्यकताएँ-कामनाएँ भी मनुष्यवत् ही थीं। उपनिषदों में अमूर्त "ब्रह्म" की

प्रतिष्ठा हुई जो कल्पनातीत था, फिर भी जिससे सृष्टि का आरम्भ हुआ था, जड़-चेतन दोनों का प्रादुर्भाव। उसका न्याय्य अन्त वेदान्त हुआ जब ब्रह्म सारे चराचर में व्याप्त उसका रूप माना गया। और, फलतः उसकी पराकाष्ठा हुई मिथ्यावाद में। यह वही कह सकते थे जिन्हें या तो भूखें न थीं या उसे शान्त करने के जिनके पास साधन थे। ब्राह्मण को भूखें थीं और उसके पास उसे शान्त करने के साधन भी न थे। उसके लिए इस झूठे ब्रह्म की आवश्यकता न थी, सत्यता न थी। उसके लिए संसार सत्य था, प्रत्येक वस्तु जो उसे दीखती थी, अस्तित्व रखती थी। उसे भूखें-प्यास सताती थीं, आहार और जल उन्हें शान्त करता था, सुस्वादु भोजन और मदिर पेय उसे अभितृप्त करते थे। शरीर जन्मता, बाल-युवा-वृद्ध होता और मर जाता था। जीवित शरीर रोगों से समय-समय पर आक्रान्त होता था। उसने शरीर को 'व्याधि मंदिर' कहा है। ऐसे ब्राह्मण को जब वह दर्शन लिखने बैठेगा, निस्संदेह कष्टकर संसार का मिथ्यावाद भयंकर झूठ सिद्ध होगा। उसके पार्श्व का कण-कण सच्चा और सत्तावान दीखेगा, उसका वातावरण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण खोजेगा, अव्यक्त अननुमित को वह स्वीकार न कर सकेगा। इससे उसके दर्शन भी ब्रह्म रहित अनीश्वरवादी तक होंगे। फिर इस संघर्ष में उसे तर्क का उत्तर तर्क में भी तो देना है, तो, यदि उपनिषदों का ब्रह्म स्रष्टा है तो वह उस ब्रह्म पर प्रश्नात्मक दृष्टि डालेगा, उसकी सत्ता ही मिटा देगा। यद्यपि उसका यह रूप उसके ऋग्वैदिक अत्यास्तिक पैतृक पर एक सबल व्यंग होगा। दर्शन निरीश्वरवाद की पराकाष्ठा सिद्ध हुई, वेदान्त के मिथ्यावाद पर प्रकृति का अणु-अणु विहँसा और उसने उस सिद्धान्त की सत्यता के प्रमाण माँगे। सांख्य,

वैशेषिक और न्याय की काया खड़ी हुई। लोकायतवाद की दुन्दुभी बजी।

सांख्य दर्शन आरम्भ में सम्भवतः आस्तिक था, यद्यपि शीघ्र ही अर्थात् ईश्वर कृष्ण से बहुत पूर्व वह नास्तिक हो गया—यह भारतीय दार्शनिक परम्परा का विश्वास है। वैदिक ब्राह्मण द्वारा प्रणीत होने के कारण ऐसा होना ही था और उपनिषदों की प्रतिक्रिया के उत्तर में उसका प्रत्यक्षवादी रूप स्थिर होना स्वाभाविक ही था। दार्शनिक प्रगतिवाद का यह औपनिषदिक छायावाद को यथार्थवादी युक्तिसङ्गत अनुभवजनित उत्तर था। उपनिषदों का आविर्भाव वेदों और ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानों के विरोध में हुआ था, दर्शनों का प्रादुर्भाव उपनिषदों के रहस्यवाद और अपार्थिव चिन्तन के विरोध में हुआ। चिन्तन और दर्शन का रूप रखते हुए भी सांख्य और वैशेषिक और न्याय ने भारत में पहले-पहल तर्क और भौतिकवाद की स्पष्ट और दार्शनिक नींव रखी, साथ ही पहलेपहल उन्होंने विश्व का सच्चा रूप देखा और दिखाया। हृदय-जगत की व्याख्या करने के लिये सांख्य ने 'प्रकृति' का निरूपण किया, उस पर जोर दिया। बाह्य जगत की मानव अनुभूति को अपूर्व तर्क-सङ्गत और प्रमाणिक रूप देकर वैशेषिक ने उसी सिद्धान्त की पुष्टि की। प्रकृति के विश्लेषण में जो इसने उसके आधारभूत तत्वों को ढूँढ़ा, उससे अविभाज्य अणुओं और उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का ज्ञान हुआ। वैशेषिक का यह अणु संघातवाद अथवा आणविक बहुवाद (Atomistic pluralism) जगत के रूप की व्याख्या के अर्थ प्रयुक्त हुआ। न्याय का आधारभूत लक्ष्य ज्ञान के तत्वों और ज्ञान-प्रक्रिया का अन्वेषण था। न्याय के तार्किक यथार्थवाद ने

एक अद्भुत तर्क-प्रणाली "शुद्ध न्याय भौतिक है और उसकी कोई क्रिया शुद्ध आत्मिक (Intiutive) या ज्ञान जगत के बाहरी कारणों से परिचालित अथवा सीमित नहीं"। इस प्रकार यद्यपि न्याय और वैशेषिक दोनों की स्थिति पृथक् सिद्ध है, दोनों ने अपने-अपने निरूपण (न्याय-मनुष्य और मानव प्रकृति; वैशेषिक-बाह्य जगत्) से वस्तुतः एक ही विषय की सम्पूर्णता सिद्ध की। इसी प्रकार सांख्य और योग का एक परस्पर सम्बन्धित दल था। यद्यपि पतंजलि के योग दर्शन ने ईश्वरत्व का एक और 'तत्व' सांख्य के निरूपण में जोड़ दिया, पर वास्तव में उसकी उत्पत्ति सांख्य के आधार पर ही हुई।

इन दर्शनों में सांख्य का समय बहुत प्राचीन है। इसका समय सम्भवतः सातवीं आठवीं सदी ईस्वी पूर्व रखना होगा। अर्थात् उपनिषदों के तत्व वितन्वक राज्य नेताओं के शीघ्र, बाद और कुछ अंश में सम-सामयिक भी, तथा दुद्ध पार्श्वादि के पूर्व। उपनिषद् विद्या के विरोध और प्रतिक्रिया के रूप में ही इस दर्शन की उत्पत्ति और प्रतिष्ठा हुई। बौद्ध धर्म पर भी विशेषकर उसके दर्शनों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। बौद्ध दर्शन के क्षणवाद और परिवर्तनशीलतावाद पर सांख्य का पूर्ण प्रभाव प्रमाणित है। भूलना न चाहिये कि बुद्ध दर्शन कालान्तर में अधिकतर ब्राह्मणों द्वारा ही रचे गये। इन दार्शनिकों में वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, पिड़नाग और धर्म कीर्त्ति मुख्य थे। संघर्ष रूप में उन्होंने ब्राह्मण दर्शनों का उत्तर दिया परन्तु स्वयं ब्राह्मण होने के नाते वे उनके प्रभाव से सर्वथा वंचित न रह सके। स्वयं बुद्ध ने सांख्य दर्शन पढ़ा था। अश्वघोष के बुद्ध चरित से स्पष्ट है कि बुद्ध ने आड़ारकालाम के आश्रम में कुछ काल के लिये दीक्षा ली थी, परन्तु उस दार्शनिक

की सूक्ष्म और व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर उन्होंने उसका आश्रम छोड़ दिया। फिर भी वे उस ज्ञान-संस्कार को सर्वथा मिटा न सके। यह आड़ारकालाम सांख्य दार्शनिक था। इस प्रकार दर्शन के रूप में सांख्यादि दर्शनों से प्रसूत और प्रभावित होकर जहाँ संघर्ष रूप में बौद्ध दर्शन ने ब्राह्मण दर्शनों का विरोध किया, वहाँ वे अपनी शृङ्खला की पूर्वकालिक कड़ियों-उपनिषदों को ही छोड़ बैठे। यही उस दार्शनिक डायलेक्टिक्स (द्वन्द्वात्मिका) की पराकाष्ठा थी, विरोध का विरोध था (Negation of negation) वही, फिर भी सर्वथा वह नहीं, पिता का पुत्र, उसी से उत्पन्न; परन्तु पिता नहीं पुत्र, उसी सा पर वह नहीं। वेद से ब्राह्मण (-आरण्यक-) ब्राह्मण से उपनिषद्, उपनिषदों से सांख्यादि ब्राह्मण दर्शन, ब्राह्मण दर्शनों से बौद्ध दर्शन और उनमें पारस्परिक संघर्ष-प्रक्रिया सिद्धान्त-प्रजनन, दार्शनिक प्रगति। और इन सबके अन्त में भगवद्गीता उपनिषदों में अन्तिम, क्योंकि कठोपनिषद् की ऊर्ध्वमूलमधः शाखा "राजगुह्यं राजविद्या" परम्परा प्राप्त सिद्धान्त—फिर भी वह नहीं—क्योंकि सांख्य-योग का समन्वय अदार्शनिक भक्ति का पुट और औपनिषदिक अमूर्त ब्रह्म के स्थान पर, परन्तु ब्राह्मणेतर, भौतिक शरीर क्षत्रिय कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई।

इस दार्शनिक संघर्ष, विकास और समन्वय का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? जिस भक्ति की भगवद्गीता में सांख्य, न्याय आदि के समन्वय से सृष्टि की उसका आरम्भ उससे कुछ पहले हो चुका था, सम्भवतः बौद्ध धर्म के उत्थान के साथ ही साथ। गीता का प्रणयन-काल तीसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग है। जिसमें उसका पूरा-पूरा उद्घाटन है। महाभारत, रामायण और पुराण तीनों में भागवत धर्म का किसी न किसी रूप में

विवेचन है। इसके केन्द्रीय देवता वासुदेव कृष्ण हैं। पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' तक में इस भागवत धर्म का हवाला मिलता है। भागवत धर्म और भक्ति सम्प्रदाय के उदय ने ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष को दो तरफा कर दिया। एक तो ब्राह्मण क्षत्रियों का संघर्ष प्राचीन था ही अब ब्राह्मणों का निम्नवर्णियों के साथ भी संघर्ष चल पड़ा। इसका कारण भागवत और बौद्ध धर्मों का बीच में आ जाना था। भूलना न चाहिये कि भागवत और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय क्षत्रिय-प्रेरित थे। दोनों के पूजा केन्द्र क्षत्रिय थे। उपनिषदों का आन्दोलन अभिजातकुलीय क्षत्रियों का था। अभिजातकुलीय क्षत्रियों ने ही उस विद्रोह परम्परा में जैन और बौद्ध धर्म का आरम्भ और प्रचार भी किया। बुद्ध को, विजित ब्राह्मणों को, जो आर्य धर्म छोड़ बुद्ध धर्म और संघशरण आते थे, अंगीकार करने में आपत्ति न थी। और अधिकतर ब्राह्मण क्षत्रिय ही आरम्भ में बुद्ध की दार्शनिक सूक्ष्मता को समझ सकते थे, क्योंकि संस्कार और दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्भवतः परिचित होते थे, कारण वे इस नये धर्म की दार्शनिक सूक्ष्मताओं को समझ सकते थे। परन्तु अपने धर्म और दर्शन को व्यापक और सर्वप्रिय बनाने के जो साधन उन्होंने अख्तियार किये, स्वयं उसमें द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति छिपी थी। सर्वजनीन बोली, पाली का प्रयोग और संघ निर्माण वस्तुतः ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था और एक वर्गीय संस्कृति के ऊपर अमोघ प्रहार थे। जिसमें ब्राह्मणों की भाषा और वर्ण व्यवस्था दोनों क्षत-विक्षत हो गई। परन्तु इसके कारण से समाज में एक नई प्रगति भी आई जिसने बहुत कुछ उसका रूप बदल दिया। यदि बुद्ध को प्रचार भाषा संस्कृत रही होती तो उनके शिष्यवर्ग सम्भवतः ब्राह्मण क्षत्रिय ही होते। परन्तु उसके पाली होने के कारण साधारण जनता,

विशेषकर निम्नवर्ग की भी अनुयायिनी हुई। उनके संघ ने जो ऊँच-नीच सबको समान रूप से अपने प्राचीरों के भीतर स्वीकार किया, उससे ब्राह्मणों के प्रतिद्वन्द्वियों में क्षत्रियों के अतिरिक्त अनभिजातवर्गीय निम्नवर्णीय सेना भी जा मिली। सम्भव है बुद्ध का यह प्रचार न रहा हो, पर परिणाम यही हुआ। यह विरोध की नई धारा यद्यपि अभी केवल ब्राह्मण विरोधिनी थी, परन्तु उसका रुख अभिजातकुलीय ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों के विरोध में समान रूप से फिर सकता था। सामाजिक डायलेक्टिक्स की धारें पैनी हो चलीं थीं।

इस समय एक और शक्ति ने इस आन्दोलन को बल दिया। वह शक्ति थी भागवत-धर्म भक्ति सम्प्रदाय। जिस प्रकार बौद्ध धर्म के संघ विधान में वर्ण विभाग न था, उसी प्रकार भागवत धर्म ने भी अपने द्वार प्रायः मनुष्य मात्र के लिए खोल दिए। भागवत धर्म को पुष्टि अधिकतर निम्न श्रेणी के लोगों से मिली। इसके पश्चातकाल में तो इसके गुरुओं तक में अधिकतर निम्न-वर्गीय अछूत तक हुए। और एक समय तो बौद्ध-धर्म और भागवत-धर्म की सीमायें एक हो गईं जब बुद्ध, वैष्णवों के अवतार मान लिये गये और उनकी मूर्ति पुरी के विष्णु मंदिर में जगन्नाथ के रूप में स्थापित की गई। आज भी इस मन्दिर के प्राचीरों के भीतर वर्णविधान नहीं है और आर्य जाति निम्नवर्ण, सवर्ण और अछूत तक एक साथ प्रसाद पाते हैं। इन बौद्ध धर्म और भागवत धर्म के सम्मिलित प्रहार ने कम से कम परिणाम रूप में ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था को चूर-चूर कर दिया। भागवत धर्म में काफी संख्या में विदेशीय विजातीय भी सम्मिलित हुए थे और उन्होंने उस धर्म को अपने कन्धे दिये। द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्त में तक्षशिला के यवन (ग्रीक) राजा अन्तलिखिद ने

शुंग वंशीय काशिपुत्र भागभद्र के पास विदिशा के दरबार में हेलियोपोर नाम का अपना ग्रीक राजदूत भेजा था। वह हेलियो-पोर वैष्णव हो गया था और बेस नगर में विष्णु के नाम पर उसने एक स्तम्भ खड़ा करवाया। निस्सन्देह बौद्ध-संघ और वैष्णव काया का ऊपरी भाग अभिजातकुलीय था, परन्तु उसका शरीर Rank and file निम्नवर्णीय जनता का था। भारतीय वर्ण धर्म की शृंखलता से स्वतन्त्र हो चले थे। उन्होंने समानता की खुली हवा में साँस ली। परन्तु शक्तियों को निःशृंखल कर देना एक बात है, सम्भालना दूसरी। सिंह भात पर भी जिन्दा रखा जा सकता है, शायद घास पर भी, पर खून का चस्का लगते ही उसका स्वामी पर अपनी दाढ़े मार देना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। आगे था संघर्ष, निम्नवर्णीय-निम्नकुलियों का अभिजात वर्णियों—अभिजातकुलियों के विरुद्ध—अर्थ में भी—धर्म में भी। संघर्ष तो जैसा पहले कहा जा चुका है दो रुखा था—ब्राह्मणों का क्षत्रियों से और ब्राह्मणों का निम्नवर्णियों से, परन्तु निम्नकुलियों और निम्नवर्णियों का रुख समान रूप से अभिजातकुलियों की ओर मुड़ता तब यदा-कदा ब्राह्मण-क्षत्रिय मिलकर उनका सामना करते, जब तक ब्राह्मण उस संघर्ष से लाभ उठा अपने प्राचीन स्पर्धी क्षत्रियों के विरुद्ध उस शक्ति का मुख कर देते। उसका उदाहरण नन्द वंश का इतिहास है, दूसरा कौटिल्य का "अर्थ-शास्त्र।"

भारतीय संस्कृति के निर्माण में विविध जातियों का योग

आज की भारतीय संस्कृति जातियों और युगों की सामूहिक देन है। जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते हैं वास्तव में वह विविध जातियों के योग से निर्मित और विकसित हुई है। भारत विविध जनाचारों का संग्रहालय बन गया है और उसकी संस्कृति में अनेक संस्कृतियों तथा अनेक जातियों की सामाजिक विशेषताओं का सम्मिश्रण है। आज ये सारी परस्पर विरोधी विशेषताएँ भारतीय संस्कृति के रसायन-कलश में घुल-मिलकर एक, और उसकी अपनी हो गई हैं। वास्तव में देश-विशेष की सांस्कृतिक पवित्रता उसी प्रकार असत्य और निरर्थक है जिस प्रकार जाति-विशेष की रक्त-शुद्धता। स्थान विशेष की संस्कृति निस्सन्देह एक सामूहिक योग है जिसके निर्माता बहुसंख्यक और परस्पर विरोधी हैं। सदियों के आयात-निर्यात और जातियों के सम्मिश्रण से संस्कृति को रूप मिलता है। भारत इस प्रकार के जातीय सम्मेलन तथा सम्मिश्रण का अपूर्व क्षेत्र रहा है। यहाँ शक्तियों का संघर्ष हुआ है और शक्तियाँ अनन्तः घुल-मिल कर एक हो गई हैं। भारतीय सीमाओं पर विदेशी जातियों की जब जब कुमक दिखाई पड़ी, तात्कालिक भारतीयों में रोष-

पूर्ण प्रतिक्रिया हुई, फिर द्वन्द्व छिड़ गया और अन्त में एक जातीय सामंजस्य का जन्म हुआ। संघर्ष करने वाले दोनों पक्षों की विशेषताएँ मिल गईं। एक नई संस्कृति का रूप निखरा। विकास के प्राणभूत दो विरोधी शक्तियों की यह संघर्षात्मक एकता थी जिसने इस सांस्कृतिक द्वन्द्वात्मकता को चरितार्थ किया। जातियाँ आईं, उनका परस्पर संघर्ष हुआ और उनके रक्त-मिश्रण से एक तीसरी जाति का प्रादुर्भाव हुआ। एक ने दूसरे पर जाने-अनजाने अपनी गहरी सांस्कृतिक छाप डाली, दूसरी ने जाने-अनजाने उसे स्वीकार किया। इस आदान-प्रदान के फलस्वरूप भारत की इस अपनी संस्कृति का कलेवर बना। आगमन-संघर्ष-निर्माण हमारी संस्कृति की तीन आधारभूत परिस्थितियाँ हैं। इस एकीभूत विरोधात्मकता का अध्ययन अत्यन्त रुचिकर है।

सैन्धव-सभ्यता के मोहन जो-देड़ो (शवों की राशि) हड़प्पा आदि नगरों में ३२५० और २७५० ई० पू० के बीच का जीवन प्रायः आल्हादकर और सुखी था। वहाँ की नागरिकता रोमन नागरिकता के समानान्तर थी। इस सभ्यता के संयोजित नगर और ईंट की इमारतें, स्नान-सरोवर और सफाई की मोरियाँ, प्राणिपूजा और लिंगार्चन, सुकुमार शिल्प और सबल भास्कर्य समसामयिक जगत में प्रतीक माने जाते थे। मिस्र और सुमेर, असुर और ऊर, अक्काद और एलाम की सभ्यताओं पर सैन्धव-सभ्यता की गहरी छाप थी। यद्यपि स्वयं इसके निर्माण में उन सभ्यताओं का हाथ कुछ कम न था। ईसा से प्रायः तीस सदियों पूर्व एक वीर जाति उस प्राचीन प्रतिबन्ध हिन्दूकुश की शृंखला को लाँघ सप्तसिंधु के सीमावर्ती पर्वतों की छाया में आ खड़ी हुई। उसने तृषित नेत्रों से नीचे की घाटियों में फैले हरे-भरे खेतों को देखा।

अब तक का उनका जीवन अपरिमित पर्यटन का था, अब शस्य-श्यामल उपत्यकाओं को देख उनको आगे भ्रमक जीवन के पाँव टिकने की आशा हुई। यह जाति भारतीय आर्यों की थी, अपने वृहत्तर हिन्दू-यूरोपीय जाति की पूर्वी शाखा। हिन्दू-यूरोपीय जाति ने आर्थिक कारणों से मजबूर होकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं को पृथक् कर दिया था और ये शाखा-प्रशाखाएँ आहार की खोज और निवास की सुविधाओं के लिए लड़ती भिड़ती दुनिया के इस सिरे पर आ पहुँची थी। अपने हाल के भ्रमण काल में असुरों और मध्य-एशियावासियों से इस आर्य-शाखा को निरन्तर खूनी संघर्ष करना पड़ा था और अब उनका आगे का जीवन भी उसी प्रकार बीहड़ और द्वन्द्वात्मक था। सामने कृष्णकाय भारतीयों की असंख्य दुर्जय कुमक उनकी राह रोके खड़ी थी। उसने उन्हें चैन न लेने दी, भूमि का चप्पा-चप्पा उनके और अपने लहू से सींच दिया। इस प्रकार जब शान्ति-पूर्वक बसने की आशा संदिग्ध हो गई तब आर्यों ने कातर सूक्तों में अपने देवताओं से प्रार्थना की। सामने की अनन्त वसुधा हाथ से निकली जा रही थी, शत्रु का संघट्ट भयावह था। युद्धों की जो शृङ्खला बनी उसके अन्त में आर्य विजयी हुए, सहस्राब्दियों का वह जन-निवास कुचल गया, सदियों की वह सैन्धव-सभ्यता विनष्ट हो गई। आर्यों की ग्रामीण कठोरता के नीचे सैन्धवों की नागरिक सुकुमारता पिस गई। आर्यों ने शत्रु की शालीन सभ्यता की नींव पर अपनी संस्कृति के आचार रखे।

सैन्धव संस्कृति का अधिकांश आर्य संहर्ताओं ने अपनी संस्कृति में मिला लिया। जैसे जैसे ऋग्वैदिक काल अथर्व-वैदिक काल के निकट आता गया यह सम्मिश्रण स्पष्ट होता गया। अथर्ववेद की सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता से काफी भिन्न थी।

इन दोनों स्वतन्त्र आर्य-युगों के बीच सैन्धव सभ्यता की कड़ी थी, स्पष्ट और अनिवार्य। जिनका आर्यों ने कभी 'कृष्णाः', 'अनासाः' मृध्रवाचाः', 'अदेवयु', 'अयज्वन्', 'शिश्नदेवाः', 'दासाः', 'दस्युः' आदि विशेषणों से सम्बोधन किया था, उन्हें अब उन्होंने अपने सामाजिक अट्टालिका की नींव बनाई। उनकी वर्ण-व्यवस्था का निम्नतम स्तर—शूद्र—इन्हीं अनार्यों के सम्मिश्रण से बना था। वर्णों के ऊँचे-नीचे स्तर वास्तव में सापेक्ष्य सेवाओं पर ही अवलम्बित थे और फलतः इन विजित शत्रुओं को उनका 'उचित, स्थान मिला। ऋग्वैदिक राजाओं और ऋषियों के अन्तःपुर की सीमाएँ फैल चलीं। देशी जातियों की नारियाँ इनमें भर चलीं। राजा और श्रीमान् अपने प्रसाद का प्रदर्शन प्रसादकों को 'नारियों से भरे रथों, के दान से करने लगे। इन हरमों की दलित नारियों की नागरिकता आर्यों की सहचरियों की ग्राम्यता से कहीं स्तुत्य सिद्ध होती, कहीं आकर्षक और प्रायः आर्य उनके लावण्य के वशीभूत हो जाते। अनेक बार इस प्रकार के आकर्षण का परिणाम सुखद होता। कक्षीवान्, औशिज और वत्स इस मिश्रण से उत्पन्न आर्य ऋषि थे जिनकी सामाजिक पावनता सर्वथा शुद्ध किसी आर्य ऋषि से कम न थी। शीघ्र शिश्न (लिंग) पूजा भी आर्यों की अर्चन-व्यवस्था का भाग बन गई। शीघ्र आर्यों के विश्वास-दुर्ग को अनार्य रस्मों ने आक्रान्त कर लिया। टोना-टोटके, झाड़-फूक, मोहन उच्चाटन इन्द्रजाल-जादू जिन्हें कभी आर्यों ने निकृष्ट घोषित किए थे स्वयं उनके आचार विश्वास के अंग हो गए। आर्यों के प्रकृति-देवताओं का समाज भी इस अनार्य प्रभाव से वंचित न रह सका। उसमें अनेक नए देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ जो निस्सन्देह भारतीय और अवैदिक थे। अनार्यों के सम्पर्क से

यज्ञादि में क्रियाओं की असाधारण बहुलता हुई। अनुष्ठानों के अन्तर्गत विधि-क्रियाओं का एक ओर इस प्रकार अनियंत्रित विकास और दूसरी ओर 'अन्तर्मुखी-दृष्टि' का आविर्भाव इस सैन्धव संस्कृति के साथ आर्य संघर्ष का ही परिणाम था। यह अन्तर्मुखी दृष्टि सैन्धव-सभ्यता में विशेष प्रकार से विकसित हुई थी। इसकी पराकाष्ठा अन्त में उस 'योग' में हुई जिसे पश्चात्कालीन आर्य ऋषियों ने बढ़ाया और शक्ति दी। मोहनजोदड़ो की विख्यात योगीमूर्ति, अनेक अन्य प्रतिमाओं और आकृतियों आदि की स्वप्निल चेष्टाएँ इस भावना को पुष्ट करती हैं कि इस सैन्धव-सभ्यता में ही योग की परंपरा का आरम्भ हुआ था। आर्यों ने इस सभ्यता के वाह्य रूपों—नगर निर्माण प्रणाली, कला के दृष्टिकोण, आदि से परहेज किया पर उसके रहस्यमय, शालीन और सूक्ष्म प्रभाव से वे किसी प्रकार वंचित न रह सके। नई सभ्यता के उपकरणों को अंगीकार कर उन्होंने अपनी संस्कृति को संबल बनाए और अनजाने अहंकारवश उन्हें कालान्तर में 'अपने' कहकर घोषित किए। भारत में विजेता पशुबल की देशी संस्कृति द्वारा वह प्रथम पराजय थी।

हिन्दू-आर्य सभ्यता काफ़ी अरसे तक ग्राम्य और कृषिप्रधान बनी रही। इन आर्यों का जीवन खुले आकाश के नीचे सशक्त उदात्त पौरुष का जीवन था। कृषि-कर्म, पशुचारण, रथधावन उनके कुछ पेशे और मनोरंजन थे। उनके जीवन का दूसरा युग—उत्तर वैदिक काल—विस्तार, विप्लव और अन्तर्द्वन्द्व का था। उनके कबीले अब बहुत बड़े हो चुके थे, उनके 'पञ्चजन' अब अनेक शाखाओं में बँठ चुके थे। प्राचीन वैदिक काल के राजा निर्वाचित हुआ करते थे। अब वह पद्धति बदल कर वंशानुगत और कुलक्रमिक हो चुकी थी। राजाओं के ऊपर से

'समिति' और 'सभा' का जननियंत्रण हट चुका था। उनकी निरंकुशता अब बढ़ चली थी। जनसंघटन (कबीलाबन्दी) अब टूटकर 'जनपद' राज्य बन चुका था जहाँ निरंकुश राजा शासन करने लगा था। आर्य नारी अपनी ऋग्वैदिक सत्ता, शक्ति और अधिकार खोकर अधोमुखी हो चली थी। उसकी गति अब वीर काव्यों के सामाजिक स्तरों की ओर तीव्रता से सरक चली थी। वर्णव्यवस्था अब ठोस हो चुकी थी। वर्णों में पारस्परिक आदान प्रदान अब संभव न था और किसी काल के पेशेवर वर्ण अब आर्थिक कारणों से वर्ग बन चले थे। उनमें आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था जिसका होना अनिवार्य था। आगे की कुछ सदियों की कहानी वास्तव में इस वर्ण अथवा वर्ण-संघ की कहानी है। इस अन्तर्द्वन्द्व ने कालान्तर में अर्थ और शक्ति के के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में चिरकालिक संघर्ष का रूप धारण किया। वर्ण के क्रमिक बौद्धिक ह्रास ने ब्राह्मणों को अपनी उत्तर-कालीन पीढ़ियों के संबंध में त्रस्त और सतर्क कर दिया। उनके कल्याण की भावना से और आत्मरक्षा की आवश्यकता से प्रेरित हो उन्होंने कुछ स्थाई साधनों की गवेषणा की जिनसे संभवतः उन साधन-शक्तिहीन पीढ़ियों के हितों और स्वार्थों की रक्षा हो सके। फलतः उन्होंने इन 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का निर्माण किया जो यज्ञानुष्ठानों की टेक्नीक की रहस्य-पेटिका बन गए और जिनकी कुञ्जी केवल ब्राह्मण-वर्ग के पास रहगई। उनकी 'ब्राह्मण' संज्ञा भी सार्थक थी। अब केवल साधना से किसी विश्वामित्र के ब्राह्मण बन बैठने की संभावना न थी। इसके उत्तर में क्षत्रियों ने उपनिषदों की रचना की जिन्होंने भारतीय दर्शन की नींव रखी। इस काल के चार क्षत्रिय राजाओं कैकेय (पंजाब की नमक की पहाड़ियों) के अश्वपति, पञ्चाल (गंगायमुना का द्वाबा—फरु-

खाबाद का जिला) के प्रवहण जैवलि, काशी के अजातशत्रु और विदेह (उत्तर बिहार) के जनक ने आत्मा, उसकी अनश्वरता और उसके आवागमन, तथा निर्गुण निरीह ब्रह्म का विवेचन किया। ये चार जनपद आर्य जगत् के चार पूर्वानुक्रमिक भाग थे जिनके चार केन्द्रों से उपनिषत्कालीन इन चार राजन्य राजाओं ने ब्रह्मर्षि श्रेष्ठ गुरुओं–उद्दालक आरुणि, याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु आरुणेय और दृप्तिबालाकि–को उपनिषत्तत्व में दीक्षित किया। उपनिषदों का बुद्धिवाद ब्राह्मण और वेदविहित यज्ञानुष्ठानों के हिंसक रञ्जित आचरण के विरुद्ध क्षत्रिय विद्रोह था। यह विद्रोह उन क्षत्रिय राजाओं के आधार से निकल काल के साथ बढ़ चला जिसमें पार्श्व, महावीर और बुद्ध ने प्रबल योग दिया। तीनों क्षत्रिय थे, तीनों अभिजातकुलीय थे, तीनों ब्राह्मण विरोधी थे। स्वयं कृष्ण (जो कभी अनार्य थे) ने क्षत्रियों का साझा किया और ब्राह्मण क्रियाओं के केन्द्र और आहुतियों के भोक्ता इन्द्र का विरोध कर उसकी पूजा उठा दी। उनकी 'गीता' ने ब्राह्मणों का प्रबल विरोध किया और उनके वेदों तथा अनुष्ठानों की निन्दा की। परन्तु स्वयं आक्रमण की योजना भी कुछ साधारण न थी। उसमें उनके प्रमुख आनुक्रमिक कुलों ने भाग लिया था और उनके नेता रह चुके थे–वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, पुश्यमित्र शुङ्ग। वशिष्ठ ने विश्वामित्र के विरुद्ध आचरण किया, परशुराम ने अनेक बार क्षत्रियों का संहार किया, जनमेजय के पुरोहित तुरकावषेय ने अपने यजमान का अश्वमेध सयत्नता से अपवित्र किया जिससे राजा के भाइयों ने साठ हजार ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया और शेष ब्राह्मणों को निर्वासित कर दिया, महर्षि पतंजलि के शिष्य और मौर्य राजकुल के पुरोहित तथा सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य

क्षत्रिय राजकुल का नाश कर क्षत्रिय-बौद्ध-जैन एकता का अन्त कर दिया। ईसा ई० पू० दूसरी शती में समस्त भारत में क्षत्रिय शक्ति-समाधि के ऊपर तीन संभ्रान्त और प्रशस्त ब्राह्मण राजकुलों का शासन जमा। नर्मदा से सिन्धु तक शुंगों ने भोगा, कलिंग चेदियों ने और दक्षिणा पथ के प्रदेश आन्ध आन्ध्र सातवाहनों ने। उत्तर में जब शुङ्गों का अन्त हुआ तब काण्वायन आए और जब उनके हाथों में तलवार ढीली पड़ी तो उसे दक्षिणात्य सातवाहनों ने छीन ली पर शक्ति एक ब्राह्मणकुल के हाथ से दूसरे ब्राह्मण कुल के हाथ में ही जाती रही जब तक कि शक आलाट ने उसका उत्तर में सर्वथा अन्त न कर दिया।

इस काल में जब इस उत्तर वैदिक-काल के निचले युगों में यह अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा था (लगभग पाँचवीं शती ई० पू० में) सिन्ध और पंजाब के भाग भारत से निकल गए। हखमनी सम्राट दायरबहु के लम्बे हाथों ने भारत के अन्तर्दाह से लाभ उठा कर स्वायत्त कर लिया। इसी प्रकार ३२६-२५ ई० पू० में मकदूनिया के विजेता सिकन्दर ने भी पंजाब और सिन्ध को अपने रिसालों से रौंद डाला। भारत को इस पारसीक-सम्बन्ध से प्रचुर लाभ हुआ। छठी शती ई० पू० में सारे एशिया में धार्मिक जागरूकता ने नए रूप धारण किए थे। भारत में बुद्ध, ईरान में जरतुश्त, चीन में कनफ्यूशस अपने अपने दर्शन का विस्तार कर रहे थे। इन नवीन सिद्धान्तों का परस्पर प्रभावित होना स्वाभाविक था। ईरान के राजनीतिक सम्पर्क से मौर्य राजसभा की अनेक प्रथाएँ प्रभावित हुईं। चन्द्रगुप्त का अपने दरबार में केशाभिसेचन इसी सम्पर्क का परिणाम था। अशोक के शिला और स्तम्भ लेखों की परम्परा तथा उनकी शैली ईरानी राजाओं के अभिलेखों से अनुप्राणित हुई। उस महान् सम्राट के

स्तम्भादि-सम्बन्धी वास्तु-भास्कर्य पर भी ईरानी तक्षण-प्रणाली की गहरी छाप पड़ी। सिकन्दर ने पश्चिमी जगत् के साथ भारतीय व्यापार का एक स्थल-मार्ग खोल दिया। साथ ही उसने वह्लिक (बाख्त्री, बैक्ट्रिया) में एक ग्रीक उपनिवेश स्थापित किया जिससे अगली सदियों में भारतीय संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा और जो भारत पर किए पश्चात्कालीन ग्रीक हमलों का आधार सिद्ध हुआ। सिकन्दर के सम्पर्क का प्रभाव भारतीय मुद्रा और दर्शन पर भी पड़ा। उसके साथ अनेक ग्रीक दार्शनिक थे, जिन्होंने भारतीय दार्शनिकों के साथ आध्यात्मिक विचार-विनिमय किए थे। इस प्रकार के अनेक प्रसंग-प्लूतार्च के जीवन-चरितों और ग्रीक-रोमन् लेखकों की कृतियों में सुरक्षित हैं। सीरियक सम्राट सेल्यूकस और उसके पौत्र के पाटलिपुत्रस्थ राजदूतमेगैस्थनीज तथा देइमैकरत् और अशोक के पाँच ग्रीक राजाओं के साथ स्थापित मित्रभाव से प्रमाणित है कि यह राजनीतिक सद्भाव कुछ काल तक कायम रखा गया। अशोक के पिता विन्दुसार ने सीरियक सम्राट से अन्य वस्तुओं के साथ साथ एक ग्रीक दार्शनिक भी माँगा था, जिससे निष्कर्ष स्वाभाविक है कि भारत में ग्रीक दर्शन का अध्ययन होता था और कुछ लोग उसे पसन्द करते थे। प्लूतार्च के "सिकन्दर" में भारतीय और ग्रीक दार्शनिकों की एक मुठभेड़ का चित्र सुरक्षित है।

ई० पू० द्वितीय शती में भारत के साथ यह ग्रीक सम्पर्क और गहरा हो गया। इस काल में बाख्त्री के आधार से भारत पर ग्रीकों के अनेक आक्रमण हुए। इन आक्रामकों में मुख्य देमित्रियस्, मिनान्दर और यूक्रेटाइडिज् थे। सुप्रसिद्ध प्राचीन इतिहासकार जेस्टिन ने देमित्रियस्, को "भारत का राजा" (Rex Indorum) कहा है। अपने जामाता सेनापति मिनान्दर की

सहायता से देमित्रियस् ने मौर्य-शासित भारत पर विकट आक्रमण किया और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। आक्रमण का समय उसने विशेष चातुरी से चुना था। उसकाल भारत का पश्चिमी भाग एक मौर्य शासक के दुर्वृत्त शासन से आक्रान्त था। देमित्रियस् का इससे स्वभावतः पश्चिम भारत के निवासियों ने 'धर्ममीत' (धर्म-मित्र—देखिए गार्गी-संहिता का युगपुराण) कहकर स्वागत किया। इस बीच स्वदेश में यूक्रेटाइडिज़् द्वारा राज छिन जाने के कारण देमित्रियस् बैक्ट्रिया न लौट सका, उसे पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर अधिकार करके ही सन्तुष्ट होना पड़ा। वहाँ उसने अनेक ग्रीक औपनिवेशिक नगर बसाए जिनमें दत्तामित्री और युथिदेमिया प्रसिद्ध हुए। उसी की भाँति उसके सेनापति और जामाता मिनान्दर ने भी पूर्वी पंजाब पर अधिकार कर वहाँ ग्रीक शासन की नींव डाली थी और उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) ग्रीक संस्कृति का एक प्रबल केन्द्र बन गई। काबुल की उपत्यका, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त पंजाब, और संयुक्त प्रान्त पर प्रायः सौ वर्षों से ऊपर ग्रीक शासन रहा। इस शासन-काल में अनेक आधारों से ग्रीक संस्कृति का अजस्र प्रवाह होता रहा। ग्रीक औपनिवेशिक नगरों के अतिरिक्त हिन्दू नगरों में भी अनेक ग्रीक मुहल्ले कायम हुए जहाँ ग्रीक भाषा बोली और पढ़ाई जाती थी, ग्रीक ओलिम्पिक (खेल) संगठित होते थे, ग्रीक दर्शन की चर्चा और उस पर कथोपकथन होते थे, ग्रीक नाटक खेले जाते थे।

साहित्य के क्षेत्र में भी भारत ने अनेक ग्रीक रत्नों को अङ्गीकार कर अपने साहित्य में मिला लिया। सेण्ट क्रिसोस्टम (११७ ई०), प्लूतार्च और ईलियन का तो यहाँ तक कहना

है कि 'भारतीय होमर का काव्य गाते थे और उसे उन्होंने अपनी भाषा में अनूदित कर लिया था।' पंजाब के ग्रीक नगरों और हिन्दू नगरों के ग्रीक मुहल्लों का विचार कर इस कथन की सत्यता ग्रहण कर लेने में कठिनाई नहीं होती। संभव है देश के कुछ भागों में लोग होमर का अनूदित काव्य गाने लगे हों। आश्चर्य नहीं यदि इस वक्तव्य के गायक ग्रीकों के ही भारतीय वंशधर रहे हों अथवा उससे प्रभावित हिन्दू भारतीय। वास्तव में ग्रीक और भारतीय ख्यातों में काफ़ी समानता है, यहाँ तक कि 'रामायण' और 'ईलियद्' के कथा भाग अनेक स्थलों में परस्पर मिलते हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस पर किसका प्रभाव पड़ा है और किसने किससे लिया फिर भी यह आसानी से स्थापित किया जा सकता है कि 'ईलियद्' का काव्य 'रामायण' का पूर्ववर्ती है। भारत के ग्रीक नगरों और हिन्दू नगरों के ग्रीक आवासों में ग्रीक नाटक सर्वसाधारण में खेले जाते ही थे फिर उनका भारतीय नाटक तथा रङ्गमंच को प्रभावित करना स्वाभाविक और अनिवार्य था। अनेक प्रसंगों में यह प्रभाव दर्शित है। भारतीय 'ड्राप' परदे के लिए संस्कृत में कोई स्वतन्त्र शब्द नहीं है उसके अर्थ ग्रीक'यवनिका' शब्द ही प्रयुक्त होता है। स्पष्ट है कि भारतीयों ने इसे ग्रीक रंगमंच के प्रचलित कोष से लेकर अपने यहाँ चलाया। सम्भवतः भारतीय रंगमंच की व्यवस्था में परदे थे ही नहीं और उनका प्रयोग ग्रीक रंगमंच के अनुकरण में होने लगा। इस प्रकार की अनेक छोटी बड़ी समानतायें केवल संयोगशः कहकर टाली नहीं जा सकतीं। इसी प्रकार भारत और ग्रीस के कथा-साहित्य में भी कुछ आदान प्रदान हुए हैं। 'ईसाप्स-फेबुलस,' और 'पंचतन्त्र' तथा 'जातकों' की अनेक

कथाओं में प्रचुर साम्य है जो पारस्परिक प्रभाव का ही परिणाम है। यद्यपि ग्रन्थन की दृष्टि से ग्रीक कहानियाँ पञ्चतन्त्र से प्राचीनतर हैं परन्तु भारतीय कहानियों की स्वाभाविक प्राचीनता सिद्ध है। अग्रथित भारतीय कहानियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से कही और सुनी जाती रही हैं और यह आसानी से स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ अंशों में उन्होंने ग्रीक कथा साहित्य को प्रभावित किया होगा।

मुद्रा के क्षेत्र में सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप कुछ नवीनताएँ आई थीं पर पश्चात्कालीन लम्बे ग्रीक भारतीय सम्बन्ध ने तो उसमें सर्वथा क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। हिन्दू ग्रीक राजाओं ने दो भाषाओं वाली असंख्य मुद्राएँ प्रचलित कीं। भारतीय साहित्यिक संकेतों के अभाव में ये मुद्राएँ भारतीय इतिहास के निर्माण के अर्थ अद्भुत सामग्री प्रमाणित हुईं। इनके अनुकरण में ही भारतीयों ने अपने 'चिह्नखचित' सिक्के छोड़कर नए सिक्के ढाले। 'चिह्नखचित' प्राचीन सिक्कों के स्थान पर अब जो रूपग्राही सुन्दर आकृति के ढले छपे सिक्के भारत में चले थे निस्सन्देह इस ग्रीक भारतीय सम्पर्क के परिणाम थे। सिक्के के लिये चालू ग्रीक सांकेतिक शब्द 'द्रख्म' का भारतीयों ने 'द्रम्म' शब्द में व्यवहार किया जो हिन्दी 'दाम' में मूल्य के अर्थ में आज भी प्रयुक्त होता है। ग्रीक सिक्कों पर भारतीय लेखों के साथ साथ ग्रीक भाषा और खरोष्ठी लिपि भी अंकित होती थी। जिससे सिद्ध होता है कि जनता उन्हें भी पढ़ती समझती थी।

भारतीय कला और वस्तु के क्षेत्र में ग्रीक प्रभाव गहरा पड़ा है। भारतीय मूर्तिकला की विख्यात गान्धार शैली' ग्रीक आदर्शों और टेक्नीक से हीं अनुप्राणित और प्रभावित है।

अफगानिस्तान, सीमाप्रान्त, और पंजाब में पाई गई बुद्धचरित प्रदर्शिका हजारों मूर्तियाँ इस ग्रीक भारतीय सम्पर्क के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अनेक बार इन मूर्तियों के भारतीय 'अभिप्राय' ग्रीक तक्षकों द्वारा तक्षित हुए हैं, कितनी ही बार भारतीय कलावन्तों ने ग्रीक 'माडलों' को अपनी मेधा से प्रस्तुत किया है। गान्धार शैली की टेक्नीक सर्वथा ग्रीक थी परन्तु भारतीय आचार्यों ने धीरे धीरे उसे अपनी शैली में बदल डाला। प्रथम शती ई० पू० का सीमाप्रान्तीय वास्तु स्वयं इस ग्रीक प्रभाव से वंचित न रह सका और ग्रीक शैली से अनुप्राणित वह वास्तु उत्तरकालीन भारतीय वास्तु को अरसे तक प्रभावित करता रहा। भारतीय वास्तु मण्डन में चिरकाल तक उसके 'माडल' लिए जाते रहे। तक्षशिला और उसके आस पास अनेक भवन इस वक्तव्य के साक्षी हैं। प्रथम शती ई० पू० के प्रथम चरण का 'यवन' (Ionic) स्तम्भों से निर्मित वहाँ मिले एक मन्दिर के खंडहर प्रमाणित करते हैं कि ग्रीक शैली का प्रयोग धर्म और गृह्य सब प्रकार के वास्तु में भारतीय शिल्पियों ने किया।

ग्रीक प्रभाव वास्तव में सबसे अधिक भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में पड़ा। भारत इस क्षेत्र में ग्रीस का अतीव ऋणी है। भारतीयों ने ग्रीकों को इस विषय में अपना अग्रगण्य और नेता माना है। भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थ 'गार्गीसंहिता' प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण और तृतीय शती ईस्वी के बीच कभी लिख गया था। उस ग्रन्थ में ग्रीकों की मेधा और मौलिकता की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसमें लिखा है कि "यद्यपि यवन बर्बर हैं परन्तु चूँकि ज्योतिष के विज्ञान का आरम्भ इन्होंने ही किया है, वे देवताओं की भाँति स्तुत्य हैं।"

इसी गार्गीसंहिता के युगपुराण में देमित्रियस के भारतीय आक्रमण का वर्णन है जिसका हवाला पहले दिया जा चुका है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में अनेक ग्रीक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें राशियों के नाम और संकेत प्रमुख हैं। 'डायामेट्रान्' के लिये 'जामित्र' (लग्न) 'हारस्कोप' के लिए होराचक्र' आदि उस शब्द-कोष के कुछ शब्द हैं जिन्हें लेकर भारतीय ज्योतिष ने अपना शब्द-संचय पूरा किया है। इनकी भाँति अनेक अन्य लाक्षणिक शब्द उपस्थित किए जा सकते हैं जिनका प्रयोग अनजाने भारतीय ढंग से होने लगा है। इनके अतिरिक्त भारतीय ज्योतिष ने दो अभारतीय समूचे सिद्धान्त 'रोमक' और 'पौलिश' नाम से अपने विज्ञान में अंगीकार किए। रोमक और पौलिश सिद्धान्तों को अतिराष्ट्रीय विचारों का पण्डित भी विदेशी मानता है। इन सिद्धान्तों की अभिसृष्टि ग्रीस में हुई यह सर्वथा निर्विवाद है। भारतीय फलित ज्योतिष का अधिकांश, विशेषकर ग्रहों और तारों की स्थिति से भविष्य कथन, निस्सन्देह बाबुल से आया। बाबुल ने संसार में सबसे पहले भविष्य गणना प्रारम्भ की।

इस प्रकार ईरानी और ग्रीक संपर्क से भारतीय व्यापार तो पनपा ही उससे यहाँ की सामाजिक व्यवस्था और रहन सहन पर भी कुछ कम गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। निस्सन्देह ग्रीकों ने भारतीय आचार बिचारों वास्तु-भास्कर्य, मुद्रा-कला आदि को प्रभावित किया परन्तु वे स्वयं भारतीय संस्कृति के प्रभाव से वंचित न रह सके। धीरे धीरे वे स्वयं भारतीय धर्म के शिकंजे में कस गये। शीघ्र उनके विचारों और धर्म में युगांतर हुआ। उनका प्रमुख नेता और शासक मिनांदर स्वयं बौद्ध हो गया। लगभग सभी 'स्वात-कलश-लेख' के थयोदोर

ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण किया। हेलियोदोरस् दीयन् का पुत्र और मौर्य दरबार में तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिखिद का ग्रीक राजदूत था। उसने भी भारतीय वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया और विष्णु के नाम पर एक स्तम्भ खड़ा कराया जो आज भी बेसनगर में खड़ा है। कार्ले दरीगृह के अभिलेख में दो ग्रीकों के क्रमशः सिंहध्वज और धर्म नाम दिए हैं जिन्होंने भारतीय धर्म और नाम स्वीकार कर लिए थे। इससे सिद्ध है कि भारत ने केवल लिया ही नहीं वरन् दूसरों को दिया भी और उससे भी अनेक बाहर की जातियाँ प्रभावित हुईं। अनेक बार उसने अपने विजेताओं को अपनी संस्कृति का उपहार देकर विजित बना डाला। परन्तु ग्रीकों का इस प्रकार भारतीय धर्मों में दीक्षित होना और उनकी बड़ी जन-संख्याओं का भारतीयसमाज में खो जाना किसी प्रकार व्यर्थ न हुआ होगा। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर इसका प्रचुर और गहरा प्रभाव पड़ा। ग्रीकों का यह भारतीयकरण अधिकांश में मिश्रित विवाहों का परिणाम था। योद्धा ग्रीक अपने साथ नारियाँ लेकर नहीं आये थे इससे युद्धकाल और तत्पश्चात् के अपने शान्तिकाल के गार्हस्थ्य जीवन में उन्हें भारतीय नारियों का ही सहारा था। भारत का विदेशों से यह छठी शती ई० पू० से प्रथम शती ई० पू० तक का संबन्ध भारतीय साहित्य के एक विशिष्ट काल-स्तर के समानान्तर है। यह साहित्य-स्तर सूत्रकाल का है। सूत्र सामाजिक आचार के विधान-ग्रन्थ थे। कुछ भारतीय चिन्तक इस विदेशी सम्मिश्रण को कुछ समय तक संत्रस्त हो देखते रहे फिर उन्होंने इसका प्रतिकार आरम्भ किया। सम्मिश्रण कुछ तो शान्त साधनों से और कुछ ग्रीक विजयों के फलस्वरूप अराजकता के कारण

हुआ था। भारतीय चिन्तकों में से कुछ ने समझा कि सामाजिक व्यवस्था का सबसे बुरा परिणाम अन्तर्विवाहों से होता है और इस कारण उन्होंने अपने सूत्रग्रन्थों में विवाह-पद्धति में आधारभूत परिवर्तन किए। वे जानते थे कि विजातियों के विवाह बालिग नारियों के साथ ही होते हैं, फिर उन्होंने यह भी देखा कि संघर्ष के दिनों में पति का अपनी पत्नी की रक्षा करनी वहुसन्ततिक पिता की कन्या की रक्षा की अपेक्षा सरल है तब उन्होंने बाल विवाह की व्यवस्था दी। उनके विचार से बाल विवाह से ही कन्याओं और फलतः समाज की रक्षा सम्भव थी। फिर भी सम्मिश्रण रोका न जा सका और ग्रीक सर्वथा भारतीय समाज में खो गए।

ग्रीकों के बाद भारत में शकों की धारा आई। शकों ने अनेक केन्द्रों से चिरकाल तक भारत पर राज किया और उसके राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर उन्होंने अपने गहरे प्रभाव छोड़े। उनके केन्द्र थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र। ग्रीकों की भाँति शकों ने भी भारतीय समाज को एक नया रूप दिया और सदियों के अपने जीवन में जय-पराजय झेलते अपने विविध केन्द्रों में बने रहे। अन्त में वे भी अपनी विशेषताओं के साथ भारतीय जनता में घुलमिल गए। भारतीय संस्कृति को उनकी देन भी कुछ कम महत्व की नहीं है। अपने आगमन से ही उन्होंने भारतीय भूमि को अपना समझा और भारतीय संस्कृति को शीघ्र अपना लिया। उनका नेता रुद्रदामन, तो पुष्यमित्र शुंग के पश्चात् पहला नृपति था जिसने संस्कृत को राज-भाषा का स्थान दिया जो उसे ब्राह्मण सातवाहन कुल के उत्कर्ष काल में भी प्राप्त न हो सका। शकों ने सातवाहन कुल से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए और

अपने नाम भारतीय रखे। रुद्रदामन्, उषवदात (ऋषभदत्त) आदि कुछ इसी प्रकार के भारतीय नाम हैं। मध्य एशियाई ऊँचे बूट और जाकेट पहने सूर्यमूर्ति की पूजा भारत में शकों ने ही प्रचलित की। पुराणों के अनुसार कृष्ण के पुत्र शाम्ब ने भारत में सूर्य का पहला मन्दिर मुलतान (सिन्ध) में बनवाया। इस पहले मन्दिर का शकों के आदि भारतीय आवास सिन्ध में ही बनना कुछ अर्थ रखता है। उस स्थान में शकों का पहला उपनिवेश शकद्वीप नाम से बसा था। भारत के एक वर्ग के ब्राह्मणों की संज्ञा अब भी 'शाकद्वीपी' है। ये ब्राह्मण देशी ब्राह्मणों में सर्वथा न मिल सके। देशी ब्राह्मण अब भी इनके साथ खान-पान में परहेज करते हैं। शाम्ब ने मन्दिर बनवा चुकने पर जब सूर्य की पूजा आरम्भ की तब उन्हें ऐसे ब्राह्मण न मिल सके जो सूर्य की पूजा-विधि जानते हों और उन्हें बाहर से तदर्थ शक-ब्राह्मण बुलाने पड़े। इस प्रकार सूर्य की पूजा मूर्तिरूप में भारत में शकों ने ही प्रचलित की और इस अर्थ उन्होंने अपने पुरोहितों से काम लिया। इसी प्रकार हिन्दू-पार्थवों अथवा पह्लवों ने भी, भारत के कुछ भागों पर शासन किया और भारतीय रक्त के साथ अपने पारसीक रक्त का सम्मिश्रण किया। भारतीय संस्कृति पर अपने पदांक छोड़ते हुए वे भी अन्त में हिन्दू समाजकी व्यवस्था में खो गए। प्रायः इसी युग में शक्तिशाली आभीरों (आधुनिक अहीर) ने भी भारत में प्रवेश किया और यहाँ विस्तृत साम्राज्यों का निर्माण कर उन पर निरंकुश शासन किया। आधुनिक अहीरों के रूप में वे आज भी शेष हैं और अपनी सशक्त शरीरयष्टि, तुंग नासिका, अपने नर-नारियों के स्वच्छन्द जीवन, खुले नृत्य आदिसे जाटों और गूजरों की भाँति साफ पहचाने जा कते हैं।

शकों ने भारत में प्रवेश करने पर पहले तो उसकी राजनीतिक व्यवस्था की भाँति ही सामाजिक व्यवस्था में भी विप्लव कर दिया, उसे छिन्न भिन्न कर दिया। युग पुराण में उल्लेख है कि देमित्रियस् के आक्रमण के पश्चात् शक अम्लाट ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था को सर्वथा आक्रान्त कर दिया। उसके आगमन से पाटलिपुत्र में इतना नरसंहार हुआ कि पुरुषों का सर्वथा अभाव हो गया, स्त्रियाँ ही सारे कार्य करने लगीं और जब जब वे पुरुष को देखतीं चकित हो चिल्ला उठतीं—आश्चर्य ! आश्चर्य ! दस-दस बीस-बीस नारियों को एक एक पुरुष चुनना पड़ा। इस काल (अर्थात् प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण) में उत्तर भारत जातीय संकरता की क्रीड़ा भूमि बन गया। समाज में व्यवस्था तभी स्थापित हो सकी जब इस सामाजिक संकरता का ताण्डव पूर्ण हो चुका और जब भारतीय जनता ने इस सम्मिश्रण को विवश हो अंगीकार कर लिया। यह बलात् सम्मिश्रण संसार के इतिहास में इस प्रकार का एक ही उदाहरण है।

प्रथम शती ईस्वी में कुषाणों के आगमन से भारतीय सांस्कृतिक व्यवस्था में एक और इकाई का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में अब तक सामाजिक विरोध की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। इसे नष्ट करने में ग्रीकों और शकों ने शान्त अथवा सक्रिय योग दिए थे। इससे कुषाणों के लिए इस क्षेत्र में बनी बनाई भूमि मिल गई। उनका कार्य सरल हो गया। उन्होंने शीघ्र भारतीय धर्म और भारतीय देवताओं की पूजा अंगीकार कर ली तथा भारतीय नाम और उपाधियाँ धारण कर लीं। अपने सिक्कों पर वे भारतीय देवताओं की आकृतियाँ और फारसी विरुद खरोष्ठी लिपि में खुदवाने लगे। भारतीय संस्कृति के प्रति कुषाणों की

देन प्रभूत और गहरी है। मुद्राशास्त्र और आकृति उत्खचन, कला और मूर्तितक्षण, धर्म और दर्शन, वसन और भूषण प्रत्येक क्षेत्र में कुषाणों ने अपनी छाप छोड़ी है।

उनके सिक्के ग्रीकों के अनुकरण में बने थे और उन्होंने पश्चात्कालीन गुप्त-मुद्राओं के लिए अपने नमूने रखे। गुप्त-मुद्राएँ आकार, सौन्दर्य और ढलाई में जो इतनी ख्याति प्राप्त कर सकीं उसका कारण उनका कुषाण सिक्कों से लगाव था। कुषाण कला ने भारतीय भास्कर्य (मूर्तिकला) पर भी अपना गहरा प्रभाव डाला। गुप्त प्रतिमाएँ पूर्ण शालीनता को इस कारण प्राप्त हुईं कि उन्होंने कुषाण कला को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। वास्तव में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यद्यपि गुप्त काल में तक्षण-कला भारतीयता को केन्द्रीभूत कर अपनी शैली में एक नई टेक्नीक कायम कर गई फिर भी उसी ने कुषाणकालीन कला को उसके न्याय-विन्दु तक पहुँचाया। गुप्त-युग से पहले यद्यपि कुषाण कला ने गान्धार शैली से अपनी कला-पद्धति भिन्न कर ली थी, परन्तु उसकी टेक्नीक के प्राण अब भी बहुत कुछ ग्रीक आदर्शों में ही बसते थे। भारतीय-करण कुषाण-युग ने ही आरंभ कर दिया था, परन्तु उसकी पराकाष्ठा गुप्त-काल में हुई। आज भारत के विविध संग्रहालयों में जो हम हजारों बुद्ध प्रतिमाएँ देखते हैं उनका आरंभ कुषाण-काल में ही हुआ। आज कौन मान सकता है कि इतनी अति-भारतीय, इतनी सुन्दर बुद्ध-प्रतिकृति वास्तव में भारतीय नहीं हैं और कुषाण तक्षकों की सूझ का फल है। बुद्ध का वास्तविक रूप क्या था, उनकी आकृति कैसी थी यह हम नहीं कह सकते, परन्तु उनका रौप्यक्तीकरण इसी कारण अत्यन्त कठिन भी हो उठता है और कुषाण तक्षक के लिये यह कुछ कम गौरव की

बात नहीं कि जिस मानस-मूर्ति की अमूर्त कल्पना कर उसने उसे अंग-प्रत्यंग दिए वह चल पड़ी। सदियों से आज वह संसार की एक बड़ी जनसंख्या की पूज्य प्रतिमा है। भारत में उस समय, संभवतः कुछ पूर्व से ही, भक्तिवाद लहरा रहा था। हीनयान से श्रद्धालु बौद्ध उपासक ऊब चुके थे, उन्हें मूर्त देवता की आवश्यकता थी। कुषाण तक्षक ने उन्हें उनका वह मूर्त देवता प्रदान किया। पहले बुद्ध की नहीं, उनके संकेतों—पदांक, छत्र, उष्णीष, बोधि वृक्ष, आदि की पूजा होती थी। अब कुषाण कलाकार ने बुद्ध को पुरुषाकार देकर उसमें प्राण फूँके। पहले यह मूर्ति हिन्दू-ग्रीक छेनी से कोरी जाकर अपोलो के रूप में प्रस्तुत हुई फिर उसने तथागत की अवैकल्पिक (standard-ized) आकृति धारण की। मथुरा और अमरावती के तक्षण गृहों को जिस गान्धार शैली ने टेकनीक की क्षमता प्रदान की उसका केन्द्र कुषाण राज कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी कुषाण-साधना के फल फले। कुषाणों का दृष्टिकोण बहुदेशीय था। इतिहास में वे मध्य एशियाई, ग्रीक, और भारतीय संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के साधन बने। कनिष्क अनेक संस्कृतियों के देवताओं में विश्वास करता था और उसके सिक्कों पर ग्रीक, मिश्रित, पारसी, भारतीय देवताओं का अपूर्व समारोह है। उन पर निम्नलिखित देवताओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं—हिरैक्लिज, सेरापिज, हेलियास, [सूर्य], सेलेनी [चन्द्र] मिहिर, अथो [अग्नि], ननाइया [अदिति], शिव, बुद्ध, आदि। कनिष्क स्वयं कट्टर बौद्ध था। उसी के प्रभाव और प्रयास से महायान भक्ति पर बौद्ध सम्प्रदाय का उदय हुआ और बुद्ध की प्रतिमा

कोरी गई। वह बौद्ध भिक्षु, कवि और दार्शनिक अश्वघोष को बलपूर्वक पाटलिपुत्र से उठा ले गया। अश्वघोष और पार्श्व की सलाह से वसुमित्र के सभापतित्व में उसने चौथी बौद्ध संगीति बुलाई और कश्मीर की सुन्दर घाटी श्रीनगर में उसकी बैठक कराई। संगीति के कथनोपकथन और उसके भाष्य-प्रभाष्य धातु के पत्तरों पर खुदवा कर उसने पेशावर में एक नए स्तूप में रखवाया। भारतीय बौद्ध धर्म कनिष्क की सेवाओं से उऋण नहीं हो सकता। उसके महान समसामयिक, पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, और नागार्जुन, बौद्ध दर्शन के उन्नत स्तम्भ हो गए हैं और इनमें अन्तिम भिक्षु का नाम तो महायान संप्रदाय के उदय से संबद्ध है।

कुषाणों की एक विशिष्ट देन वेशभूषा के क्षेत्र में है जिसे अनजाने हम आज भी बरत रहे हैं। 'कुर्ता', 'अचकन' [शेरवानी, अँगरखा, चपकन, चोगा] और 'पाजामा' जो आज भारत में राष्ट्रीय पोशाक समझे जाते हैं वास्तव में कुषाणों की ही देन है। भ्रमवश कुछ लोग इन्हें मुसलमानों की देन समझ बैठे हैं। कुर्ता के संबंध में कुछ संदेह हो सकता है क्योंकि उसका प्रयोग संभवतः हिन्दू-ग्रीकों ने भारत में किया। उनका अपना आच्छादन विशेषतया 'ट्यूनिक' था जिसकी बनावट कुर्ते से प्रायः सर्वथा मिलती थी। परन्तु अचकन और पाजामा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता और उनके सम्बन्ध में हमें कुषाणों का ही उपकार मानना पड़ेगा। रोमन 'तोगा' और मध्य एशियाई 'चोगा' प्रायः समान थे और उनका भारतीय रूप अचकन आदि निस्सन्देह कुषाणों ने ही प्रचलित किए। कुषाण सैनिक चोगा, पाजामा और मध्य एशियाई बूट पहनते थे और वे भारतीय संग्रहालयों में उनकी प्रस्तर

प्रतिकृतियों पर सर्वत्र देखे जा सकते हैं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित स्वयं कनिष्क का मस्तकहीन शरीर इनको धारण किए हुए हैं। उसके चोगे के नीचे एक लम्बा ढीला अँगरखा-सा है जो कालान्तर में कुर्ता हो गया होगा।

भारत की उत्तर-पश्चिमी जनसंख्या में भी कुषाणों ने अपना एक अनुपात छोड़ा है। गुप्तों से हार कर कुषाण काबुल और सीमा प्रान्त की ओर चले गये गए थे और वहाँ सदियों तक भारत की रक्षा में उन्होंने प्रहरी का कार्य किया था। बाहर से आने वाले हमलों को सदियों तक उन्होंने अपने पर लिया। पहले उनका विरुद 'शाहिशाहानुशाहि' था, अब वे केवल शाही कहलाने लगे थे। अलबेरूनी ने उनके साठ राजाओं के नाम गिनाए हैं। भारतीय सीमा के प्रहरी बनने से पूर्व प्रबल गुप्तों ने उन्हें मध्यदेश से निकाल दिया था यद्यपि उन्हें विदेशी कहने का किसी को अधिकार न था। अब वे इस अपनी नई सीमा भूमि और काबुल में ब्राह्मण-क्षत्रिय बन गए थे और गुप्तों के प्रयास पर व्यंग की हँसी हँसते वे हिन्दू जाति का हृदय बने रहे। अन्त में भारतीयता की रक्षा करते हुए ये कुषाण-शाही इस्लाम की चोट से विनष्ट हो गए। भारतीय राजनीति से अवश्य उनका लोप हो गया, परन्तु उसके सामाजिक स्तरों में निस्संदेह कुषाणों की अपनीयता बनी रही। आज उनको ढूँढ़ निकालना असंभव है।

गुप्त सम्राटों के भारतीय रंगमंच पर आने तक संस्कृति की एक नई पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। यह काल तीसरी चौथी शती ईस्वी का था। गुप्तकालीन हिन्दू संस्कृति तत्कालीन जनता की अस्पष्ट सम्मिलित पैतृक थी। उसका सामंजस्य अभी शेष था जिसे गुप्तों ने दिया। गुप्तों ने उस तरल सामूहिक परस्पर

प्रतिकृतियों पर सर्वत्र देखे जा सकते हैं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित स्वयं कनिष्क का मस्तकहीन शरीर इनको धारण किए हुए हैं। उसके चोगे के नीचे एक लम्बा ढीला अँगरखा-सा है जो कालान्तर में कुर्ता हो गया होगा।

भारत की उत्तर-पश्चिमी जन संख्या में भी कुषाणों ने अपना एक अनुपात छोड़ा है। गुप्तों से हार कर कुषाण काबुल और सीमा प्रान्त की ओर चले गये गए थे और वहाँ सदियों तक भारत की रक्षा में उन्होंने प्रहरी का कार्य किया था। बाहर से आने वाले हमलों को सदियों तक उन्होंने अपने पर लिया। पहले उनका विरुद 'शाहिशाहानुशाहि' था, अब वे केवल शाही कहलाने लगे थे। अलबेरूनी ने उनके साठ राजाओं के नाम गिनाए हैं। भारतीय सीमा के प्रहरी बनने से पूर्व प्रबल गुप्तों ने उन्हें मध्यदेश से निकाल दिया था यद्यपि उन्हें विदेशी कहने का किसी को अधिकार न था। अब वे इस अपनी नई सीमा भूमि और काबुल में ब्राह्मण-क्षत्रिय बन गए थे और गुप्तों के प्रयास पर व्यंग की हँसी हँसते वे हिन्दू जाति का हृदय बने रहे। अन्त में भारतीयता की रक्षा करते हुए ये कुषाण-शाही इस्लाम की चोट से विनष्ट हो गए। भारतीय राजनीति से अवश्य उनका लोप हो गया, परन्तु उसके सामाजिक स्तरों में निस्संदेह कुषाणों की अपनीयता बनी रही। आज उनको ढूँढ़ निकालना असंभव है।

गुप्त सम्राटों के भारतीय रंगमंच पर आने तक संस्कृति की एक नई पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। यह काल तीसरी चौथी शती ईस्वी का था। गुप्तकालीन हिन्दू संस्कृति तत्कालीन जनता की अस्पष्ट सम्मिलित पैतृक थी। उसका सामंजस्य अभी शेष था जिसे गुप्तों ने दिया। गुप्तों ने उस तरल सामूहिक परस्पर

विरोधी रीति राशि को संघटित रूप दिया और उनके आदर्शों और सामाजिक विधानों-उपविधानों से प्र संस्कृति का आधुनिक रूप निखरा। इसी काल पुराणो यन हुआ और आधुनिक हिन्दू संस्कृति को पौराणिव प्राप्त हुई। यह एक अपूर्व समष्टि का युग था जब ईश्वर-विरोधी बुद्ध तक अवतारों की श्रेणी में आदृत द्वन्द्वात्मक सारे परस्पर विरोधी विचार घुल मिल रूप में संघटित हुए।

गुप्तों के उत्कर्ष काल में चीन के पश्चिमी प्रांत व एक तूफान चला जिसने साम्राज्यों को छिन्न भिन्न क रोमन साम्राज्य इस तूफान से टकरा कर चूर चूर हं हूणों ने पाँचवीं शती के मध्य में गुप्त साम्राज्य पर भी आरंभ किए। स्कन्द गुप्त के प्रयास ने कुछ काल तक दूर रखा पर उनके सतत प्रहारों से पाचवीं सदी के गुप्त साम्राज्य का वह विशाल सामन्तीय संघ भहरा हूणों के साथ ही साथ अथवा शीघ्र ही बाद गुर्जर आ जातियाँ भारत में प्रविष्ट हुईं और यहाँ के जन स्रोत में कर एक हो गईं। इनका सम्मिश्रण काफी व्यापक हु चूँकि वे विजेता थीं और भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्थान नहीं ग्रहण कर सकतीं थीं, वे अपने विजित पर स्वामी बन बैठीं। वर्तमान राजपूतों के अनेक हूणों और गुर्जरों से प्रादुर्भूत हैं। गुर्जरों ने तो भारत विशिष्ट सम्राट-कुल (गुर्जर प्रतिहार) की नींव डाल भारत के एक विस्तृत भाग गुजरात का नाम अपनी सार्थक किया। गुर्जर संभवतः जाट और अन्य जाति साम्राज्य के ध्वंस के पश्चात् आनेवाली जातियों के वंश

भारतीय संस्कृति को स्पर्श करने वाली दूसरी जातियाँ वे थीं जो इस्लाम के झंडे के नीचे भारत में प्रविष्ट हुईं। ये निस्संदेह एक जाति की न थीं यद्यपि इनका धर्म था। मुहम्मद बिन-कासिम के ७१२ ई० के हमले से लेकर सोलहवीं शदी तक लगातार मुस्लिम जातियों का आगमन होता रहा। उनके आने तक भारतीय समाज की धारणा शक्ति नितान्त कुण्ठित हो चुकी थी और उसका सामंजस्य नवागतों के साथ न बैठ सका। उनके आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक हित हिन्दू जीवन के सर्वथा विरुद्ध पड़े और दोनों में किसी प्रकार का संपर्क न बढ़ सका। विजेताओं ने हिन्दुओं के साथ किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध न रखा। उसके पूर्व हिन्दुओं का मुसलमान हो जाना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त जो हिन्दू जीवन की प्रिय बातें थीं उनसे विजेताओं को चिढ़ थी। इन कारणों से हिन्दू अपने विजेताओं को अपना विश्वस्त न बना सके। मुसलमान बहुसंख्यक शत्रुओं के देश में थे और उनकी रक्षा शक्ति और भय पर ही अवलम्बित थी, इससे उन्होंने भी सिवा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के उनको आकर्षित करने के और कोई प्रयास न किए। फिर भी दोनों संस्कृतियों की सन्निकटता और परिस्थितियों की शक्ति ने कुछ टिकाऊ परिणाम उत्पन्न किए। इस्लाम के साथ ही सूफ़ीवाद का भी प्रवेश हुआ और कबीर, नानक तथा अकबर ने दोनों संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित करने की प्रभूत चेष्टा की। एक नवीन संस्कृति—तत्वतः मुसलिम—का उदय हुआ जो धीरे धीरे भारतीय भूमि पर फैल चली और जिसे जनता के एक अंग ने स्वीकार भी किया। एक नई वेशभूषा, एक नई भाषा (उर्दू), एक नया सामाजिक आचार दिल्ली,

आगरा, जौनपुर, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद (दक्कन) आदि केन्द्रों में पनप चला। आधुनिक उदार दलीय राजनीतिज्ञों के पूर्ववर्ती मानसिंह, टोडरमल, बीरबल आदि ने पहले सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध हिन्दू और मुसलमानों में घना करने के प्रयत्न किए थे, परन्तु जनता के विरोध के कारण वे विफल हो गए थे।

भारतीय संस्कृति की अन्तिम ईकाई का प्रादुर्भाव यूरोपीय जातियों के सम्बन्ध में हुआ। सोलहवीं सदी से ही पुर्तगाली डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज भारत में आने लगे थे। वैसे ईसाई पादरियों ने बहुत पूर्व से ही ईसाई धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया था। यदि ईसाई ख्यातों पर विश्वास किया जाय तो उससे स्पष्ट है कि प्रथम शती ईस्वी में सन्त टामस ने भारत में भ्रमण किया था। भारत के साथ यूरोप के व्यापार से इस प्रकार के धार्मिक संबन्ध को पहले ही प्रश्रय मिला था। दो सदियों के ब्रिटिश शासन से भारतीय संस्कृति का यूरोपीय संस्कृति से संपर्क हुआ। यद्यपि सामाजिक दृष्टिकोण से यह संबन्ध बहुत फलप्रद न सिद्ध हो सका, तथापि इससे भारत का बौद्धिक और राजनीतिक विकास अमित मात्रामें हुआ। भारतीय साहित्य में एक नई शक्ति आई, नये रूप-गन्ध का सृजन हुआ, एक नई शैली का जन्म हुआ, एक नई टेक्नीक निखरी। इस नए क्षितिज से ही ब्रह्म समाज और थियोसाफिकल सोसाइटी का उदय हुआ। राष्ट्रीयता की भावना, प्रजातंत्रीय संस्थाओं और भौगोलिक सीमाओं के आधार पर भारत की राजनितिक भावना का उदय इस ब्रिटिश भारत संपर्क के कुछ स्पष्ट और श्रेयस्कर परिणाम हैं। भारतीय वेशभूषण और सामाजिक दृष्टिकोण पर भी इस सम्बन्ध का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है।

हिन्दू वर्ण व्यवस्था की लौह दीवारें भी इस प्रभाव के फल-स्वरूप गिरती जा रही हैं। इन दो सौ वर्षों के सम्पर्क का एक परिणाम एक एंग्लो-इंडियन संकर वर्ग की उत्पत्ति भी हुई है। इस वर्ग की वर्तमान स्थिति डाँवाडोल है। न तो भारतीय समाज इनको खपा पाया है, न यह वर्ग ही अपने को उस संस्कृति से संबद्ध मानता है, और न अंग्रेज ही उसे अपना अंग समझते हैं। इस वर्ग के स्वप्न अभारतीय हैं। इधर हाल में इस वर्ग के कुछ अग्रगण्य व्यक्तियों ने अपनी दुर्बलता समझी है और वे अधिक से अधिक भारतीयता के पक्ष में हो चले हैं। इसके अतिरिक्त पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी आदि भी गोआ, पांडेचेरी आदि अपने शासन केन्द्रों में इसी प्रकार की जन संख्या का निर्माण कर गए हैं।

अनेक संस्कृतियों के संघर्ष से प्रादुर्भूत वर्तमान भारतीय संस्कृति का रूप अभी धुँधला तथा अस्पष्ट है। यह सही है कि कोई सांस्कृतिक रूपरेखा सर्वथा स्पष्ट नहीं होती। चूँकि संस्कृति अजस्र स्रोत है, कभी रुकती नहीं, फिर भी विशिष्ट काल-विभागों में उसका आकार बन जाया करता है जब तक उसकी किसी नई संस्कृति से टक्कर नहीं होती। फिर नए संपर्क से उसकी प्रणालिकाएँ खुल जाती हैं और उसके अनेक द्वारों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान होने लगते हैं। फिर एक बार उसका रूप बदल चलता है। परिवर्त्तन संस्कृति का प्राण है और नए वर्णों का परिधान उसके अस्तित्व का प्रमाण। कालान्तरों में यह अपने आय-व्यय का व्योरा लेती है और कुछ परिणाम के लिये अपनी काया स्पष्ट कर लेती है। भारतीय संस्कृति ने पहली बार आर्यों के आगमन और संघर्ष के बाद अपनी क्षति-लाभ का व्यौरा लिया था, गुप्त और राजपूत कालों

में उसने अपने आँकड़े सम्हाले। अब आजादी के आरम्भ और दासता के अन्त में उसे एक बार अपनी अस्पष्ट रूपरेखा स्थिर और स्पष्ट कर लेनी है।

भारतीय वर्ण—व्यवस्था अथवा अभिशाप

भारतीय वर्णों का आरम्भ कब और किन कारणों से हुआ यह बताना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं इनके कारण भी संभवतः प्रायः वे ही रहे होंगे जो अन्य देशों में वर्गों के उदय और विकास के रहे हैं। इन कारणों में मुख्य आर्थिक रहे हैं, इसे स्वीकार करने में शायद किसी को आपत्ति न होगी। आज अस्पष्ट किन्तु सुदूर अतीत में स्पष्ट आर्थिक कारण ही समाजिक व्यवस्था के जनक रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। इतना अवश्य है कि शोषक और शोषित वर्गों की स्पष्ट तत्कालीन विभिन्नता हमें आज पूरी पूरी दृष्टिगोचर नहीं हो पाती, परन्तु, चूँकि, उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में तब वर्तमान था। यह सिद्ध है कि उत्पादन की शक्तियाँ और उनके परिणाम समाज के आधार-स्तरों में सक्रिय थे। प्रगति चूँकि संघर्ष का परिणाम है और हम भारतीय इतिहास में प्रगति के दर्शन करते हैं यह तर्कसिद्ध है कि संघर्ष हुआ है और चूँकि धनराशि के अभाव और पूँजी के अल्पमात्रिक विकास के कारण आर्थिक वर्गों की अभिसृष्टि प्रत्यक्ष नहीं हो पाती हमें उस संघर्ष को जीवन के अन्य क्षेत्रों में ढूढ़ना होगा।

इन अन्य क्षेत्रों में प्रमुख और स्पष्ट क्षेत्र समाजिक व्यवस्था का रहा है। संसार की सारी प्राचीन सभ्यताओं में आर्थिक कारणों से पहले एक कृत्रिम वर्गीय समाज की व्यवस्था हुई है। इसका रूप पहले धर्म की छाया और उसकी आड़ में खड़ा हुआ और उसी की संरक्षा में धार्मिक गुरुओं के दाँव-पेंच में विकसित

हुआ। प्राचीन सभ्यताओं में सर्वत्र पहले पुरोहिताई का बोल-बाला हुआ। मिश्र में, सुमेर में, असीरिया और बेबिलन में, अक्काद और अबाम में, भारत और चीन में, ब्रिटेन और बर्मा में सर्वत्र पशु-बल के साथ धर्म-बल का उदय हुआ। पशुबल वास्तव में जनता का क्षत्रिय-बल था जिसकी कभी संरक्षता, कभी विरोध में धर्मबल का प्रसार हुआ। समाज में कुछ तो प्रमादी चिन्तक थे, कुछ सक्रिय समर्थ आक्रमण से अन्य दलों पर अपनी प्रभुता स्थापित करते थे, प्रमादी चिन्तक उनकी लूटी सम्पत्ति पर अपना स्वत्व स्थापित कर लेते थे। किस किस रूप में कहाँ कहाँ इस प्रच्छन्न नीति ने शोषण किया, इसका अध्ययन अत्यन्त रुचिकर होता हुआ भी इस लेख के लिए कुछ अप्रासंगिक ही होगा, यद्यपि सर्वथा अप्रासंगिक नहीं। इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि वर्गों का आरम्भ सदा किसी न किसी रूप में आर्थिक रहा है और जातियों का संक्रमण और पारस्परिक द्वन्द्व भी अर्थ जन्य ही रहे हैं। विभिन्न जातियों के पारस्परिक द्वन्द्व से भी सम्मिलित सामाजिक व्यवस्था में वर्गों का सृजन हुआ है। आरंभ में जहाँ धार्मिक दाँव-पेचों ने व्यवस्था में अपना प्रभुत्व स्थापित किया है, वहाँ समाज के शेष सारे स्तर निस्सन्देह पुजारियों के आक्रोश से स्तंभित हो गये हैं और उनके आदेश सिर आँखों पर रखे हैं। ब्रिटेन के, ड्रुइड' और बाबुल के पुजारियों के शिकंजे अपनी जनता को एक लम्बे कालतक इस प्रकार जकड़े रहे कि उसे अपनी स्वतंत्र स्थिति का गुमान ही कभी न होता था। बाबुल का व्यभिचार उसका इतना बड़ा प्रमाण है जिसके सामने भारत की देवदासी प्रथा अपना मुँह छिपा लेती है। बाबुल के मन्दिरों का उस बाबुली सभ्यता पर इस मात्रा में आतंक था

कि वहाँ नारी व्यभिचार से परे कोई वस्तु नहीं समझी जाती थी। प्रत्येक नारी प्रथमतः देवता की भोग्य थी—जड़ देवता में स्वयं अशक्त होने कारण अपना वह कार्यांश चेतन देवता अर्थात् अपने पुजारी को सौंपता है ! इस प्रकार का आचरण भारत के धार्मिक इतिहास में भी अनजाना नहीं है। इस आचरण में आपत्ति का परिणाम पुरोहित का आक्रोश था जो रौरव से कहीं भयंकर था।

वास्तव में स्वयं धर्म का उत्थान ही भय और पाखण्ड की छाया में हुआ। यहाँ केवल एक काल्पनिक उदाहरण दिया जा सकता है। सभ्यता के प्रारम्भ में एक व्यक्ति रात के अंधेरे में दौड़ता चला जाता है। उसे सहसा पत्थर की ठोकर लगती है, वह गिर जाता है। धीरे धीरे उसे होश आता है और वह तर्क करने लगता है। यह क्या है ? इसने मुझे मारा क्यों ? रात्रि का अन्धकार जंगल की सघनता, गाँव में 'जनों' के बीच वयोवृद्धों से सुनी पितरों की कथा की स्मृति सब एक साथ उसपर आक्रमण करती हैं। चोट से कहीं अधिक वेदना उसे उस डर के परिणामस्वरूप होती है जो धीरे धीरे उसके मानस को भर रहा है। उसके चिन्तन का आधार छोटा है पर चिन्तन का बोझ भारी। रात्रि की साँय साँय उसे अपकारी भयंकर स्थिति का बोध कराती है और गरीब उठ कर गाँव को बेसुध भागता है। सिंह पर सम्मुख आक्रमण करने में जिसे आह्लाद होता है, हाथी के मस्तक को जो अपने भाले के फलक पर तोल देता है, अज्ञात भय से वह सपद भाग रहा है। गाँव में पिता की गोद में वह दम तोड़ देता है पर दम तोड़ने के पहले वह अपनी मृत्यु का कारण भी बताता जाता है—पत्थर का आक्रमण।

प्रात: 'जन' का जन-जन उसके शव को देखता है, अप्रत्यक्ष शक्ति को सिर झुकाता है। 'जन' का प्रमादी चिन्तक सक्रिय हो उठता है। 'ले चलो इसके शव को शक्ति के पास'—वह कहता है। शव पत्थर के पास पहुँचाया जाता है। मृत व्यक्ति का नाम लेकर वह पूछता है—'कहाँ है वह, कहाँ गया ?' कोई उत्तर नहीं देता। आकाश और धरा से, सरित और निर्झर से, जन-जन से वह यही प्रश्न करता है। आकाश धरा चुप हैं, सरित-निर्झर चुप हैं, जन-जन चुप है। वह बोलता है— 'यह कहीं है, पर कहाँ है यह तुम नहीं जानते 'मैं' जानता हूँ।' सामने की शक्ति का यह भोज्य है; शक्ति कितनी कठोर है बाण मार कर देखो। पत्थर पर बाण मारे जाते हैं, उनके फलक टूट जाते हैं, भाले फेंके जाते हैं, उनकी नोक मुड़ जाती है। चोटकी प्रतिध्वनि पत्थरका अट्टहास सा लगता है। चिन्तक कहता है- 'शक्ति अन्नाद है, शव अन्न—उसका भोज्य, शव को उसपर रखो। । समय समय पर जीवित मनुष्य की इस शक्ति के प्रति बलि दो वरना इसी भाँति वह स्वयं जन-जनको मारकर खा जाएगी। किसकी कब बलि होगी यह 'मैं' बताऊँगा।' यह अन्तिम आदेश उस चिन्तक को प्रभूत शक्ति प्रदान करता है—वह अपने 'जन' के व्यक्तियों के धन और शरीर का स्वामी बन बैठता है। वह तर्क करता है—यदि नदी में जीवन नहीं वह बहती कैसे हैं ? समय-असमय जीवों को उदरस्थ कैसे कर लेती है ? वृक्ष में जान नहीं वह बढ़ता कैसे है ! निर्झर में प्राण नहीं वह नीचे गिर कर अनवरत ध्वनि क्योंकर उपजाता है ? चिन्तक प्रथम पुजारी है, पत्थर प्रथम देव है (उसी प्रकार नदी, वृक्ष, निर्झर आदि भी), शव प्रथम पितर है। धर्म की भाव परम्परा का इस प्रकार आरम्भ होता है। वही चिन्तक ब्रिटनों का

'ड्र्इड' है, बाबुल वासियों का पुरोहित है, आर्यों का ब्राह्मण है।

प्रारम्भिक काल में सतर्क चिन्तक एक परम्परा का आरम्भ करता है, उसके उत्तराधिकारी लोभ और भयवश उसका पोषण और विकास करते हैं। भारत में इस परम्परा का उद्-गम और विकास ऐतिहासिक है। उसकी नीव प्रबल आधार पर रखी गई है। आर्यों के भारत प्रवेश से कहीं पूर्व द्राविड़ों के वृक्षों और नाग-पूजा में ही पुरोहिताई के पाए रखे जा चुके थे। बलि प्रथा ने मानव को सशक्त और निर्बल दोनों बना दिया था—पुरोहित को सशक्त बलि को निर्बल। मोहन-जो-देड़ो और हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता में कभी का इस पौरो-हित्य का विकास हो चुका था, कभी से उसमें पुजारी सतर्क था। यह सम्भव नहीं कि जहाँ इतने पूजा के आँकड़े मिलें, पशुपति का कुल मिले, रेखांकित मुहरें मिलें वहाँ पुरोहित की सत्ता का अभाव रहा हो। अनेक आकृतियाँ वहाँ के भग्ना-वशेषों में ऐसी मिली हैं जिनका पुरोहितों का होना सर्वथा सिद्ध माना गया है। सर जान मार्शल, मैके, दीक्षित आदि अनेक विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता के इन भग्नावशेषों में धर्म के ये आँकड़े अनेक रूप से प्रचुर राशि में प्रस्तुत किए हैं।

'ऋग्वेद' की आर्य परम्परा ने इस पौरोहित्य को केवल जीवित ही न रखा, उसे सँवारा, प्रश्रय दिया और पराकाष्ठा तक विकसित किया। और ऋग्वैदिक आर्यों का वह आचरण स्थानीय धर्म व्यञ्जना का किसी प्रकार स्वीकरण भी न था। उनकी प्रथा अपनी थी, स्वतन्त्र और मौलिक, सशक्त और व्यापक। और उसका विकास भी उन्होंने नितान्त मौलिक रूप से किया यद्यपि उसमें आर्यों से प्राचीन भारतीय द्रविड़ व्यव-

स्था का प्रचुर पुट मिला। आर्य, भारत में उत्तरी ध्रुव, तिब्बत, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, रूसी मैदानों, कार्पेथियन शृंखला, बोहेमिया, लिथुएनिया, चाहे जहाँ से आए निस्सन्देह उनके पास पौरोहित्य की परम्परा सजग थी और वर्ण की संस्था किसी न किसी रूप में जन्म पा चुकी थी। वास्तव में सक्रिय समर्थ (क्षत्रिय) और प्रमादी चिन्तक (ब्राह्मण) की कल्पना कर लेने के बाद अन्य वर्णों का उदय एक 'स्वयं सिद्ध' विषय हो जाता है। आखिर आंगिरसों, काण्वायनों, आदि की जो गोत्र कुलों की शृंखला ऋग्वेद में मिलती है वह एक दिन में प्रस्तुत न हुई होगी, नहीं हो सकती। जिस पूजन-परम्परा का रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है यद्यपि उसका अधिकांश भारत में ही सार्थक था तथापि वह सारा का सारा भारतीय नहीं माना जा सकता। भारत की अपनी भूमि और अपनी देशीयता ने निस्सन्देह उसमें अपना असाधारण योग दिया और कालान्तर में उसे सर्वथा अपना बना डाला। ऋग्वेद की ऋचाओं के सामूहिक अथवा एकैकिक आलोचना से भी यह बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों की पौरोहित्य परम्परा सर्वथा भारतीय नहीं है।

स्पष्टतः सारे जनों ने, आगन्तुक सारे आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया परन्तु यह आक्रमण निश्चय केवल शाक्तिक नहीं था, बौद्धिक भी था और इस बौद्धिक आक्रमण की रूपरेखा परिश्रम से ऋग्वेद के अध्यन से खड़ी की जा सकती है। प्रतिपाद्य विषय के दर्शन में व्यभिचार हो जाने के भय से ही हम उस पर यहाँ विचार नहीं करते। बस इतना कहना यहाँ पर्याप्त होगा कि जहाँ आर्य सेना के इतर व्यक्ति शस्त्रास्त्रीय मार करते थे वहाँ इनके ऋषि पुरोहित उनकी विजयों के लिए

सत्कामना और देवताओं से प्रार्थना करते थे, साथ ही अपने देवताओं की क्रुद्ध आकृतियों का सृजन कर आर्यों में आशा और शक्ति का सञ्चार करते थे, शत्रुओं में त्रास भरते थे। जो विद्वान् ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' से भारतीय आर्यों के 'चतुर्वर्ण' का आरम्भ मानते हैं वे साधारण भ्रान्ति में नहीं हैं क्योंकि वे इस सत्य को भूलते हैं कि 'पुरुष-सूक्त' चतुर्वर्णों की व्यवस्था नहीं करता उस संस्था की अवस्था-विशेष का उल्लेख और परिगणन मात्र करता है। जिन चार वर्णों के सम्बन्ध में वह सूक्त कहता है कि वे ब्रह्मा के मुखादि से निकले उनका प्रादुर्भाव वह समकालीन न मानकर केवल अतीत-परक मानता है। चारों की अभिसृष्टि इस सूक्त की रचना के पूर्व हो चुकी थी—कितनी पूर्व ?—यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि कितने पूर्व वाले प्रश्न के उत्तर में दो प्रश्नों के उत्तर के अनुमान लगाए जा सकते हैं। प्रश्न केवल एक—चतुर्वर्ण कब बने ?—नहीं है। प्रश्न दो हैं—१ चतुर्वर्ण कब बने ? और २—चतुर्वर्ण—ब्रह्मा के पद से प्रजनित शूद्र—के प्रजनन से पूर्व प्रारम्भिक तीन वर्ण कब बने ? और उत्तर में शायद तृतीय वर्ण—वैश्य के ऐतिहासिक निर्माण पर भी प्रकाश डालना होगा यद्यपि वह केवल एक टेक्निकल उत्तर होगा क्योंकि वास्तव में प्रथम दोनों वर्णों—ब्राह्मण और क्षत्रिय—के उदय के बाद शेष जनता का वैश्य बन जाना स्वाभाविक ही है। हाँ शूद्रवर्ण का निर्माण निश्चय एक कालिक प्रश्न है और उसके सम्बन्ध का उत्तर उस संघर्ष पर भी विचार करेगा जो आर्यों और इहदेशिक अनार्यों में दीर्घकाल तक होता रहा था और जिसके परिणामस्वरूप विजित अनार्य, आर्य सामाजिक व्यवस्था के निम्नपदीय शूद्र बन गए। फिर

यह भी याद रखने की बात है कि इस शूद्र स्तर का निर्माण सर्वथा भारतीय अनार्यों की भरती से ही सम्पन्न न हुआ होगा। उस संक्रमण काल में जब आर्य देशान्तरों को लाँघते हुए भारत पहुँचे तो निस्सन्देह उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी होंगी, जिनमें से अनेक में वे विजयी भी हुए होंगे। उस समय के युद्धों की एक परम्परा थी—विजितों को तलवार के घाट उतार देना अथवा उन्हें बन्दी कर दास बना लेना। 'दास' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद ने किया है और खूब ही किया है। इसलिए कुछ अंश में तो यहाँ तक मानना पड़ेगा कि आर्यों के तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तो उनके भारत-प्रवेश से पूर्व निर्मित हो ही चुके थे, कुछ आश्चर्य नहीं कि शूद्रों का भी एकांश उनके साथ ही भारत में प्रविष्ट हुआ हो, यद्यपि उनका अधिकांश निस्सन्देह भारतीय युद्धों के परिणाम स्वरूप ही जन्मा।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, ब्राह्मण-क्षत्रियों को किसी न किसी रूप में व्यवस्था आर्यों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही संभवतः हो चुकी थी। इसका कारण यह है कि जिन कारणों से, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वर्णों अथवा वर्गों का उदय होता है आर्य-समाज में वे सारे कारण सारी, परिस्थितियाँ मौजूद थीं। जब आर्यों के अन्य यूरोपीय दलों में पौरोहित्य का प्रचार था और उनमें अपने-अपने पुजारी ब्राह्मण मौजूद थे तो यह कैसे सम्भव है कि भारतीय आर्यों में ब्राह्मणों का अभाव रहा होगा। जब हम निश्चय रूप से यह जानते हैं कि उस प्रारम्भिक रूप को विस्तार देकर उन्होंने भारत में आने के बाद अपनी सामाजिक व्यवस्था का उसे विशिष्ट अंग घोषित किया ? यदि उनमें उनके पुरोहित मौजूद थे जो उनमें यज्ञों के

अनुष्ठान करते थे और भारत में पहुंच कर भी शुनःशेप कीसी नरबलि की परम्परा को जिन्होंने बना रखा था तो यह कहना अत्यन्त अग्राह्य होगा कि भारतीय आर्यों की ब्राह्मण परम्परा एतद्देशीय ही है। हाँ यह कहा जा सकता है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व पौरोहित्य तो था और शायद क्षत्रियवर्ण का विधान भी परन्तु अभी इन वर्णों में वर्णीयता पूरी पूरी न आई थी—अर्थात् ब्राह्मण अभी क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण। ये दोनों कब और कैसे एक दूसरे से सर्वथा पृथक हो गए यह भारतीय इतिहास का एक मनोरंजक विषय है और इसका अनुशीलन किया जा सकता है। किस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा इनकी भी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ कालान्तर में बन उठीं और उन्होंने व्यक्तियों का पारस्परिक आवा-गमन, सहभोज, अन्तर्विवाहादि रोक दिया—यह सर्वथा भारतीय रहस्य है जो असाधारण है और जिसकी यह असाधारणता ही इसे अन्य देशों के वर्गों से पृथक करती है। इसका सम्बन्ध भारतीय इतिहास में इसकी क्रमिक प्रगति से है और हम नीचे उसी संघर्ष और प्रगतिपर विचार करेंगे।

पहले लिखा जा चुका है वर्णों के उदय का कारण आर्थिक है और वर्ण प्रायः वर्गों की ही सामाजिक संज्ञा है। वर्णों का आरम्भ पेशों अथवा कर्मों के आधार पर हुआ। ब्राह्मण (आर्यों के भारत प्रवेश से भी पूर्व) पहले पुरोहित था, 'जन' का 'ओझा'। उसका कार्य अधिकतर पौरोहित्य था जिससे वह अपने 'जन' के कल्याण के अर्थ ऊपरी प्रयत्न करता था, युद्धों में उसे प्रोत्साहित करता था, नरक का त्रास दिखाता था। 'जन' का वह सब से प्राचीन वर्ण अथवा वर्ग था और उसने अपने पेशे को धनबहुल और शक्तिबहुल बनाया। उसने कालान्तर

में अपने को 'ब्राह्मण' जिसका अर्थ (शाब्दिकरूढ़ि रूपमें) 'ब्रह्म'—देवता, अन्नादि का जाननेवाला था। तब धर्मके क्षेत्र में जितनी रहस्यमय शक्ति पुरोहित अपने को देवता का द्रष्टा (देखने वा जाननेवाला) कह कर अर्जित कर सकता था, आर्थिक क्षेत्र में 'अन्न' का उद्भवस्थान अथवा 'रहस्य जानने वाला' कह कर उससे किसी प्रकार कम नहीं कर सकता था। इस बात को न भूलना चाहिए कि अन्न अथवा आहार के अन्वेषण में ही प्रमुखतया जातियों के संक्रमण हुए हैं। इस रहस्य को जाननेवाला पुरोहित जब अपने को ब्राह्मण कहता है तब निस्सन्देह वह अपने श्रोताओं का ध्यान अपनी उस रहस्यमयी प्रभूत शक्ति की ओर आकृष्ट करता है जो उनके भीतर आशा और विरुद्ध परिणामतः त्रास का प्रजनन करता है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणवर्ग की अब तक अर्थात् आर्यों के भारत प्रवेश, प्रायः ३००० ई० पू० अभिसृष्टि हो चुकी थी, केवल उसकी सीमाएँ अभी अनुल्लंघनीय न थीं। उसमें क्षत्रिय अभी प्रविष्ट हो सकता था और ब्राह्मण को क्षत्रिय बनने की तृष्णा कभी हुई हो यह भारतीय इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता। यही स्वाभाविक भी है क्योंकि ब्राह्मण का पद अर्थ और शक्ति दोनों में क्षत्रिय से ऊँचा था। जीवन की सारी व्यवस्थाओं में ब्राह्मण आवश्यक और अकाट्य था। जन्म से मरण पर्यन्त उसका साका चलता था। क्षत्रिय राजा का अभिषेक वही कराता था, उसके यज्ञानुष्ठान वही करता था, उसका मन्त्रित्व भी अनेकांश में वही करता था और उसकी निरंकुशता की सीमाएँ निर्धारण करनेवाली 'सभा' और 'समिति' में उसकी वाणी गूँजती थी। उसी के पुरोहित-पद के लिए वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच संघर्ष छिड़ा जिसके परिणाम में वैदिक

काल का सबसे विकट दस राजाओं का 'दाशराज्ञ' युद्ध हुआ। ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि कभी ब्राह्मण ने इस काल राजत्व के लिए प्रयास किया हो, हाँ इसके अनेक उदाहरण हैं कि क्षत्रिय ने पुरोहित-पद के प्रयत्न किए विश्वामित्र का उदाहरण इसी प्रकार का एक है, शन्तनु के बड़े भाई देवापि ने भी शासन से वंचित होते ही पुरोहित-पद के लिए प्रयत्न किया था और उसे हस्तगत कर भाई के यज्ञ में प्रधान ऋत्विज् का कार्य भी किया था।

इसी प्रकार क्षत्रिय का वर्ण भी सम्भवतः आर्यों के भारत में आने से पूर्व ही रूप धारण कर चुका था। इसका प्रमाण यह है कि ऋग्वैदिक काल तक पहुँचते पहुँचते कभी का निर्वाचित राज-पद कुलागत हो गया था। फिर राजा भी राजन्य ही होता था। राजा चुनने वाले पदाधिकारियों (राज-कृतों) में से कुछ 'राजन्य' कहलाते थे। इनकी यह संज्ञा न होती यदि वे क्षत्रियवर्ग के न होते। स्पष्ट है कि राजन्यों का एक पृथक् वर्ण अब तक बन चुका था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में जो राजाओं की क्रमिक तालिका मिलती है उनमें से अनेक पिता-पुत्रों की हैं। सिद्ध है कि इन शृंखलाओं की अन्तिम कड़ियाँ ऋग्वेद की समकालीन हैं, इससे इनकी प्रारम्भिक कड़ियाँ सम्भवतः ऋग्वेद से भी प्राचीन प्रमाणित हुई। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण भी ऋग्वेद के भारतीय काल से पूर्व ही अपना आकार स्पष्ट कर चुका था।

क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था हो चुकने पर वैश्यों का भी रूप स्थिर हो चला। कारण कि साधारण जनता के लिए ऋग्वेद में जिस शब्द का प्रयोग हुआ है वह है 'विश', जिसका प्रयोग राजा के निर्वाचन के अवसर पर 'विश तुम्हें वरण करता है',

आदि वक्तव्यों में मिलता है। इसी विश की वर्ण विषयक संज्ञा 'वैश्य' हुई और उससे सेवित सामूहिक संपत्ति-सी नारी 'वेश्या' कहलाई। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों के पृथक् वर्ण बन जाने के बाद शेष जनता अपने आप वैश्य कहलाई। जहाँ तक रक्त का सम्बन्ध है सम्भवतः इन वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों में कोई भेद न था, कम से कम वैश्यों और क्षत्रियों में तो सर्वथा नहीं यद्यपि उनके कुल-गोत्रादि भिन्न थे। इतना ही कहा जा सकता है कि क्षत्रिय अथवा राजन्य सम्भवः अभिजात कुलीय वैश्य या विश थे। धीरे-धीरे भारतीय भूमि पर दीर्घ कालिक निवासने क्षत्रियों को वैश्यों से पृथक् करने के आवश्यक कारण उपस्थित कर दिए होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय राजनीति में विशिष्ट हो गए थे। इनमें क्षत्रिय तो राजकृत्' होने के अतिरिक्त योद्धा भी थे जिनका मुख्य कर्म युद्धों में भाग लेना ही रह गया था। इन्हीं की प्राचीन परम्परा को संभवतः पाश्चात्कालीन गणतंत्रीय यौधेयों ने कायम रखा था। आरम्भ में सारा विश—क्षत्रिय, वैश्य और कुछ अंशों में सम्भवतः ब्राह्मण भी—शत्रुओं से लड़ता रहा होगा परन्तु पश्चात्काल में जब शत्रुओं के विनाश के बाद युद्धों की संख्या कम हो गई, जीवन प्रायः शान्ति का हो गया, तब साधारण जनता—राजन्येतर विश अथवा वैश्य—कृषि, पशु पालन, व्यापारादि में लगी और तभी से वैश्यवर्ण ने एतदर्थक अपने कर्तव्य सम्हाले।

शूद्रों के सम्बन्ध में जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, वे सम्भवतः 'विश' नहीं थे, शायद आर्य भी नहीं थे। अपने भ्रमण के योग में आर्यों ने जो युद्ध किए उनमें उन्होंने अनेक दास बनाए। कुछ शूद्र तो ये दास थे, कुछ भारतीय विजयों को पर-

म्परा ने द्रविड़ों में से प्रस्तुत किए। इन शूद्रों का स्थान दर्पप्राण आर्यों के समकक्ष किसी प्रकार नहीं हो सकता था। ये वास्तव में दासों के अनुरूप थे और इनका कर्तव्य भी ऊपर बताए तीनों आर्य वर्णों की सेवा करना ही माना गया। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुष-सूक्त के काल स्तर तक पहुँचते पहुँचते इस चतुर्वर्ण की सृष्टि हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि शूद्र इस चतुर्वर्ण के ही एक अंग-निम्नतम थे—परन्तु वास्तव में 'सवर्ण' वे थे नहीं। निस्सन्देह अब तक अर्थात् ऋग्वैदिक निम्नतम काल-स्तर—लगभग १५०० ई० पू०—तक द्रविड़ों के साथ संपर्क बढ़ चुका था और सामाजिक सम्मिश्रण भी प्रचुर मात्रा में हो चुका था यद्यपि यह सम्मिश्रण प्रारम्भ में केवल श्रम सम्बन्धी ही रहा होगा। परन्तु द्रविड़ों की आर्येतर नागरिक संस्कृति के साथ आर्यों का सम्बन्ध होते ही उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ जिससे उनके पूजा-विधान, रहन-सहन, आचार-विचारादि में प्रभूत अन्तर पड़ा। उनकी सांस्कृतिक व्यवस्था द्रविड़ों की संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुई। आर्यों का ग्राम-जीवन अब द्रविड़ों के नागरिक जीवन की अपेक्षा करने लगा। नगरों के उत्थान के साथ साथ शायद उस अमानुष घृणित मानव परिवार की अभिसृष्टि हुई जो श्वपच, अन्त्यज, आदि के नाम से जाने जाते हैं, जो नगर के बाहर बसाये जाने लगे और जिनकी सृष्टि आर्यों की सामाजिक नीति पर कालिमा की एक गहरी छाप है। यह पाँचवाँ वर्ण ही आज के निम्नतम अछूत हैं जिनको मनुष्यता के कोई अधिकार प्राप्त नहीं, जो वर्ण-व्यवस्था के घृणित शिकार हैं और जो भारत के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दिगन्त घोषित उदार नीति पर मूर्तिमान व्यंग हैं।

२

ऋग्वैदिक काल के बाद उत्तर वैदिक काल का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि रचे गए। इस काल-विस्तार में आर्येतरों के साथ आर्यों के युद्ध प्रायः बन्द हो गए थे। परन्तु स्वयं उनमें अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया था और अक्सर युद्ध हो जाते। इस काल में इस युद्ध ने दो रूप धारण किए—एक तो साधारण स्पष्ट युद्ध का, दूसरे वर्ण अथवा वर्ग-संघर्ष का। अब तक जनपद--राज्यों का उदय हो चुका था जिनमें केकय, कुरु पंचाल, काशी कोशल और विदेह के राज्य मुख्य थे। इनका जब तब परस्पर टकरा जाना कुछ अस्वाभाविक न था। परन्तु फिर भी इस युद्ध का रूप साधारण ही था। दूसरा असाधारण युद्ध जो वर्ण अथवा वर्ग-संघर्ष के रूप में हुआ वह आर्य-समाज के ही दो अभिजात कुलीय वर्गों–ब्राह्मणों और क्षत्रियों–में हुआ। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद् विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल प्रसार काफ़ी लम्बा रहा जो अन्ततः द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के रानीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ इसमें एक ओर तो वसिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतञ्जलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा थी दूसरी ओर विश्वामित्र देवापि, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध, बृहद्रथ की। इस युग में दोनों—ब्राह्मण और क्षत्रिय--वर्णों ने अपनी सीमाएँ ऊँची कर लीं और एक दूसरे में पारस्परिक सामाजपरक आयात-निर्यात बन्द हो गया। परन्तु विवाह अब भी जब तब एक दूसरे मे होते रहे।

गुप्तकाल (पाँचवी शती ईस्वी) और बाद तक इस प्रकार के अन्तर्वर्ण-विवाहों के होते रहने के प्रमाण मिलते हैं। वास्तव में इस प्रकार विवाहों की संख्या पूर्व वैदिक काल में तो प्रचुर थी और उनसे प्रजनित सन्तान पिता के वर्ण की समझी जाती थी। औशिज, कवष, कक्षीवान् इस प्रकार की सन्तान थे जो ऋषि-संज्ञा से कभी विभूषित हुए थे। परशुराम भी इसी प्रकार के वर्ण-मिश्रण के एक प्रबल उदाहरण थे। परन्तु क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाना अब किसी प्रकार सम्भव न था।

३

उपनिषत्काल के पिछले स्तरों से प्रायः छठी शती ई० पू० से ही सूत्र-काल का उदय होता है। इस काल में ब्राह्मणों ने फिर से भारतीय समाज की व्यवस्था करनी चाही और की। यह काल धर्म-सूत्रों और कल्प-सूत्रों का था। कल्प-सूत्रों में उन्होंने फिर से यज्ञों और अनुष्ठान-क्रियाओं पर विचार किया, उन्हें विस्तृत किया। पूर्व वैदिक काल के चार पुरोहितों की संख्या ब्राह्मण-काल में ही बढ़कर उन्नीस हो गई थी। अब उनकी संख्या मै उनके सहायकों के सैकड़ों तक जा पहुँची। गृह्य-सूत्रों में उन्होंने व्यक्तिगत आचार-नियमों का उल्लेख किया। वर्णों के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जन्म से मृत्यु तक विधानों से जकड़ दिया गया। पुंसवन-गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि—वार्षिक श्राद्ध तक के सोलह संस्कार व्यक्तिगत जीवन के अभिशाप बन गए। संस्कारों के अतिरिक्त व्यक्ति के जीवनकाल को चार भागों में विभक्त कर दिया गया—१. ब्रह्मचर्य, २. गार्हस्थ्य, ३. वाणप्रस्थ और ४. सन्यास। परन्तु इन 'आश्रमों का वास्तविक उपयोग उनके अनुसरण में कम, भंजन

में अधिक हुआ। धर्म-सूत्रों ने समाज को अनन्त नियम दिए—वर्णों को विविध कर्तव्यों की सूची दी। कर्तव्याकर्तव्य का उन्हें ज्ञान कराया, राज-धर्म का प्रणयन किया, शूद्रों और नारियों को स्वत्वहीन कर निर्वर्ण कर दिया, उन्हें दासों की कोटि में ला बैठाया। बौधायन और आपस्तम्बने वर्णाश्रम धर्म का विशाल दुर्ग भारतीय समाज के प्रांगण में खड़ा किया। धर्म-सूत्रों के आधार पर धर्मशास्त्रों की रचना हुई जिन्होंने ब्राह्मणों को 'भूसुर' का पद दिया, शूद्रों को कृपापात्र सेवकों का। धर्म सूत्रों ने पहले ही प्रथम तीन वर्णों को संस्कारों के आधार पर 'द्विज' की संज्ञा प्रदान की थी परन्तु अब धीरे धीरे इस 'द्विज' की परिभाषा में भी संकोच होने लगा और शीघ्र इसका प्रयोग पहले ब्राह्मण-क्षत्रियों के अर्थ फिर केवल ब्राह्मणों के सम्बन्ध में होने लगा।

मानव-धर्म-शास्त्र, याज्ञवल्क्य-स्मृति, वसिष्ठ-स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति-स्मृति आदि ने घटा-बढ़ाकर उन्हीं सूत्रों की परम्परा को जीवित रखा। सूत्रों में ही बाल-विवाह का विधान हो चुका था। धर्म-शास्त्रों का यह युग कायिक और मानसिक बन्धन का युग था। इस समय सन्त्रस्त ब्राह्मण समाज-शास्त्री केवल अपनी रक्षा के हेतु नहीं वरन् अपने वर्ग के भविष्य के निर्माण के अर्थ भी प्रयत्नशील था। आगे आनेवाली जनता यदि अपने प्रजनक पूर्वजों की और सहसन्तति थी तो उसे इस शृंखलाबद्ध परम्परा को स्वीकार कर उसे वहन करने में कोई आपत्ति न हो सकती थी और अनन्त अनन्त विधानों का जो प्रसार उसके सामने आया उसके विरुद्ध आश्चर्य है उसने विशेष रूप से, सिवा बुद्ध के यदि वे इस काल के अधिक पूर्व न हुए, आवाज नहीं उठाई। स्वयं वर्णों में शाखाएँ

फूट पड़ीं और निचले स्तरों, विशेषकर वैश्यों और शूद्रों में तो निस्सीम शाखाएँ फूटीं। वर्णों में परस्पर जो थोड़ा ही थोड़ा सम्मिश्रण हुआ था उससे भी अनेक नई 'जातियाँ' उठ खड़ी हुई थीं जो धर्मशास्त्रों के विधानों को चेतन-अचेतन रूप से अङ्गीकार करने को तत्पर थीं। इस विधान-शृङ्खला की अभि-सृष्टि उसके निर्माताओं के लिए कम गर्व की वस्तु न थी और फलतः ब्राह्मण अपनी विजय से संतुष्ट हो कर सुख की नींद सोने ही वाले थे कि भारत की इस नवजात प्रणाली पर चोट कर एक नई बाह्य शक्ति ने इसे टूक-टूक कर दिया। यह नई शक्ति थी विदेशियों का आक्रमण।

४

द्वितीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शती ईस्वी तक भारत पर निरन्तर विदेशी आक्रमण होते रहे। हिन्दू-ग्रीक, हिन्दू-पार्थव, शक, कुषाण एक के बाद एक टूटते और अपनी बर्बर चोट से भारतीय राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को कुचलते तथा छिन्न भिन्न करते रहे। उनके सतत आक्रमणों से सूत्रों और धर्मशास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था बिखर गई। सूत्रों ने जो अनेक प्रकार की शृंखलाओं से विभिन्न वर्ण-स्तर प्रस्तुत किए थे इन चोटों से वे तार तार हो गए।

इन विदेशियों को अव्यवस्थित होने के कारण भारतीय समाजशास्त्रियों ने बर्बर और म्लेच्छ कहा। सही, उनमें वर्ण-व्यवस्था न थी और वे इस भारतीय विचित्रता को समझ भी न सके। उनका आहार-विहार एक साथ होता था विवाह, आपस में निर्बाध होता था। इनके ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न तो वे बर्दाश्त कर सकते थे, न समझ सकते थे।

ग्रीकों ने भारत पर हमला कर पाटलिपुत्र तक रौंद डाला और सिन्ध, पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाब में अपने सुदृढ़ राज्य खड़े किए जिन्हें उन्होंने सदियों तक भोगा। शकों के हमले पहले अत्यन्त विध्वंसक हुए और उन्होंने भारतीय वर्ण-पद्धति की जड़ तक हिला दिया। अम्लाट का हमला, जिसका वर्णन गार्गी-संहिता के युग-पुराण ने किया है, अत्यन्त दारुण था। इस हमले से भारतीय राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गए, साम्राज्यों के प्रान्त बिखर गए, वर्णों की पारस्परिक सीमाएँ विलुप्त हो गईं। पाटलिपुत्र से पुरुषों का सर्वथा लोप हो गया। आचार क्षत-विक्षत हो गया। ब्राह्मण चाण्डाल का आचरण करने लगे, शूद्र ब्राह्मण से बराबरी का दावा। वर्ण धर्म में ब्राह्मण का उतना ही स्वत्व था जितना राज-धर्म में क्षत्रिय का। इस व्यवस्था से राजशक्ति भी बल पाती थी और स्वयं वह इसकी तत्परता से रक्षा करती थी। वर्ण-व्यवस्था और राजशक्ति प्रायः परस्परावलम्बी थे, दोनों अभिजात कुलीय ब्राह्मण और अभिजात कुलीय क्षत्रियों की शक्ति के आधार थे। राज शक्ति छिन जाने पर क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ साझा न कर सका।

यह युग अत्यन्त उथल-पुथल का था। इसी से युग-पुराण उसके पूर्वकाल के अन्त को 'युग-क्षय' कहता है। सारा उत्तरी भारत लहू लुहान हो रहा था मध्यदेश जो सदा वर्ण-धर्म की पृष्ठभूमि रहा था 'म्लेच्छों' के अनियन्त्रित अव्यवस्थित दुराचार का प्रांगण बन गया। विदेशियों ने स्वाभाविकतया भारतीयों को केवल शत्रु समझा और जैसा युद्धों में प्रायः होता है उनके साथ अनेक बार पशुवत आचरण किया। और उनके प्रति उनका देवतुल्य आचारण भी केवल उनके ही अर्थ में हो सकता था, भारतीयों के अर्थ में नहीं, क्योंकि भारतीय वर्ण-

व्यवस्था उनकी जानी न थी और वे वर्ण-वर्ण में किसी प्रकार का अन्तर डाल कर उनसे पृथक्-पृथक् व्यवहार नहीं कर सकते थे। यह असमान व्यवहार ही तो वर्ण-धर्म की शिलाभित्ति थी!

शकों की ही भाँति आभीरों और कुषाणों ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने-अनजाने घाव किए। कुषाणों का शासन किसी न किसी रूप में उत्तर भारत में दूसरी सदी ईस्वी के अन्त तक जमा रहा। शकों ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा, महाराष्ट्र पाँच केन्द्र बनाए थे, आभीर उनके पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर में। परन्तु वर्ण-धर्म के गुण-दोष भारतीयों की नस-नस में पैठ गए थे। वे मनुष्य को स्वतन्त्र नैसर्गिक सत्ता देने को तत्पर न थे। उसे वे केवल अपने बनाए ऊँच-नीच के स्तरों में ही स्वीकार कर सकते थे। दिमित्रिय के आक्रमण के बाद जो वर्ण-क्षय हुआ था उसे तो कुछ काल तक पतञ्जलि और पुष्यमित्र शुङ्ग ने सम्हाला। इस ब्राह्मण-सम्राट् ने विचलित वर्ण-प्रणाली को फिर से स्थापित करने की प्रभूत चेष्टा की। संस्कृत को राजपद अर्पित किया, यज्ञानुष्ठानों को पुनः सञ्जीवित किया, स्वयं दो-दो अश्वमेध किए, वर्ण-विद्वेषी बौद्धों के विहार और मठ पाटलिपुत्र से स्यालकोट तक जला डाले, उनके सहायक और वर्ण-विध्वंसक म्लेच्छ ग्रीक-यवनों को परास्त कर मध्यदेश से बाहर कर दिया। मानव धर्मशास्त्र की रचना कर फिर उसने एक बार ब्राह्मण को भू-देवता के आसन पर ला बैठाया, पर वर्ण-व्यवस्था की दीवारें फिर भी एक बार हिल गईं, प्रायः नींव तक, यद्यपि वे गिरी नहीं। कारण कि कम से कम कुछ काल तक राजनीतिक सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में चली गई। उत्तरी भारत पहले शुङ्गों के हाथ में रहा फिर काण्वायनों के, पूर्वी

भारत चेदियों के शासन में रहा और दक्षिणी भारत आंध्र-सातवाहनों की रक्षा में। चारों कुल ब्राह्मण थे। विदेशी आक्रमणों ने उत्तर भारत में तो वर्ण-धर्म पर युग प्रवर्तक चोटें की परन्तु दक्षिण में उनका प्रभाव न पड़ सका। सातवाहन अपनी व्यवस्था पर दृढ़ बने रहे।

एक बात यहाँ विशेष प्रकार से समझ लेने की है कि भारतीय सामाजिक विधान और वर्ण-धर्म यकायक की चोटों से तो क्षत विक्षत किए जा सकते हैं, तोड़ तक दिए जा सकते हैं परन्तु शान्ति से उनकी विजय करनी कठिन है। संस्कृतियों के संघर्ष में भारतीय अथवा हिन्दू पद्धति प्राण पाती है। जीवन के शान्त वातावरण में उसकी जड़ें दूर तक फैल कर अक्षयवट का प्रसार करती हैं। विशेषकर जब विदेशी जातियों की अपनी कोई फिलासफी अथवा सामाजिक पद्धति नहीं होती तो युद्ध की हिंसक प्रवृत्तियों के जम जाने के और शान्तिमय वातावरण के स्थापित हो जाने पर भारतीय व्यवस्था उन्हें डकार जाती है। भारतीय ऐतिहासिक प्रगति में दूध की धारा की भांति यह सत्य चमकता है। ग्रीकों, शकों, कुषाणों, आभीरों और बाद में हूणों, गुर्जरों आदि का यही हाल हुआ। कुछ आश्चर्य की बात नहीं यदि कुषाणों ने बौद्ध और शैव-धर्मों का विस्तार किया हो और शक रुद्रदामन ने सातवाहन-ब्राह्मणों की प्राकृतिक और बौद्धों की पाली के विरोध में शुद्ध संस्कृत को आश्रय दिया हो। फिर चूँकि विदेशियों को भारतीय समाज शास्त्री या तो म्लेच्छ ही समझ सकते थे या विवश होने पर अपने वर्ण-धर्म के निचले स्तरों की इकाइयाँ। जब तब ही उन्होंने उन्हें अपने उच्च स्तरों में अंगीकार किया और यह अंगीकरण भी प्रायः मौलिक था। हूण-जाट-गुर्जरों का प्रादुर्भाव कुछ ऐसा ही हुआ।

हिन्दू-ग्रीक अपनी व्यवस्था, कला-साहित्य, फिलासफी और अपनी संस्कृति लेकर आए थे। यहाँ वे बस गए थे और जब शान्ति का वातावरण स्थापित हुआ भारतीय संस्कृति और वर्ण-विधान ने उनपर धीरे-धीरे अपना गरल उलीचना शुरू किया और कालान्तर में वे भारतीय समाज-तन्तु में सर्वथा बुन गए। उनकी संस्कृति, मुद्रांकन, रंगमंच, ज्योतिष आदि के अनेक सिद्धान्त भारतीय पद्धति ने अपनाए परन्तु उन्हें अपना रूप देकर सर्वथा एतद्देशीय कर लिया।

सूत्र-साहित्य से कुछ पूर्व ही क्षत्रियों के प्रभाव और ब्राह्मण क्षत्रियों के प्राचीन संघर्ष के फलस्वरूप जो जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ था उससे ब्राह्मण वर्ण-व्यस्था को काफी चोट पहुँची थी। बौद्धों ने संस्कृत और वर्ण-धर्म दोनों पर चोटें की। संघ में वर्ण व्यवस्था न थी और सारे वर्णों तथा अवर्णों के पुरुष वहाँ समान रूपसे स्वीकार किए जाते थे। जैन-बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों ने भी जनता के साथ समानता का व्यवहार करके वर्ण-धर्म की जड़ों पर आघात किए। जाति-पांति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरिका होई।'—यह पश्चात्कालीन उद्घोष स्वतन्त्र 'स्लोगन' नहीं उसी परम्परा की तर्कसम्मत पराकाष्ठा है। बौद्ध और वैष्णव धर्मों की निर्वर्ण पद्धतियों को विदेशी समझ सकते थे। इसी कारण वे इन धर्मों को वर्ण-प्रतिष्ठ हिन्दू धर्म की अपेक्षा आसानी से अंगीकार कर सके। इसी कारण बौद्धधर्म को मध्य एशिया के निर्वर्ण और दुर्द्धर्ष निवासियों ने भी आसानी से अपनाया।

विदेशी आक्रमणों की चोट, विदेशी संस्कृतियों के संघर्ष और जैन-बौद्ध-वैष्णव धर्मों की वर्ण-वर्जित पद्धति के प्रभाव से ब्राह्मण-वर्ण-विधान भी सर्वथा अक्षुण्ण न रह सका और

उसमें अनेक जाने अनजाने परिवर्तन हुए। एक बार फिर वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए भागीरथ प्रयत्न किए गए। मालवा और मध्यदेश के बीच इस काल में (दूसरी शती ईस्वी) जिन दो राजकुलों ने जोर पकड़ा उनमें वाकाटक ब्राह्मण थे और भारशिव नाग क्षत्रिय। विदेशी आक्रमणों और विधर्मी शक्ति की प्रतिष्ठा ने ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों के पारस्परिक स्वत्वों को संकट में डाल दिया था जिससे दोनों ने एकबार संगठित देशी शक्ति का गुण समझा। वाकाटकों और नागों ने एकैक और सम्मिलित रूप से कुषाणों पर हमले किए और शीघ्र उनके कमजोर हाथों से तलवार छीन ली। नाग शैव थे जो शिवलिंग अपनी पीठ पर वहन करते थे और इसी कारण उनकी संज्ञा 'भारशिव नाग' पड़ी। नागों ने कुषाणों को बार-बार हराकर बारबार अश्वमेध किए। उनके दस बार के 'अवभृथ-स्नान' के फल स्वरूप काशी के एक घाट का नाम 'दशाश्वमेध' पड़ा। ब्राह्मण-क्षत्रियों का एक साझा कुषाणों आदि के विरुद्ध वाकाटकों—नागों में हुआ, दूसरा शकों के विरुद्ध वाकाटकों-गुप्तों में। तीनों कुलों में वर्ण-पद्धति के विरुद्ध परस्पर विवाह तक होने लगे। वर्ण-शास्त्री ने कुछ काल के लिए नेत्र मूँद लिए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजकुमार से किया। वाकाटक राज ने उसे मालव शकों पर आक्रमण करने के लिए अपने राज्य से मार्ग दिया। शक-कुषाण नष्ट-भ्रष्ट हो गए। अश्वमेधों को पुनः सञ्जीवन मिला, अनुष्ठान क्रियाएँ लौटीं, संस्कृत को फिर राजपद मिला, धर्मशास्त्रों के नए संस्करण हुए, याज्ञवल्क्य-नारद-बृहस्पति-स्मृतियाँ जन्मीं, विवाहों की पद्धति और रूप में नए परिवर्तन हुए।

५

गुप्त-साम्राज्य ने ब्राह्मण-सिद्धान्तों के आधार पर एक आदर्श साम्राज्य स्थापित करना चाहा और किया। उसकी नीव में समुद्रगुप्त की उग्र विजयों की शक्ति और विजितों की आहुति थी। गणतन्त्रों के शव पर इस साम्राज्य का आधार टिका था। 'असुर विजयी' समुद्रगुप्त ने 'धर्म विजयी' का रूप धारण किया और विजितों की 'मेदिनी' लौटा कर उनकी 'श्री' स्वायत्त कर ली। इस सामन्ती-संघ-साम्राज्य की मर्यादा क्षत्रिय-ब्राह्मण के साझे पर कुछ कालके लिए टिकी। परन्तु चूँकि उसका आधार कृत्रिम भूमि पर टिका था वह चिरकालीन न हो सका। एत-द्देशीय शक्तियाँ तो कुचल गईं पर कुमार गुप्त के विलास ने साम्राज्यवाद का वास्तविक रूप स्पष्ट कर दिया। सामन्तीय कलाकी पराकाष्ठा लूटी और संचित समृद्धि के आधार पर चरम विलास में ही होती थी। साम्राज्य की चूलें हिल गईं। पुष्यमित्रों ने दक्षिण से धावे बोले। विचलित कुल लक्ष्मी को स्कन्दगुप्त ने अपने तपःपूत जीवन से कुछ टिकाया। हूणों को भी उसने कुछ काल तक रोक रखा, परन्तु जिस अभिजात कुलीय अभिसन्धि पर उसके साम्राज्य के पाए टिके थे उसकी खामियाँ स्वयं इतनी नुकीली थी कि उसके विनाश के लिए केवल समय की आवश्यकता थी, प्रहार की नहीं। और जब हूणों ने अनवरत चोटें करनी शुरू की तो उस सामान्त मिश्रित अभिजातीय साम्राज्य की जोड़ें छिन्न-भिन्न हो गईं। उन्हें न तो स्कन्दगुप्त का तपःपूत जीवन ही सम्हाल सका, न याज्ञ-वल्क्य का वर्ण-पाश ही। इसी वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के निमित्त कालिदास ने नारे लगाए थे—राजा को 'वर्णाश्रमाणां-रक्षिता' 'स्थितिरभेत्ता' 'वर्णाश्रम के रमण में जागरूक' कहा

था, उसे मनु द्वारा परिचालित रथ की लीक पर चलने को प्रोत्साहित किया था (स एव मनुना प्रणीतः)। परन्तु मानव धर्मशास्त्र के 'अनुलोम'-विधान पर स्वयं कालिदास का सत्य-'वितृतजघनां' को 'विहातुं समर्थः' जो नाच रहा था उसे कौन सम्हालता कुमार गुप्त का क्षत्रिय विलास तो उस ब्राह्मण कवि के उद्दीपक राग पर थिरक रहा था, उसे पुत्र का संयत जीवन कहाँ तक सम्हाल सकता था ? उस काल की स्थिति में तो समाज में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं क्रान्ति की आवश्यकता थी। उस घृणित 'हरिणी-खुरीय' यौन विधान पर टिके समाज के सर्वनाश पर ही नई जगी स्वस्थ मानवता के पाए रखे जा सकते थे। उस महायज्ञ में स्कन्द और गोविन्द की आहुति की आवश्यकता थी। उनके बलिदान पर ही, गुप्त-साम्राज्य और उसकी ब्राह्मण-व्यवस्था की उखड़ी जड़ों की गहरी भूमि में ही नई मानवता की लम्बी जड़ें रोपी जा सकती थीं।

और रोपी गईं। राजपूतों का उत्कर्ष भारतीय प्राचीनता और वर्ण व्यवस्था पर जहाँ एक ओर व्यंग था वहाँ ब्राह्मण-प्रयास का एक विचित्र परिणाम भी था। परन्तु इस उत्कर्ष के पूर्व दो क्रान्तियों का गुजरना अनिवार्य था—उनमें से एक क्रान्ति थी गुप्त-साम्राज्य का समूलोद्धरण और उसकी भूमि पर नवागत विदेशी शक्तियों का नृशंस ताण्डव और दूसरी पालादि एतद्देशीय शूद्रशक्तियों का उत्कर्ष।

६

इन आघातों और प्रत्याघातों को समझने के लिये कुछ विस्तार की आवश्यकता होगी। हूणों का आघात केवल भारत

पर ही नहीं विश्व की सभ्यताओं पर हुआ। यह जीवन स्वास्थ्य बर्बरता का नग्न उल्लास था और इसकी चोट सभ्यताओं का अस्वस्थ मर्म न सह सका। हूण बर्बर और वन्य पशु माने जा सकते हैं, परन्तु उन्होंने इस सत्य का आचरण किया था कि जीवन नित्य-सत्य है और उसका धारण करना न केवल सारे धर्मों का निचोड़ है वरन् उसके रखने में सक्षम सारे साधन वरुण की व्यवस्था के प्राण हैं। हूणों की अपूर्व चिन्तित ध्वंस प्रणाली का एक विशेष परिणाम जो हुआ वह था छोटे मोटे अनेक राज्यों के साथ दो 'विशाल साम्राज्यों-गुप्त और रोमन-का टूट जाना। दोनों का साम्राज्य शिलाजर्जर व्यवस्था, उच्चावच अनीति और अल्प संख्यक मानव सुख पर टिकी थी। हूणों ने दोनों को चूर चूर कर दिया। रोम से 'लेबियन' और 'पात्रीशियन' अन्तर मिट गए, भारत की वर्ण-व्यवस्था साँप की भाँति कुचल गई।

हूण नई शक्ति, मानवता की नई अतृप्त साधें लेकर आए। इतिहासकारों ने उन्हें 'फ्लगेलम्-देई' (खुदाई कोड़े) कहा। सही, पर कोड़े वे रोमन और भारतीय विलास पर थे, उन उच्चावच भावनाओं पर जिनपर भारतीय वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण-धर्म की नींव टिकी थी। विजयी जाति को कौन विधान दे सकता है जब विजयी धर्म की मानवी नोकें अपने नित्य-सृजित-नित्य-विघटित फौलादी पौरुष पर तोड़ देता हो? हूणों ने व्यवस्था ठुकरादी, तोड़ दी—कहा, हम राज्य तो लेंगे ही, तुम्हारी विगलित नारी भी लेंगे और हमारी सन्तान शक्ति का सपुरुषाकार धारण करेगी। यही गुर्जरों ने कहा, यही उन्होंने कहा जिनका रक्त आज के जाटों और अहीरों की नसों में बहता है।

इस बीच उस दूसरी एतद्देशीय शूद्रीय शक्ति-प्रगति को भी समझ लेना अनिवार्य होगा जिसका हवाला हम ऊपर अभी दे आए हैं। अगले विशृंखल समाज का निर्माण इन्हीं दोनों शक्तियों के उत्कर्ष से संबंध रखता है क्षत्रिय नन्दों के बाद 'नव-नन्दों' का उदय हुआ था। यह काल उपनिषत्कालिक ब्राह्मण-संघर्ष का तीसरा पहर था। बौद्धसंघों और वैष्णवमठों ने ब्राह्मण वर्ण-धर्म को चुनौती दे मनुष्य को समानाधिकार सौंपे थे और दोनों के प्रजनक और संचालक प्रायः क्षत्रिय नेता थे। ब्राह्मण ने समाज, धर्म और राजनीति में यकायक एक 'कूप-दि-तात' (क्रान्ति) की, क्षत्रिय के संहारार्थ उसने शीघ्र उठती निम्नवर्गीय शूद्रशक्ति से साझा लिया। कात्यायन और राक्षस दोनों ब्राह्मण मन्त्रियों ने शूद्र महापद्म नन्द को मन्त्र दे देकर क्षत्रिय संहर्ता बनाया। इस शूद्र-ब्राह्मण-संबंध का फल क्षत्रिय का विनाश हुआ। महापद्मनन्द 'ने सर्व क्षत्रान्तक' विरुद धारण किया। इस का तात्कालिक प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण-धर्म फिर सबल हो उठा और उसमें पनपने और फिर सफल क्रान्ति करने का उसे सुयोग मिला। पतंजलि और पुष्यमित्र उसके अग्र थे। इतना ही आवश्यक नहीं था कि शूद्र-ब्राह्मण एका से क्षत्रिय को नैतिक नीचा दिखाया जाय वरन् आवश्यकता इस बात की थी कि उसका विनाश कर ब्राह्मण धर्म-वर्णाश्रम व्यवस्था और राजनीति की प्रतिष्ठा की जाय। यह सम्पन्न हुआ। शुङ्ग-काण्वायन-चेदि—सातवाहन उठे और फैले। इसके बाद भारतीय इतिहास में कुछ इकाइयों ने योग दिया जिनका वर्णन ऊपर आ चुका है। सातवीं सदी ईस्वी में क्षत्रिय-बौद्ध संघटन फिर हुआ, फिर ब्राह्मण ने अपनी खोई शक्ति को लौटानी चाही। परन्तु हर्ष प्रबल सिद्ध हुआ। परन्तु इस काल

भारतीय भूमि अनेक नई विदेशी जातियों से आक्रान्त और भरी थी। हर्ष के बाद शीघ्र बौद्ध और शूद्र शक्तियों ने बंगाल का आश्रय लिया और शीघ्र वे वहाँ जोर पकड़ने लगीं। बंगाल के पाल सम्राट् अब्राह्मण बौद्ध तो थे ही, शूद्र भी थे। 'गाल से ब्राह्मण व्यवस्था शीघ्र उठ गई और तब तक उठी रही जब तक ब्राह्मणों का उत्कर्ष न हुआ बल्लाल ने कान्यकुब्ज से ब्राह्मणों को बुला 'कुलीन-प्रथा' को जन्म न दिया और फिर से वर्ण-धर्म की वहाँ प्रतिष्ठा का प्रयत्न न किया गया।

इधर उत्तर-पश्चिमी भारत में जहाँ विभिन्न विदेशी जातियों का घटाटोप जारी था, जहाँ अब भी ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की भावना सक्रिय थी, ब्राह्मण ने अपनी मेधा लगाई। उसने इस काल वह दाँव किए जिससे चाणक्य और मेकियावेलो, रिचलू और मजारिन चमत्कृत हो उठते—सबक सीखते। उसने तीन तरफी मार की—क्षत्रियों से भी उसे लोहा लेना था, नई विदेशी शक्तियों से भी उसे समझना था और उठती शूद्र शक्ति का केन्द्र पालों के बंगाल को भी उसे कुचलना था। उसने तोल कर शक्ति मारी और अपनी विजय पर हँसा। क्या था उसका यह चमत्कार? क्षत्रिय के विरोध में उसने नई विदेशी शक्तियों को सम्हाला। हूण-गूजरों और इस प्रकार की अन्य अनन्त जातियों के सामन्त वर्गीय कुलों को उसने व्रात्यारीति से अपनी भारतीय-ब्राह्मण व्यवस्था में क्षत्रिय कह कर स्वीकार कर लिया। आबू के पर्वत शिखर पर वसिष्ठ के नाम से उसने एक अग्निकुण्ड खोदा जिसके हवन-यज्ञ से शुद्ध हो ये विदेशी क्षत्रिय हो गए, जिन्होंने ब्राह्मण इशारों पर नाचना शुरू किया। १९११ में 'अर्थ-बिल' की रक्षा के लिए लायड जार्ज द्वारा यह नई 'पियरेज' की अभिसृष्टि थी।

प्राचीन क्षत्रिय नवीन बहु संख्यक प्रतिस्पर्धी क्षत्रियों से अति-क्रान्त, त्रस्त हो उठे। यह 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की ब्राह्मण-व्यवस्था थी। इन नए 'राजपूतों' को पुराने क्षत्रियों और शूद्रों के विरुद्ध जो टकराना था, उसका प्रबन्ध हो गया। और स्वयं इनविदेशियों को भी अपनी शृंखला में बाँध रखना था इससे उन्हें कहीं तो डालना ही पड़ता। इन विदेशियों ने भी सोचा कि भारत में ब्राह्मणों की प्रणाली से संघर्ष करते जिन्दा रहना उनके लिए संभव न होगा, इससे उसे क्षत्रिय वर्ग की ऊँचाई स्वीकार कर लेनी उचित ही होगी। परन्तु ब्राह्मण तो उन्हें केवल अपना अस्त्र बनाना चाहता था, आश्रय देना नहीं। इससे जहाँ उसने उन्हें डाला वहाँ वे न तो क्षत्रिय रह सके, न शूद्र और न विदेशी ही। आज भी भारतीय शुद्ध वर्ण-व्यवस्था से वे अलग हैं। कुछ तो स्वयं अपनी विदेशी विचित्रताओं के कारण, कुछ ब्राह्मणों की उदासीन नीति के फलस्वरूप वे अर्धाङ्गीकृत दशा में पड़े रहे और आज भी पड़े हुए हैं। परन्तु ब्राह्मणों का काम बन गया और वे इन नवोदित क्षत्रियों से अपना कार्य साधते रहे।

इस नई राजपूत जाति में शक्ति और महत्वाकांक्षा खूब थी। उसका देश की क्षत्रिय और शूद्र शक्तियों से टकराना आवश्यक था। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी अब कनौज में जा बसी थी और 'महोदयश्री' (महोदय=कान्यकुब्ज=कनौज, श्री=लक्ष्मी Sovereignty) की उपलब्धि के अर्थ भारत की देशी-विदेशी, क्षत्रिय, शूद्र और राजपूत शक्तियाँ सदी भर परस्पर टकराती रहीं, कभी अन्तर्वेद (गंगा यमुना का द्वाब) में कभी मुद्गगिरि (मुँगेर) में, कभी उज्जैन में, कभी काशी में। कन्नौज लक्ष्य था, तीन तरफी चोटें उस पर पड़ रही थीं—क्षत्रिय राष्ट्रकूटों की

गुर्जर-प्रतिहारों की, शूद्र-पालों की। ये शक्तियाँ परस्पर टकराईं और टकराती रहीं। सदियों तक समाज की यह उचटी-उचटी व्यवस्था बनी रही और जब एक नई सत्ता ने भारत भूमि पर पदार्पण कर हिन्दुत्व को झकझोर दिया तब कहीं जाकर उसमें आक्रोश आया, असफल आक्रोश !

७

यह नई सत्ता थी मुसलमानों की जिन्होंने सिन्ध से स्पेन तक की सारी भूमिपर अस्सी वर्ष के कालान्तर में कब्जा कर लिया था। मुसलमानों के कई फिरकों, कई दस्तों, कई राज-कुलों ने भारत पर आक्रमण किया, उसे जीता। अपने उत्कर्ष काल में उनकी सल्तनतें ब्राह्मण-व्यवस्था और वर्ण-धर्म पर चोटें करती रहीं। इसका उस काल तक तो विशेष फल नहीं हुआ, इतना अवश्य है कि जहाँ उन्होंने आघात किए वहाँ प्रलय मचा दी। सांस्कृतिक-विजय का प्रयत्न उन्होंने एक लम्बे काल तक नहीं किया। बलपूर्वक वे केवल भारतीयों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करते रहे। इससे एक बड़ी दीवार खड़ी हो गई। हिन्दुओं ने ब्राह्मण-पृष्ठभूमि के अहंकार से उनसे कुछ सीखना न चाहा और स्वयं विजेताओं ने जो संसार को जीता और धर्म सिखाया था इससे उन्हें भी भारत से कुछ सीखना न था। उनकी अपनी संस्कृति थी, अपनी फिलासफी थी जिसने शान्ति का वातावरण स्थापित हो जाने पर कुछ अपना दिया, कुछ लिया—कबीर और नानक जन्मे, भारत में एक नई तह-जीब जगी। एक नया साहित्य बना। मगर हिन्दू मुसलमानों के बीच की दीवार न भिद सकी। हिन्दू हिन्दू बने रहे, मुसल-मान, मुसलमान।

८

उड़ीसा, बंगाल और आसाम में बौद्ध, वैष्णव और शाक्त संप्रदायों ने एक विचित्र सन्धि-भूमि निर्मित कर दी थी, परन्तु यह वर्णों की सन्धि-भूमि नहीं निम्न वर्गीयों की थी। ऊपर बताया जा चुका है कि छठी शती से ही निम्नवर्गीयों का यहाँ संघट्ट हो चला था जिसका चरम विकास शूद्र पालों के उत्कर्ष में हुआ। पालों के बाद सेनों ने एक बार फिर ब्राह्मण-व्यवस्था बंगाल में स्थापित करनी चाही परन्तु उसकी जड़ें वहाँ जम न सकीं। कुछ तो आहोमों के उपद्रव, कुछ नवाबी की प्रतिक्रिया और विशेषकर बौद्ध-वैष्णव-शाक्त-तान्त्रिक उत्कर्ष का सम्मिलित विरोध। ब्राह्मण-धर्म वहाँ प्रतिष्ठत नहीं ही हो सका और वर्ण तथा जातियाँ एक विचित्र स्रोत में घुली मिली बहती रहीं जैसी आज भी हैं।

इस बीच ब्राह्मण समाज शास्त्री सर्वथा चुप न बैठे रहे। राजनीतिक दाँवपेंच वे अपने चलाते रहे। नई उठी परिस्थितियों को सम्हालने के लिये वे नई स्मृतियाँ लिख उन्हें आर्षता का गौरव तो प्रदान न कर सके परन्तु उन्होंने इस काल को टीकाओं और भाष्यों का युग अवश्य बना दिया। स्मृतियों के ऊपर सुविस्तृत भाष्य लिखे गए जिनका मूल से सर्वथा विरोध तो न था परन्तु जिनका वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों से सामञ्जस्य और समन्वय जरूर था। जीवन रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। 'व्यवहारमयूख', 'व्यवहारकल्पतरु' 'मीताक्षरा', 'दायभाग', आदि इसी परम्परा में अभिलिखित और सम्पादित हुए। यह परम्परा प्रायः आठवीं सदी से बारहवीं सदी तथा और बाद तक जारी रही।

इसी काल के ऊपरी छोर पर एक प्रचण्ड ब्राह्मण-धर्म और

व्यवस्था ने फिर से मस्तक उठाया था। इसके नेता थे शंकर, मंडन, कुमारिल, आदि मेधावी ब्राह्मण। जहाँ उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों को जगाने की चेष्टा की वहाँ उनका प्रयास फिर से ब्राह्मण प्रस्तुत वर्ण-व्यवस्था को भी प्रतिष्ठित करना था। शंकर और कुमारिल ने तो देशकी एक प्रकार से बौद्धिक दिग्विजय की। दोनों ने सारे देश में घूम-घूम कर व्याख्यान दे दे कर बौद्धों और जैनों को मथ डाला। उनके संघधर्म का उच्छेद कर प्रव्रजितों को इन्होंने फिर से गृहस्थ बनाया, यद्यपि इससे समाज में कुछ कठिनाइयाँ बढ़ भी गईं। कायस्थ आदि अनेक वर्ण संभवतः उसी सामाजिक पुनरावर्तन के परिणाम हैं जो आज तक चतुर्वर्णों में अपना निश्चित स्थान न पा सके, यद्यपि इनमें से कुछ निस्सन्देह ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं। इन्हीं की भाँति अनेक जातियाँ जो संक्रमण की अवस्था में देश में फिरती रहीं अथवा अपने गण बनाकर तन्त्र-शासन करती रहीं उनके वर्ण का निश्चय करना भी आज कठिन है। इनमें से मालव आदि जातियाँ कुछ क्षत्रिय, कुछ शूद्र हो गईं। यौधेयादि कुछ तो हिया राजपूत, कुछ ओसवाल, रोहतगी, रस्तोगी आदि वैश्य और अन्य क्षत्रिय जातियाँ खत्री हो गईं।

भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर अन्तिम चोट यूरोपीय संस्कृति की पड़ी। अठारहवीं सदी से विशेष कर यूरोपीय देशों का संपर्क भारत के साथ बढ़ा। अनेक ईसाई फिरकों ने भारत की जनता को ईसाई बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु वे प्रायः उच्चवर्णीयों को न छू सके। अन्त्यजों और शूद्रों पर ही वे कुछ प्रभाव डाल सके। । और इन श्रेणियों के सामने प्रश्न संस्कृति अथवा धर्म का न था, आर्थिक आवश्यकताओं का था। देश में कालान्तर

में अवश्य कुछ ईसाई जन-संख्या बन गई पर उससे भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर विशेष प्रभाव न पड़ा।

अंग्रेजी सभ्यता ने अपनी राजनीतिक मान्यताओं से अवश्य भारत को प्रभावित किया। इससे ब्राह्मण-वर्ण-व्यवस्था, जो अब तक स्वयं काफ़ी जर्जर हो चुकी थी, भले प्रकार ढीली हो गई। अंग्रेजी शिक्षा आदि ने वर्ण-व्यवहार को अत्यन्त दुर्बल बना दिया। राजा राममोहन राय आदि जो भारतीय विलायत गए उन्होंने भारत को एक नई संस्कृति का सन्देश दिया और सब ने भारत की वर्ण-सम्बन्धी रूढ़ता पर गहरे आघात किए। बंगाल में 'ब्रह्म समाज' और पश्चिमोत्तर भारत में 'आर्यसमाज' ने वर्ण-धर्म को और भी शक्तिहीन कर दिया। स्वामी दयानन्द का आन्दोलन देश का आन्तरिक आन्दोलन था—वेद शास्त्रों की सम्मति पर टिका जिसने इस वर्ण-धर्म की जड़ें हिला दीं। मादाम ब्लावात्स्की और एनीबेसेन्ट के 'थियासाफिकल' आन्दोलन ने भी इस पर विध्वंसक प्रभाव डाला। आज का संसार अन्तर्जातीय हो रहा है और इस युग धर्म में वर्ण-व्यवस्था कै दिन टिक सकती है? अन्तर्प्रान्तीय विवाह आज भारत में निरन्तर हो रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था की जड़ें उखड़ी जा रही हैं जो बच रही हैं शीघ्र सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगतिशील आन्दोलनों से उखड़ जाएँगी।

हमले

पश्चिमी एशिया का सारा प्रसार दक्षिणी ईरान से ईराक के ऊपरी भाग तक, दजला-फ़रात का पूरा काँठा, मेसोपोता-मियाँ, बेबिलोनियाँ, असीरिया जल-मग्न था। ईसा से प्रायः तीन सहस्र वर्ष पूर्व हजारों मील लम्बा-चौड़ा यह भूखण्ड जल से आप्लावित हो गया था। यह वह जल-प्रलय था जिसकी स्मृति आज तक इसराइल की सन्तान ने हिब्रू 'बाइबिल' में, असुर की औलाद ने 'गिल्गमिश' में, मनु की सन्तति ने 'मनुस्मृति' में सुरक्षित रखी है।

इस जल-प्रलय से बहुत पूर्व पश्चिमी बाल्कन से नीपर के पार बोल्गा की घाटी तक एक वीर जाति का निवास था, जिनकी ढोरें अमित थीं और जो घोड़े की पीठ पर दिन-दिन रात-रात मीलों सफर के आदी थे। इनके कबीले कभी पड़ो-सियों पर हमले करते थे, कभी आपस में टकरा जाते थे। इन्हें आर्य कहते थे। जल-प्रलय से पूर्व ही ये उत्तर से होकर असीरिया और बाबुल की राह ईरान में उतर आए थे। दजला फ़रात के निचले द्वाब में एक शालीन सभ्यता सदियों से जाग-रूक थी। यह सभ्यता मेसोपोतामिया में सुमेर की थी। आर्य अपने मार्ग में कभी इनसे भी टकराए थे, पर बाद स्वयं वे बिखर गए थे, कुछ कबीले ईरान में कुछ हिन्दूकुश के इर्द गिर्द।

हिन्दूकुश की दीवार आस्मान चूमती थी पर आर्य उसे लाँघ गए। सामने काबुल की प्रसन्न घाटी थी जहाँ उपवनों

की परम्परा को कुभा (काबुल), क्रुमू (कुर्रम) और गोमती (गोमल) सींचती थी। आगे सप्तसिन्धु का हराभरा लहराता देश था। आर्य रीझ गए पर उसे भोगना आसान न था। उसके पहले जान की बाजी थी। किन्तु जान के खेल आर्यों के लिए नए न थे। उनका व्यक्तिगत जीवन उनके 'जनों'—कबीलों—का सामूहिक जीवन तलवार की धार पर चलने वाला जीवन था और उसकी क्षणभंगुरता उनकी अनजानी न थी।

पर आगे दीवार खड़ी थी उनकी राह रोके—काली कुमक, मर्दों की और शक्तिसीम नारियों की भी। दक्षिण पंजाब में रावी और सिन्धु के किनारे सिन्ध से प्रायः समुद्र तट तक और सिन्ध से बलूचिस्तान प्रायः सुमेर शहरों की सीमा तक एक प्राचीन सभ्यता का विस्तार था। यह द्रविड़ों की सैन्धव सभ्यता थी प्राचीन सभ्यताओं में अति प्राचीन, सुन्दर, उदार, व्यापार-प्रिय। तब उस सिन्ध में जहाँ आज आग बलती है, रेत उड़ती है, हरे खेत लहराते थे, उपवन बिहँसते थे। उन सैन्धवों के मकान पकाई ईंटों के बने थे, जो आर्यों को लोहे केसे लगते थे। उनके नगर प्लान से बने थे, उनकी सड़कें साफ सुथरी थीं; उनके स्नान-सरोवर संसार के आश्चर्य थे। कला में ये सैन्धव प्रभूत उन्नति कर चुके थे। उनके विलास की निधियाँ अमित थी। अबतक का जीवन उनका शान्त सुन्दर, समृद्ध और सुखी रहा था। अस्त्र-सन्धान उनके वश की बात न थी। परन्तु आगत विपत्ति को जीतने के लिए वे बद्धपरिकर हुए।

टक्करें हुईं, गहरी और खूनी। आर्यों की अनेक लहरें आईं और अनवरत आती रहीं। एक आती, दो आती तो सैन्धव

झेल लेते। यहाँ तो लहरों का ताँता न टूटता था। सिन्धु की टूटती तरंगों की भाँति आर्यों के कबीले आते और सैन्धवों पर टूटते रहे। ईसा से लगभग २७०० वर्ष पूर्व आर्यों ने सैन्धवों के सारे मोर्चे तोड़ दिए। अब भगदड़ थी। चप्पे-चप्पे के लिए रक्त बहा था, परन्तु इतना बलिदान करके भी सैन्धव अपनी भूमि- अपने नगर, अपने पशु न बचा सके। उनकी समृद्धि लुट गई, विलास के साधन नष्ट हो गए।

उनके विजेता घुमक्कड़ थे, खानाबदोश। घोड़े की पीठ उनका घर था, धनुष-बाण और परशु उनकी सम्पत्ति थे, वर्म और कवच उनके रक्षक, कुत्ते उनके सहायक। उन्हें हारना क्या था? सुन्दर, ऊँचे उनके डीलडौल, लोहे की सी ठोस चौड़ी छाती, लम्बी बलिष्ट उनकी भुजाएँ, सैन्धवों से सवाई और दैत्य की सी उनकी काया—सैन्धव कब तक उनके सामने ठहर सकते थे।

कठोर उनका जीवन था, विपत्ति उनकी सहचरी। तूफान से वे लड़ते थे, मृत्यु के सम्मुख अट्टहास करते थे। अनागरिक बर्बर जीवन में वे अनायास शक्ति का संचय करते थे। इस प्रकार के लड़ाकों को जीतना उन सैन्धवों के लिए असम्भव था, जो कद में उनसे अत्यन्त छोटे थे, शक्ति में अतीव दुर्बल। उनके पास अपनी रक्षा के लिए भी विशेष साधन न थे। वर्म तो उनके पास थे ही नहीं। हाथ को लड़ाई में कद का बड़ा सहारा और लाभ होता है, सो उनके शत्रुओं को था, उनको न था। फिर हल में जुतने वाले बैलों के उनके रथ आर्यों के सपदगामी घोड़ों का मुकाबला क्यों कर सकते थे? आर्य व्यूह बाँध कर लड़ने में पटु थे। जब तक सैन्धव एक पार्श्व सम्हालते आर्यों के घुड़सवार मोर्चा बदल झट दूसरे पार्श्व पर

आक्रमण करते। शत्रु जब तक उसे सम्हालता आर्य उसकी हरावल रौंदते पीठ तक जा घुसते। सैन्धवों के जीवन में युद्ध सम्भवतः न था। उनका जीवन सभ्यता की देन विलास का था उनके लिए उन आर्यों से लोहा लेना जिनका संघर्ष ही जीवन था असम्भव था। फिर सैन्धव ऐसे देश में थे जहाँ की जलवायु शरीर को शिथिल तुन्दिल कर देती थी। स्फूर्ति और सतर्कता जिनकी अनजानी थी! आर्य पहाड़ों पर मृगशावकों से चढ़ते उतरते थे, अपने घोड़ों, अपने कुत्तों के साथ। सैन्धव अपनी भूमि पर आत्मरक्षा में लड़ रहे थे। अपनी भूमि पर आत्मरक्षा में लड़ना शत्रु को विजय का क्षेत्र समर्पित कर देना है। उनकी सेनाओं में नारियाँ भी थीं और नारी-सेनाएँ प्रायः शक्ति का नहीं परेशानी का कारण सिद्ध होती होंगी। भारतीय युद्ध परम्परा में जब लड़ाई देशी थी, शायद इनका कुछ उपयोग था, पर सशक्त काल से आर्य योद्धाओं के सामने उनकी क्या चलती? वे सर्वथा पराजित हो गए। कुछ काल तक वे लुक-छिप कर संघर्ष करते रहे, परन्तु पूर्णतः परास्त होकर उन्होंने अपने निवास छोड़ दिए। दक्षिण और पूर्व का रास्ता नापा।

आर्यों ने उनके नगर, उनके घर उनसे छीन लिए। परन्तु आर्य नागरिक नहीं ग्रामीण थे। उनको सादा गाँव का खुला जीवन पसन्द था। नगर और पक्के मकानों का उपयोग उनका अनजाना था, विलास से वे अनभिज्ञ थे। सैन्धवों के नगर उन्होंने जलाकर खाक कर दिए। पंजाब में उन्होंने नदियों के तीर अपने गाँवों के बल्ले गाड़े। बचे हुए सैन्धवों में से अनेक जो सम्हाल के बाहर थे उन्होंने मार डाले, बाकी दास बना लिए, नारियों का दासियों की भाँति प्रयोग किया। रथों में भर भर कर उन्हें उन्होंने अपने गुरुओं-पुरोहितों को दान दिया,

मत्रों को भेंट किया। कालान्तर में इनसे कक्षीवान, कवष, औशिज, वत्स से ऋषिसत्तम प्रसूत हुए। इन सैन्धवों से उन्होंने हल-बैल से खेती करना, कपास उगाकर सूती कपड़ा बुनना सीखा। उन्हें कभी वे 'दास', 'दस्यु', 'कृष्ण', 'मृधवाचा' 'अनासा', 'अदेवयु', 'अकर्मन' 'अयज्वन', 'शिश्नदेवा:' आदि कहते थे, अब उन्हीं से उन्होंने उनके धर्म की विधि-क्रियायें सीखीं जन्तर-मन्तर सीखे, योग प्रक्रियायें सीखीं। उनकी धार्मिक पुस्तक ऋग्वेद के काल-स्तर से अथर्व वेद तक पहुँचते-पहुंचते आर्यों के धर्म-दुर्ग पर सैन्धवों ने सर्वथा अधिकार कर लिया। अथर्ववेद उसका ज्वलन्त प्रतीक है।

सदियाँ सहस्राब्दियाँ बीतीं। आर्यों ने प्रदेश पर प्रदेश जीते और विजित में अपने जनपद-राज्य खड़े किए। इनपर उनके साम्राज्य आरूढ़ हुए। पर जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे राज्यों और गणतन्त्रों का ही प्रसार था। पंजाब विशेषकर इन छोटे-छोटे गणतन्त्रों और राज्यों से भरा था। ये भी परस्पर लड़ा करते। गणतन्त्र भी राज्य भी। साम्राज्यों की छोटी-मोटी परम्परा केवल मगध में ही थी और मगध भारत का मध्यदेश था। गंगा और शोण के संगम पर दोनों के कोण में हाल का बसा पाटलिपुत्र (उससे पहले राजगृह और गिरिव्रज) उसका केन्द्र था।

उस केन्द्र और उस साम्राज्य की सीमा पंजाब से दूर दक्षिण-पूर्व में ही समाप्त हो जाती थी। सहवेदना जैसी कोई चीज इस साम्राज्य और पंजाब के छोटे राज्यों तथा गणतन्त्रों में न थी। प्रत्येक स्वतन्त्र था, अपने कार्यों का स्वयं फलभोक्ता और स्वयं अपना सहायक। नैतिक सम्बन्ध इनमें अभी स्थापित न हुआ था।

मगध में शाक्य सिंह बुद्ध अभी हाल ही दहाड़ चुके थे और वह साम्राज्य मूर्छित सा हो रहा था। राज्यों में प्रव्रजित नर-संख्या बढ़ाने की होड़ थी, सेना की नहीं। विरक्ति का फैशन था, सज्जन या तो गृह त्याग संघ की शरण जाते थे, या गृह में रहकर गृहस्थ उपासक होते थे। दोनों अस्त्र की झंकार से नाक-भौं सिकोड़ते थे। यदि इस समय कोई शक्ति आक्रमण करती तो भारत सर हो जाता।

बाहर की शक्ति ने आक्रमण किया और भारत का एक बड़ा भाग सर हो गया। इस समय ईरान में प्रबल हख़मनी सम्राटों का शासन था। उनका विशाल साम्राज्य पूर्व में वक्षु-नद (सीर दरिया, आक्सस) से पश्चिम में यूरोप की पूर्वी सरहद और ईजियन सागर तक फैला हुआ था। ये सम्राट यूरोप पर समय असमय छापा मारते थे, विश्ववन्दित ग्रीकों को त्रस्त रखते थे। इसी हख़मनी कुल में दारयवहु नाम का प्रतापी राजा हुआ। दारयवहु (५२१-४८५ ई० पू०) और उसके पूर्वज भारतीयों की ही भाँति आर्य थे। दारयवहु ने अपने शिलालेखों में अपने को 'आर्याणां आर्यः' और 'क्षत्रि-याणां क्षत्रियः' लिखवाया था।

उसी दारयवहु ने पश्चिम में सफल न होकर पूर्व में 'प्रसार' की सोची। पूर्व पर्सिपोलिस (परसपुर) शूषा और एकबताना (हख़मनी साम्राज्य की पूर्वी राजधानियाँ) के पास भी था। भारतीय सौदागर जब ईरान की ओर जाते थे तब भारतीय समृद्धि का सबूत मिलता था। ईरानी व्यापारी इस देश की संपत्ति की कहानी नित्यप्रति कहते थे और ईरानी किसान और सम्राट उसे तन्मय हो सुनते थे। हख़मनी सम्राट दारयवहु ने

बाबुली ज्योतिषियों को बुलवाया। उनसे तारों का रुख पूछा। गणकों ने उसे कार्यारंभ करने की सलाह दी।

ईरानी सम्राट ने अपने नौकाध्यक्ष को बहाने से भारत भेजा। उसने यहाँ आकर बताया कि वह केवल सिन्धुनद से चलकर उसके मुहाने से ईरान के लिए नौसाधन से सामुद्रिक मार्ग खोलेगा। वह आया और सोते, विलासी, प्रव्रजित, दुर्बल भारत की तन्द्रा देख गया। ईरान ने अपना लंबा हाथ बढ़ाया और भारत के दो समृद्ध प्रान्त खींच कर हड़प लिए। भारत के छोटे राज्य और गणतन्त्र परस्पर लड़ते, ताकते और कानाफूसी करते रहे, जब चेते तो लुट चुके थे। पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के उपजाऊ प्रदेश दारयवहु ने स्वायत्त कर अपने साम्राज्य में मिला लिए जिसकी पूर्वी सीमा अब सिन्धुनद तक पहुँच गई। ईरानी साम्राज्य में इस सम्मिलित भारतीय प्रान्त का नाम बीसवा प्रान्त (क्षत्रपी) पड़ा। यहाँ से अनन्त सुवर्णकणों का धन ईरानी सम्राट के कोष भरता था।

इस पराजय के कारण थे इन गणतन्त्रों और छोटे राज्यों की दुर्बलता और उससे कहीं बढ़कर पारस्परिक द्वेष और संगठन का अभाव। पड़ोसी के सामने जब शत्रु है तो उससे पड़ोसी लड़े—यह नीति इन भारतीय राज्यों का मूलमन्त्र था और ये पड़ोसी की विपत्ति में भी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। माना कि ईरानी साम्राज्य का बिस्तार बड़ा था, उसके साधन असामान्य थे और उसकी सेनाओं में देश-देश के चुने हुए वीर लड़ाके थे। परन्तु इन साधनों का उपयोग ग्रीस के विरुद्ध क्यों सफल न हो सका? आखिर ग्रीस के नगर-राज्य तो विस्तार में भारतीय गणतन्त्रों और राज्यों से छोटे थे? कारण यह था

क ग्रीक-नगर राज्यों में एकता थी, द्वेष न था, संगठन की ।क्ति थी। वे सतर्क थे, सोते न थे।

इससे भारत की कुछ काया पलटी। भारत ने छोटे कमजोर ।ज्यों का परिणाम देखा परन्तु कम से कम पंजाब में उससे वे ।ाभ न उठा सके। इतना अवश्य हुआ कि पश्चिमी जगत से ।ारत के व्यापार का एक स्थल मार्ग खुल गया।

४२५ ई० पू० तक कम्बोज, गन्धार और सिन्धु प्रदेश फिर ।वतंत्र हो गए। भारतीयों ने देखा कि छोटे राज्यों से शक्ति ।ीण हो रहेगी। इससे वे साम्राज्य-निर्माण में लगे। शिशुनागों के मागध राज्य पर नन्दों का मागध-साम्राज्य खड़ा हुआ। महापद्म नन्द उग्रसेन ने कालान्तर में मध्य देश से क्षत्रिय राज्यों को उखाड़कर अपना 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद चरितार्थ किया। परन्तु उसका साम्राज्य पश्चिम में गंगा-यमुना के काँठों तक ही सीमित रहा। पंजाब को वह न छू सका। पंजाब के राज्यों की दशा न सुधरी, पूर्ववत् बनी रही। छोटे-छोटे गणतन्त्र और रजुल्ले-राज्य, परस्पर विद्वेषी और असंगठित ही रहे।

इसी समय (लगभग ३३० ई० पू०) सिकन्दर मकदूनिया से दिग्विजय के लिए निकला। उसके पिता फिलिप ने भी आस पास के देश जीते थे और ग्रीक नगर राज्यों को कुचल डाला था। जब तक ग्रीक नगर राज्य संगठित थे उन्होंने संसार के तत्कालीन सबसे बड़े ईरानी साम्राज्य तक को चुनौती दी। परन्तु परस्पर की फूट हो जाने के बाद छोटे फिलिप के सामने भी वे क्षण भर न टिक सके। सिकन्दर संसार विजय के स्वप्न देखा करता था। ग्रीक हेरीदोतस ईरानी दरबार में राजदूत की

हैसियत से रह चुका था और उसने भारत और पूर्वी देशों का तिलस्मानी हाल लिख छोड़ा था। उससे सिकन्दर और प्रभावित हुआ था। ३३० ई० पू० के लगभग मकदूनिया से निकल उसने मिस्र और आस पास के देश जीत लिए। फिर वह ईरानी साम्राज्य की ओर बढ़ा और उसे उसने कुछ ही ठोकरों से गिरा दिया।

३२६ ई० पू० में वह हिन्दूकुश लाँघ गया। भारत सुविस्तृत ईरानी साम्राज्य का गिरना सुन चुका था, सहमा था परन्तु सचेत न था। छोटे छोटे राज्य अब भी लड़ते रहे, परस्पर विद्वेष करते रहे, पड़ोसी की विपद् से फायदा उठाते रहे। आक्रमक की आड़ में वे अपने झगड़े ले खड़े हुए। कइयों ने अपने देशवासियों के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता की। आक्रमक अभी सुग्ध में ही था और तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसके पास अपनी स्वतंत्रता अर्पण करने के लिए अपने दूत भेजे। प्रथम भारतीय राजा शशिगुप्त ने भी हार कर भारतीयों के विरुद्ध उसका साथ दिया। कुनार, पजकोरा और स्वात नदियों की दूनों में वीर जातियों का निवास था। चप्पे-चप्पे जमीन के लिए वे मर मिटी। मस्सग-दुर्ग के नर-नारी एक एक कर मर मिटे पर विजेता की राह न रुकी। संगठित शक्ति ने कभी उसका मुकाबिला न किया।

तक्षशिला के राजा आम्भी की सहायता से उद्भाण्डपुर के पास सिकन्दर सिन्धु के पार उतर गया। परन्तु केकय देश का वीर राजा पुरु वितस्ता के पार घाट रोके खड़ा था। केकय के उत्तर में अभिसार था। वहाँ के राजा ने भी पुरु से मिल जाना चाहा पर सिकन्दर की सूझ से ऐसा न हो सका। काबुल आदि विजित देशों के अनेक वीर भाग कर पुरु की

सेना से आ मिले थे। पुरु के नेतृत्व में इन दुर्द्धर्ष लड़ाकों से सिकन्दर का सामना था। झेलम बाढ़ के जल से फूली हुई थी। पार करना अत्यन्त कठिन था। पड़ाव के सामने पुरु की सेना खड़ी थी। अब सिकन्दर ने चोरी की सोची। अपने पड़ाव में नाच रंग होने का हुक्म दिया। वहाँ रसद जुटने लगा जिससे शत्रु को भास हो कि वह बरसात वहीं बिताना चाहता है। शत्रु निस्सन्देह असावधान हो गया। लगभग सोलह मील ऊपर बढ़ कर सिकन्दर ने अँधेरी रात में झेलम पार कर लिया। दारा के विरुद्ध जब सन्ध्या समय वह अरा-बेला में पहुंचा था और उसके सेनापतियों ने सुझाया था कि रात में ही आक्रमण कर दिया जाय वरन असंख्य ईरानी सेना देखकर ग्रीक सेना डर जायगी, तब उसने कहा था कि सिक-न्दर जीत चुराएगा नहीं। झेलम के तट पर उसने जीत चुराई। पर उसे जीत पानी थी, चुराकर या सामने लड़कर। भारतीय इसे क्यों नहीं सीख सके ?

पुरु ने अपने बेटे को उसका सामना करने को भेजा। बेटा सेना सहित जूझ गया। फिर पुरु बढ़ा। उसके हाथियों की दीवार के सामने ग्रीक सेना खड़ी थी जिसमें, यूरोप, अफ्रीका और एशिया के वीर थे और भारतीय विभीषण भी। पर सिक-न्दर सहम गया। उसने कहा—आज असाधारण मनुष्यों, असाधारण जन्तुओं से सामना है। घमासान छिड़ गया। पानी खूब बरस चुका था। भारी-भारी रथ पंथ में धँस गए। धनुर्धर जमीन की रपटन से मार न कर सके। द्रुतगामी ग्रीक अश्वारोहियों ने फुर्ती से दाएँ बाएँ हमले किए। हाथियों की आँखें ग्रीक धनुर्धारियों ने छेद डालीं, उनकी सूँड उन्होंने काट डाली। हाथी वेदना से चिग्घाड़ते हुए भागे और भागते हुए

उन्होंने पुरु की सेना को रौंद डाला। इसी समय ग्रीक सेनापति क्रातेरस ने जो अपने 'रिजर्व' के साथ झेलम पार था, नदी पार कर पुरु पर हमला किया। पुरु की सेना कट चुकी थी पर वह लड़ता जा रहा था। उसके नंगे कन्धे पर शत्रु का भाला लगा। वह मूर्छित हो चला। आम्भी ने चिल्ला कर आत्म-समर्पण करने को कहा। पुरु ने देशद्रोही पर लौट कर वार किया। आम्भी निकल भागा। परन्तु पुरु पकड़ा गया! होश में आने पर जब वह ऊँचा जवान सिकन्दर के सामने लाया गया तब यह पूछने पर कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय उसने दर्प से कहा—"जैसा राजा राजा के साथ करता है।" सिकन्दर ने उसका राज्य लौटा दिया और पुरु भी शशिगुप्त की भांति भारतीय स्वतन्त्रता को कुचलने और अपने देश-वासियों के विरुद्ध लड़ने को उद्यत हुआ। भारतीय इतिहास इस प्रकार के अनवरत उदाहरणों से भरा पड़ा है। सिकन्दर का कार्य आसान हो गया।

पर आगे बढ़ना फिर भी आसान न था। सामने छोटे-छोटे अनेक संघ-राज्य थे, जिन्होंने पगपग पर उसको लोहे के चने चबवा दिए। रावी और व्यास के बीच कठ नामक राष्ट्र था। कठ अपनी राजधानी साँकल के चतुर्दिक रथों के तीन घेरे बनाकर जी जान से लड़े। फिर पुरु की कुमक आने पर वे सर हो सके! साँकल नगर मिट्टी में मिला दिया गया। व्यास के तट पर सिकन्दर की सेना ने हथियार डाल दिए और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उस पार एक विशाल संघ-राज्य था, उसके आगे नन्द का मागध साम्राज्य दूर तक फैला हुआ था। सिकन्दर ने सेना को समझाया-बुझाया पर वह टस से मस न हुई। उसने सप्ताह भर अपने को अपने शिविर में बन्द

रखा और अन्त में सेना से फिर कहा—"छोड़ दो मुझे विस्तृत नदियों के सामने, जन्तुओं के मुख में और उन जातियों के हाथ में जिनका त्रास तुम्हारे हृदयों को भर रहा है, पर मैं ढूँढ़ लूँगा उन सूरमा लड़ाकों को जो मेरा अनुसरण करेंगे।" सेना फिर भी न हिली। सिकन्दर का अनुसरण करने के लिए एक ग्रीक सैनिक भी उद्यत न हुआ। अन्त में लाचार होकर वह लौट पड़ा। पर लौटना भी आसान न था। अनेक वीर जातियाँ पीछे भी राह रोके खड़ी थीं। रावी के दोनों तटों पर मालव संघ का राज्य था, वितस्ता और रावी-संगम के नीचे। उनसे पूर्व क्षुद्रकों का संघ राष्ट्र था। मालव और क्षुद्रक दोनों ही बांके लड़ाके थे। मालव किसान एक हाथ में हँसिया दूसरे में तलवार धारण करता था, मालव और क्षुद्रकों में परस्पर सदा से शत्रुता थी, परन्तु समान शत्रु को देख उन्होंने प्रबल एका किया। अपने द्वेष को भुलाने के लिए उन्होंने निश्चय किया कि सारी मालव कुमारियाँ अविवाहित क्षुद्रक नवयुवकों से और क्षुद्रक कन्यायें मालव कुमारों से व्याह दी जायँ। यह विधान आश्चर्यजनक था, परन्तु जहाँ शक्ति थी उसका सामना सिकन्दर नीति से करता था, जहाँ नीति थी वहाँ तीव्र सैन्य संचालन से। मालवों और क्षुद्रकों की सेनाएँ अब परस्पर मिलने के लिए बढ़ चली थीं और यदि कहीं वे मिल गई होतीं तो सिकन्दर के भाग्य का निपटारा वहीं हो जाता। पर शीघ्रता से बढ़कर सिकन्दर मालवों के अरक्षित गाँवों और नगरों पर टूट पड़ा और मालव तथा क्षुद्रक मिल न सके। मालवों के एक संघ ने मुल्तान के पास उसका मुकाबला किया और एक मालव सैनिक की चोटजनित ज्वर से ही सिकन्दर बाबुल में मरा। क्षुद्रकों ने आत्म समर्पण कर दिया, अमूल्य भेंटों के साथ सिकन्दर की

सेवा में अपने दूत भेजे। एक बार हारकर भारतीय दम तोड़ देते थे। सिकन्दर छोटे-मोटे राज्यों को राह में जीतता आगे बढ़ा। सिन्ध में ब्राह्मणों ने विजित जातियों को उकसा कर उनसे फिर विद्रोह कराया। हजारों की संख्या में वे मारे गए। उनमें से चुने हुए जब ग्यारह दार्शनिक तलवार के घाट उतारे जानेवाले थे ग्रीक दार्शनिकों ने उनकी मेधा जाँचनी चाही। सिकन्दर ने कैदियों से कहा—तुम ग्यारह हो। एक तुम में से मध्यस्थ बनेगा बाकी दस से मैं प्रश्न करूँगा। उत्तरों की उत्तमता के क्रम से ही प्राण वध करूँगा। उत्तमता का निर्णय मध्यस्थ करेगा। प्रश्न इस प्रकार थे—

प्रश्न—जीवितों की संख्या अधिक है या मृतकों की ?

उत्तर—जीवितों की क्योंकि मृतक मर कर नहीं रहते।

प्रश्न—समुद्र में जीव अधिक हैं या स्थल पर ?

उत्तर—पृथ्वी पर क्योंकि समुद्र स्थल का ही एक भाग है।

प्रश्न—जानवरों में सबसे अधिक बुद्धिमान कौन है ?

उत्तर—जिसने मनुष्य को अपना पता नहीं लगने दिया।

प्रश्न—तुमने शम्भु को बगावत करने के लिये क्यों उकसाया ?

उत्तर—इसलिए कि मैं चाहता था कि वह यदि जिए तो इज्जत के साथ और मरे तो इज्जत के साथ।

प्रश्न—पहले कौन सिरजा गया—दिन या रात ?

उत्तर—दिन, रात से एक दिन पहले।

सिकन्दर चकरा गया कुछ समझ न सका। पूछा—इसका क्या मतलब ?

उत्तर—असम्भव प्रश्नों के असम्भव ही उत्तर होंगे।

प्रश्न—मनुष्य कैसे संसार का प्यारा होता है ?

उत्तर—बहुत ताकतवर, पर साथ ही प्रजा का प्यारा होकर, प्रजा जिससे डरे नहीं।

प्रश्न—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ?

उत्तर—देवता-सा कार्य करके, जो मनुष्य न कर सके।

प्रश्न—जीवन और मृत्यु में अधिक बलवान कौन है ?

उत्तर—जीवन, क्योंकि वह भयानक से भयानक कष्ट सह लेता है। (सिकन्दर के आचरण पर यह भयानक व्यंग था।)

प्रश्न—कब तक जीना इज्जत से जीना है ?

उत्तर—जब तक मनुष्य नहीं सोचता कि अब जीने से मर जाना अच्छा है।

अब सिकन्दर ने मध्यस्थ के निर्णय के लिए उसकी ओर देखा। निर्णायक ने कहा—'उत्तर एक से एक बढ़कर हैं।' सिकन्दर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कड़ककर कहा—तब तू सबसे पहले मरने को तैयार हो जा। निर्णायक बोला—'तब तुम झूठे साबित होगे।' *सिकन्दर उन्हें मुक्त कर उनसे रुखसत हुआ। वह बलूचिस्तान की राह काबुल लौट गया।

इस हमले से स्थल का पश्चिमोत्तर व्यापार मार्ग और प्रशस्त हो गया। भारतीयों ने ग्रीकों से सिक्के ढालने की नई विधि सीखी। ग्रीक दर्शन का भारत को ज्ञान हुआ, पश्चिम ने पूर्व को जाना।

परन्तु इस भारतीय पराजय के कारण क्या थे ? पारस्परिक विद्वेष, अकर्मण्यता, शिथिलता, समस्या की जटिलता को न समझ सकने की शक्ति। भारतीय जीवन सदा खन्डशः संगठन

---

*देखिए—पाँचवीं सदी ईस्वी के ग्रीक इतिहासकार प्लूतार्च की 'जीवनियाँ'

पर जोर देता था। उसकी वर्णव्यवस्था, समाज-विधान सभी आंशिक दृष्टि से प्रस्तुत थे। राजनीतिक संगठन भी इसी प्रकार सामूहिक रूप न प्राप्त कर सका। गणतन्त्र, राजतन्त्र, सभी इस दृष्टि से दुर्बल प्रमाणित हुए। गणतन्त्रों और राज्यों में तो संघर्ष चलता ही था, स्वयं गण राज्यों और राजतन्त्रों में भी पारस्परिक स्पर्धा और संघर्ष था। राजनीतिक आचरण भी कुछ उच्चकोटि का न था। एक बार परास्त होकर फिर विजयी के विरुद्ध आचरण गर्हित समझा जाता था जो किसी देश की राजनीति में विशिष्ट नहीं माना गया। शशिगुप्त, पुरु, आदि ने पहले तो जान पर खेल कर सिकन्दर का सामना किया, पर हार जाने के बाद उन्होंने उसकी विजयों में सहायता की। शशिगुप्त पुरु के विरुद्ध लड़ा, पुरु अपने भतीजे और कठों के विरुद्ध। युद्ध नीति का भी भारतीयों को कुछ लाभ न था। वे एक बात तै करके उसकी लकीर पर चलते थे परिस्थितियों में चाहे जैसे परिवर्तन होते जाँय। दारा के विरुद्ध आरावेला के युद्ध में रात में सिकन्दर ने अंधेरे का लाभ उठाना चोरी समझा पर पुरु के विरुद्ध जब कोई चारा न रहा उसी ने झेलम के तट पर अँधेरी रात में 'राह चुराई'। भारतीय इस प्रकार की बात नहीं सोच सकते थे। उनके युद्ध के तरीके भी बोझिल, भारी और पुराने थे। रथों और हाथियों का प्रयोग उनका भोंडा होता था। राजा पुरु की पराजय विशेषकर इस कारण हुई कि उसके हाथी अपनी सेना में ही पिल पड़े। भारतीय इतिहासमें बादमें भी अनेक बार यह घटना दुहराई गई। भारतीयों ने अश्वारोही सेना पर कम जोर दिया। रथों की अपेक्षा घुड़सवार सेना अत्यधिक फुर्तीली थी। युद्ध की बदलती परिस्थितियों के अनुसार आचरण करते घुड़सवारों को देर नहीं लगती। फिर सिकन्दर का सैन्य-संचा-

लन महत्वपूर्ण और असाधारण था। उसकी जोड़ या मेधाका एक
भी सेनापति भारतीयों के पास न था। जान को खतरे में डाल
कर युद्ध के प्रत्येक क्षेत्र में पहुँच जाना तो उसके लिए साधा-
रण बात थी ही, उसकी प्रत्युत्पन्न मति भी असामान्य थी।
युद्ध की बदली परिस्थितियों में अत्यन्त शीघ्रता से वह नीति
निर्णय करता था और बिजली की भाँति वह असावधान शत्रु
पर जा टूटता था। अनेक बार हारा हुआ मैदान उसने अपनी
फुर्ती और तीव्रता के बल पर जीत लिया। मालव और क्षुद्रकों
ने जब सदियों का वैमनस्य भुलाकर समान शत्रु के सम्मुख
सम्मिलित शक्ति प्रदर्शित करनी चाही, सिकन्दर ने उस भया-
नक संकट को झट भाँप लिया। मालव और क्षुद्रक सेनाएं मिल
जाने के लिए एक दूसरे की ओर बढ़ रहीं थी। परिस्थिति
भाँप कर सिकन्दर ने विद्युत गति से मालव गाँवों और नगरों
पर हमला किया और इसके पूर्व कि मालव क्षुद्रकों से मिल
पाते उसने उनका विध्वंस कर दिया। यदि कहीं दोनों मिल
गए होते तो ग्रीकों को कहीं भागने की राह भी न मिलती और
वहीं ढेर हो गए होते।

सिकन्दर के हमले का विशेष प्रभाव भारतीयों पर नही
पड़ा। पहले तो भारतीय दूसरों से उचित अनुचित कुछ भ
सीखने में अपनी मानहानि समझते थे, दूसरे सिकन्दर का भारत
संपर्क भी कुछ लंबा न रहा। कुल उन्नीस महीने वह भारत
रहा था। वह तूफान की भाँति आया था, तूफान की ही भाँति लौ
गया। पुराण, साहित्य में कहीं भी उसका संकेत नहीं मिलता
३१७ ई०पू०तक चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसके आक्रमण के सारे चि
पंजाब से मिटा दिए। भारतीय शीघ्र इस आक्रमण को भूल गए
एक बात यह जरूर हुई कि भारतीयां ने अपने 'छोटे असंगठि

राज्यों की' दुर्बलता समझी और चाणक्य की सहायता से चन्द्र-गुप्त ने, जिसने उस आँधी के सामने पंजाब के गणतन्त्रों और राज्यों को दुर्बल पेड़ों की भाँति गिरते देखा था, एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिसकी सीमाएं पंजाब तक पहुँच गई। इसी साम्राज्य के अन्तरंग में पंजाब की छोटी बड़ी सारी रियासतें तत्काल समा गइ। निस्सन्देह गणतन्त्रों की स्वतंत्रता कुचल गई, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से भारत काफी शक्तिमान हो गया। उसके पड़ोसी उसकी शालीनता को समझने लगे। उस भारतीय साम्राज्य का विस्तार पूर्व में समुद्र से लेकर पश्चिम में सिन्धुनद तक था उससे अब कोई अन्य सम्राज्य ही लोहा बजा सकता था।

सिकन्दर के उत्तराधिकारी के अभाव में उसका विशाल साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया था। मिस्र का राज्य तालेमी को मिला था, सीरिया का सिल्यूकस को। सिल्यूकस का प्रतिस्पर्धी अन्तिगोनस था जिससे उसका निरन्तर युद्ध चलता रहा था। उसे बुरी तरह हराकर ही सिल्यूकसको चैन मिला। सिल्यू-कस के सुविख्ति सीरियक साम्राज्य की पूर्वी सीमा चन्द्रगुप्त के मागध साम्राज्य के समानान्तर दौड़ती थी। जब उसे शत्रु से कुछ फुरसत मिली, उसने भारत की ओर रुख किया। सिक-न्दर की पंजाब वि य के समय सिल्यूकस विजेता के साथ रहा था और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझता था। उस हैसियत से उसका पंजाब को फिर स्वायत्त करने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही था फिर वह दारयवहु तृतीय के साम्राज्य का भी उत्तराधिकारी था और दारयवहु तृतीय के साम्राज्य में भारत के उर्वर प्रान्त गान्धार, कम्बोज तथा सिन्धु कभी कर-दाया रह चुके थे। साथ ही सिल्यूकस का अपना साम्राज्य भी

इस समय संसार का सबसे बड़ा साम्राज्य था। इस कारण भी उसकी महत्वाकांक्षा असीम थी। ३०५ ई० पू० के लगभग उसने अपने छिने प्रान्तों पर फिर से अधिकार करने के लिए भारत पर चढ़ाई की। दो विशाल साम्राज्यों की सेनाएं सीमा-प्रान्त पर कहीं टकराई।

पर इस समय भारत सिकन्दर और पुरु का भारत न था। उसकी सीमा पर अब न तो शशिगुप्त थे, न आम्भी न पुरु। उसका प्रबल पाहरू चन्द्रगुप्त उसकी रक्षा में सतत जागरूक था। संसार का अन्तिम कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त चाणक्य तब उसका सतत चिन्तन करता था। टक्करें जो हुई तो सिल्यूकस मुँह की खा गया। उसने देखा पासा पलट चुका था। भारत अब संगठित था, सशक्त। उसकी सेना का संचालन चन्द्रगुप्त सा वीर और चतुर सेनापति करता था जो ग्रीक सामरिक-शैली से भी अनभिज्ञ न था। हार इतनी बुरी पड़ी कि सिल्यूकस ने लाचार होकर सन्धि की,जो सर्वथा उसके विजेता के लाभ की थी। तदनुसार हेराल, अराकोसिया (कन्धार) बलूचिस्तान और हिन्दूकुश और काबुल के प्रान्त हाथ लगे। अब मागध साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश तक पहुँच गई, जिसमें अफगानिस्तान, कम्बोज (बदख्शाँ) और पामीर भी शामिल थे। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त को ग्रीकों की ओर से एक राजकन्या भी भेंट में मिली जिससे संभवतः भारतीय सम्राट ने विवाह कर लिया। इसके बाद तो अपनी ओर से चन्द्रगुप्त ने अपने विजित प्रतिद्वन्द्वी को ५०० हाथी दिए जिनका अपने शत्रु अन्तिगोनस् के विरुद्ध उचित उपयोग कर सिल्यूकस् ने दिखा दिया कि उनसे युद्ध जीते भी जा सकते हैं। स्वयं चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस् के विरुद्ध उनका उचित उपयोग किया था। इस

समय भारत में न नेतृत्व का अभाव था न संगठन का, न उचित मंत्रणा और न परामर्श का।

तीसरी सदी ई० पू० के मध्य सीरियक साम्राज्य कुछ कमजोर पड़ गया। उस साम्राज्य में अनेक जातियों का निवास था। उनकी महत्वाकांक्षाएँ विभिन्न थीं उनको एक डोर में बाँध रखना बड़ी शक्ति और चतुराई का काम था। अन्तियोक उस पैतृक विशाल साम्राज्य को न सम्हाल सका। दो-बड़े सूबे पार्थिया और बैक्ट्रिया (बाख्त्री, बह्लीक) उसके हाथ से निकल गए! पार्थिया की स्वतंत्रता जन-आन्दोलन का परिणाम था, बैक्ट्रिया का यूनानी शासक विद्रोह। इसके प्रथम स्वतंत्र शासक दियोदोतस् प्रथम के विषय में हम कुछ नहीं जानते परन्तु उसका पुत्र दियोदोतस् द्वितीय सोलिउक के चंगुल से सर्वथा बाहर हो गया। परन्तु बैक्ट्रिया में राजनीति का रुख एक बार और बदला और युथिदेमो नामक एक वीर घुमक्कड़ ने दियोदोतस को मारकर इस वक्षुनद की उर्वर केसर प्रसविनी भूमिपर कब्जा कर लिया। इसी समय सीरियक सम्राट् अन्तियोकस् विद्रोही बैक्ट्रिया को फिर से सर करने पूर्व की ओर चला। एक लंबे अरसे तक वह वहाँ के नगरों का घेरा डाले पड़ा रहा, पर कुछ हो न सका। युथिदेमो और उसके पुत्र दोनों उत्कट लड़ाके थे और उन्होंने अन्तियोकस् के छक्के छुड़ा दिए। अन्त में युथिदेमो के पुत्र देमित्रियस् की कुशलता से दोनों में सन्धि हुई और अन्तियोकस् ने युथिदेमो का बैक्ट्रिया पर स्वतंत्र अधिकार स्वीकार किया। सेलिउक सम्राट ने देमित्रियस् की कुशलता देख उसे अपनी कन्या भी व्याह दी।

फिर वह भारत की ओर मुड़ा। भारत अशोक की मृत्यु के

बाद फिर असावधान हो गया था। वास्तव में राजनीतिक संगठन, सूझ और चालें अधिकतर अर्थ-शास्त्रों में थी उनका प्रयोग में विघटन बहुत कम होता था। शासन से जनता का कोई संबन्ध न था। वह जान बूझकर उससे दूर रखी गई। इससे विजयों और पराजयों से उसका कोई संबन्ध न था। जब कोई प्रतिभावान् सम्राट शक्ति और सूझ से शासन-सूत्र का परिचालन करता, शासन सुस्थिर होता। फिर उसके निधन के बाद ही वह शिथिल हो जाता। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर उसकी अपनी मेधा और बाहुबल से रक्षा की। अशोक के समय तक वह सुरक्षित रहा परन्तु अशोक ने जो बौद्ध-नीति अपना ली उससे उसके 'प्रत्यन्त' निर्भय हो चुके थे और पड़ोसी उसके साम्राज्य के टुकड़ों पर तृष्णा की दृष्टि डालने लगे थे। पार्थिया और बैक्ट्रिया की घरेलू परेशानियों के कारण सेलिउक सम्राट भी पहले तो चुप रहे और बैक्ट्रियन शासक भी। परन्तु अशोक के मरते ही दोनों सजग हुए। अशोक के मरते ही उसके अनेक साम्राज्य विशृंखल हो गए और काबुल के हिन्दूकुश पर्वत प्रदेशों में सुभागसेन स्वतंत्र हो गया, पामीर और कम्बोज बैक्ट्रियन ग्रीकों ने हड़प लिया।

अन्तियोकस् जब युथिदेमो के बिरुद्ध विफल प्रयत्न हुआ तब लौटते लौटते उसने भी बहती गंगा में हाथ धो लेना निश्चित किया। भारत बेचारा देश था, अरक्षित। हिन्दूकुश डाँक उसने सुभागसेन पर आक्रमण किया। सुभागसेन में न तो अन्तियोकस से लड़ने की शक्ति थी, न उसे स्वतंत्रता के अपहरण का विशेष दुख था। उसने आत्मसमर्पण कर दिया। सिद्धान्ततः काबुल की घाटी सीरियक साम्राज्य का प्रान्त बन

गया। परन्तु उसे रखने की न तो अन्तियोकस् की इच्छा थी न शक्ति। वह तो बैक्ट्रिया में अपनी लाज की झेंप मिटाने आया था उसके लिये इतना बहुत था। वह लौट गया। पर उसके इस आचरण ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति में एक विशेषता पैदा कर दी। चन्द्रगुप्त के बाद जो कुछ काल भारत विदेशी हमलों से बचा रहा था अन्तियोकस् ने पड़ोसियों को भारत की राह दिखादी और जिस आसानी से सुभागसेन ने आत्मसमर्पण किया था उससे भारत विजय का कार्य अत्यन्त सरल ज्ञान पड़ा। फिर तो बैक्ट्रिय-ग्रीक हमलों का ऐसा ताँता लगा कि भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था सर्वथा विनष्ट हो गई, जिससे प्रायः सौ वर्षों तक भारत के एक बड़े भाग पर ग्रीकों का राज रहा और उसके बाद दो सदियों तक शक-कुषाण आदि अन्य विदेशी राजकुलों का। निश्चय अन्तियोकस के आक्रमण और विजय ने भारतीय नैतिक व्यवस्था का खोखलापन प्रमाणित कर दिया।

युथिदेमो के मृत्यु के बाद उसका पुत्र देमित्रियस् बाख्त्री का राजा हुआ। वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी था और उसने शासन की बागडोर लेते ही भारत की ओर नज़र डाली। सिकन्दर उसका आदर्श था और उसने विजित प्रान्तों के परे उस विशाल देश के हृदय तक चोट करने का निश्चय किया। १९० ई० पू० से पहले ही आक्रमण में उसका सहायक उसका सेनापति और जामाता मिनान्दर था, जिसका नाम प्राचीन भारतीय राजनीति और धार्मिक इतिवृत्त में अमर हो गया है।

भारत की अवस्था इस काल दयनीय थी। नर्मदा के दक्षिण में आंध्र-सातवाहनों का सुविस्तृत साम्राज्य था। पूर्व में आसमुद्र कलिंग के नृपति जैन धर्मानुयायी चेदिवंशीय ब्राह्मण खार-

वेल का साम्राज्य था जो कभी सातवाहनों पर पिल पड़ता, कभी दुर्बल मगध पर। मगध पर एक बार वह सफलतापूर्वक चढ़ भी दौड़ा था। ये दोनों ब्राह्मण-साम्राज्य सबल थे परन्तु उनकी सरगर्मी पूर्व और दक्षिण तक सीमित थी। सारा उत्तर और मध्य भारत पिछले मौर्यों के अधिकार में था जो जैन अथवा बौद्ध थे। मौर्यों के जैन और बौद्ध धर्मावलंबन तथा ब्राह्मणों से संघर्ष ने देश को कायर और अक्षम कर दिया था। अन्त्य सम्राट बृहद्रथ का चौथा पूर्वज शालिशूक मौर्य कट्टर जैन था। अपने साम्राज्य को उसने धर्म के नाम पर लहू लुहान कर दिया। काठियावाड़ और गुजरात में उसने अन्य मतावलंबियों को इस कदर जबर्दस्ती जैन बनाया कि प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। इसी समय देमित्रियस् ने मौका देखकर भारत पर हमला किया। शालिशूक का शासन इतना कष्टकर और असह्य हो गया था और जनता इतनी अक्रिय हो गई थी कि उसने बजाय उस शासन के विरुद्ध विद्रोह करने के विदेशी को आमंत्रित किया और उसे अपना त्राता समझ 'धर्ममीत' (धर्ममित्र) कह कर संबोधित किया। गार्गीसंहिता के युगपुराण में जहाँ इस हमले का जिक्र है देमित्रियस् का नाम 'धर्ममीत' लिखा मिलता है, यद्यपि उसका भारतीय रूपान्तर 'दिमित' था जैसा सम-कालीन महामेघवाहन खारवेल के हाथीगुम्फा वाले अभिलेख में खुदा है।

देमित्रियस् ने देखा भारतीय व्यवस्था नितान्त खखोली हो गई है और आक्रमण करते ही कुचल जायगी। उसने तत्काल हमला किया। काबुल के दक्षिण में उसने अपनी सेना के दो भाग किए। एक को अपने जामाता मिनान्दर की नायकता में देकर उसे मथुरा और साकेत की राह से मगध की ओर बढ़ने

की आज्ञा दी, दूसरा स्वयं लेकर राजपूताने की राह मध्यमिका (चित्तौर के पास की नगरी) होता हुआ चला। उधर से उसका जाना केवल इसीलिए उचित न था कि यह उसकी आक्रमण-नीति का एकांश था और दोनों की यह दोरुखी कूच मगध के हृदय पाटलिपुत्र पर एक साथ दो ओर से चोट करने वाली थी, वरन् इसलिए भी कि गुजरात, काठियावाड़ और मरुदेश शालिशूक की दमन-नीति से अत्यधिक जर्जर हो गए थे। वहाँ आक्रमक को सहायता और साधुवाद दोनों मिलते; साथ ही वहाँ की जनता के अत्याचार कातर होने के कारण उस भूभाग का आसानी से पराजित हो जाना अधिक संभावित था।

मिनान्दर अपनी सेना के लिए मथुरा और साकेत पर घेरे डालता जीतता पाटलिपुत्र जा धमका। स्वयं देमित्रियस् भी वायुवेग से मध्यमिका आदि विजय करता मागध राजधानी में प्रविष्ट हुआ। मौर्य साम्राज्य के सारे प्रान्त विच्छिन्न हो गए, लोकधर्म अव्यवस्थित! युगपुराण लिखता है कि इस 'दुष्ट विक्रान्त यवनों के आक्रमण से सारे 'विषय (प्रान्त) आकुल' हो गए, 'पार्थिव' (राजा) विनष्ट। सर्वत्र शूद्रों की तूती बोल उठी। ब्राह्मणादि द्विज भी शूद्रवत् आचरण करने लगे। स्वयं पतञ्जलि ने अपने समसामयिक 'महाभाष्य' में इस आक्रमण का उल्लेख किया—"अरुणद् यवनः साकेतं, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्"। परन्तु युगपुराण के प्रमाण से 'युद्ध दुर्मद यवन' बहुत काल तक मध्यदेश में न ठहर सके (मध्यदेशेन स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः)। स्वयं उनके घर में घोर युद्ध छिड़ गया था—

आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परम दारुणम्।
ततो युगवशातेषां यवनानां परिक्षये॥

युक्रेतिद् नाम के एक यवन वीर ने देमित्रियस् की बैक्ट्रियन गद्दी को उसकी अनुपस्थिति में सूनी पाकर उसे स्वायत्त कर लिया। देमित्रियस् ने जब यह सन्देश सुना तो वह सेना सहित शीघ्र स्वदेश की ओर लौटा। इसी समय बढ़ती यवन-शक्ति के भय अथवा देश को विदेशियों से रक्षा करने की कामना से कलिंग खारवेल मगध की ओर बढ़ा। अब तक देमित्रियस् पाटलिपुत्र और मगध छोड़ चुका था। खारवेल परन्तु बढ़ता गया और उसने कुचले पाटलिपुत्र से मनमाना धन चूसा और तीर्थंकर की वह मूर्ति, जिसे नन्दराज कभी कलिंग से उठा ले गया था, जो कलिंग पर मगध की विजय की छाप सी थी, फिर से कलिंग ले आया। देमित्रिय तो गृह-युद्ध के कारण अपने बाख्त्री-राज्य की पुनः प्राप्ति के अर्थ प्रयत्न करने स्वदेश की ओर लौटा और खारवेल सुविधा देख अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख में 'योनराज दिमित' का उसके आक्रमण भय से भागना लिखवाने से न चूका! यद्यपि जब शालिशूक दक्षिण राजपूताने, गुजरात और सौराष्ट्र में उसके स्वधर्मियों, जैनों पर बलात्कार कर रहा था तब खारवेल हिला तक न था। भारतीय राजाओं की नीति तब निस्संदेह स्वार्थपरक थी। अपने ही राजाओं के विरुद्ध उनकी दिग्विजय भी थी, अश्व-मेध भी था। विदेशी आक्रमणकारी के प्रति वे उदासीन थे, आक्रान्त जनता के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व न था। आक्रमणकारी से भिड़ना केवल उस राजा का काम था जो आक्रान्त था। देश में इतनी बड़ी उथल-पुथल हो गई; जिस पंजाब को सर करते सिकन्दर को पग-पग पर लड़ना पड़ा था, यद्यपि उसने विशाल ईरानी साम्राज्य केवल कुछ ठोकरों से चूर-चूर कर दिया था, उसी पंजाब को रौंदते चन्द्रगुप्त और

चाणक्य के मागध साम्राज्य के हृदय पाटलिपुत्र तक यवन घुसते चले आए, परन्तु न खारवेल अपनी जगह से हिला और न सातवाहन हिले ! और यह विप्लव साधारण नहीं था। इसे युगपुराण ने युगान्तर और युगों का सन्धि काल कहा। यह आक्रमण एक मार्ग से सहसा भी न हुआ था, पूर्णतया संयोजित था और इसका दबाव एक साथ पश्चिमी समुद्र तक सारे उत्तर भारत और मध्य देश पर पड़ा था। खारवेल ने उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अपनी प्रशस्ति की पक्तियाँ कुछ झूठे तारों में चमका लेनी ही काफी समझी ! वह अपनी यशः काया का निर्माण कर रहा था जब भारत की शोषित जनता विदेशी आतंक से कुचल कर खून उगल रही थी, जब अन्न के स्थान पर उर्वरा सनातन भूमि रक्त वमन कर रही थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त की आत्माएँ, बोधायन और आपस्तम्ब की आँखें स्वर्ग से आँसू डाल रही होंगी; उन्हीं के राजनीतिक केन्द्रीकरण और सामाजिक खण्डीकरण का तो यह परिणाम था कि उनके विशाल सामाज्य और इस समाज के रोम रोम बिखर गए और विरक्त उदासीन जनता चुपचाप देखती रही, यद्यपि उसकी विरक्ति अथवा उदासीनता आक्रमण जनित दुःखों से उनकी रक्षा न कर सकी। देमित्रियस् की ग्रीक संज्ञा 'भारत का राजा' हुई।

देमित्रियस् लौटा परन्तु युक्रेतिद उसे सबल पड़ा। उससे वह अपना राज्य न लौटा सका और शीघ्र वह नव-विजित की ओर लौटा। भारत में उसने अपने राज्य खड़े किये। कापिशी (काफ़िरिस्तान) पुष्करावती (पेशावर), तक्षशिला शाकूल (स्यालकोट) में अनेक यवन-राज्य खड़े हुए। देमित्रियस् ने यूथिदेमिया आदि नगरों का निर्माण किया।

यवन और हिन्दू साथ साथ रहने लगे। यवनों के स्वतन्त्र नगर भी थे, हिन्दू नगरों में स्वतन्त्र यवन मुहल्ले भी जहाँ ग्रीक महाकाव्य 'युलीसिज़', 'ईलियद' पढ़े जाते थे, अफ़लातूँ, अरस्तू के दर्शन विचारे जाते थे, इस्काइलस्, मिनान्दर के नाटक खेले जाते थे। इस सौ वर्षों में ग्रीक राज्य ने भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया। उनके दर्शन, ज्योतिष, मुद्राओं, व्यापार, राजनीति, साहित्य, कला सबको। मूर्तिकला में तो उनकी टेक्नीक की एक शैली ही चल पड़ी जो आज भी 'गान्धारशैली' के नाम से विख्यात है। इसी काल 'पौलिश' और 'रोमक' सिद्धान्तों के नाम से ग्रीक ज्योतिष ने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में अपना स्थान बनाया। इन आक्रमणों से दो लाभ हुये। एक तो वर्ण व्यवस्था सर्वथा टूट गई। पहले ही इसे बौद्ध साम्प्रदायिक आक्रमणों ने झकझोर दिया था, मौर्य राजाओं के बौद्ध-जैन आचरण ने भी इसे विशेष क्षति पहुँचाई थी और इस आक्रमण ने तो उसकी कमर ही तोड़ दी। दूसरे-मौर्य साम्राज्य के पतन से जो शक्ति राजतन्त्रों और संघ राज्यों को दबाए हुई थी वह स्वयं नष्ट हो गई जिससे फिर एक बार जन-सत्ता गणों की पूर्वी पंजाब राजपूताना, काठियावाड़ में प्रतिष्ठा हुई। यौधेय, कुणिन्द तथा मालव फिर उठ खड़े हुए।

इस अराजक परिस्थिति में शक्तिमान् राजनीतिक सहासीक के लिये खुला क्षेत्र था। एक ब्राह्मण साहसीक ने उस क्षेत्र में पदार्पण किया। भारत में ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष चिरकाल से चलता आया था। कालान्तर में जब शूद्र महापद्म नन्द ने ब्राह्मण मन्त्रियों की सहायता से क्षत्रिय शक्ति का सर्वथा नाश कर दिया तब मूर्छित क्षत्रियता ब्राह्मण चाणक्य के अङ्क में

जा गिरी और उसी छाया में उसने फिर साँस ली। परन्तु शीघ्र अशोक ब्राह्मण प्रभाव की शृंखला तोड़ स्वतन्त्र हो गया और उसकी सन्तान ने उत्तरोत्तर ब्राह्मण-विरोध किया। वे या तो बौद्ध थे या जैन। यदि राजकार्यों में वे जागरूक रहते तो उनके अत्याचार, उनकी दुर्बलता, उनकी शोषण-नीति, उनकी विलासिता प्रजा को शायद सह्य हो जाती, परन्तु उसके अभाव में इन दुर्बलताओं ने विशाल और व्यापक रूप धारण किया। प्रजा का असन्तोष भड़क उठा। ब्राह्मण-वर्ग ने उससे लाभ भी खूब उठाया। षड्यन्त्र के केन्द्र थे अन्त्य मौर्य सम्राट बृहद्रथ के पुरोहित-कुलीय सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग और कर्णधार थे 'महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि'। राजा के प्रथम कर्तव्य—प्रजारक्षण के नाम पर बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' (राजा प्रजारञ्जन और रक्षण की अपने अभिषेक के समय प्रतिज्ञा किया करता था जिसकी अपूर्ति से वह सिद्धान्ततः अपनी गद्दी से हटाया जा सकता था) कह सर खुले मैदान में सेना के सामने उसका बध कर दिया।

अब उसने मगध की गद्दी पर स्वयं आरूढ़ हो ब्राह्मण विधि विधान फिर से प्रचलित किए। यज्ञानुष्ठान फिर लौटे, वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। मनुस्मृति उसी काल में लिखी गई और उसने प्रव्रजित गृहस्थों, श्रमणों और बीच के अराजक विप्लव में उठे शूद्रों के विरुद्ध सख्त कानून बनाए। स्वयं पुष्यमित्र ने दो-दो अश्वमेध किए और फलतः उसका विरुद 'द्विरश्वमेधयाजी' हुआ। बौद्धों का विनाश भी उसने कुछ कम न किया। बौद्ध जैन प्रतिनिधि स्वरूप मौर्य राज्य की परिसमाप्ति से समाज में सबसे अधिक दुखी बौद्ध जैन ही हुए। अशोक के दान और स्थविर-परामर्शों से बौद्ध संघारामों में

कुछ राजनीतिक शक्ति भी आ गई थी, और जैसे जैसे मौर्य राजा शक्ति में क्षीण होते गए उनकी अवस्था अधोधः गिरती गई, उसी परिमाण में इन संघारामों का प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया था। संघारामों में प्रतिक्रिया हुई और वे पुष्यमित्र और उस ब्राह्मण-साम्राज्य का विनाश करने पर सन्नद्ध हुए। शाकल (स्यालकोट) में इस काल देमित्रियस् का साझेदार सेनापति और जामाता मिनान्दर राज करता था। बौद्ध दार्शनिक नागसेन के प्रभाव से वह हाल ही बौद्ध हो गया था। उसने राजनीति में धर्म को अस्त्र बनाया। बौद्धों ने उसे धर्मद्रोही ब्राह्मण पुष्यमित्र पर आक्रमण करने को उकसाया।

मिनान्दर दूरदर्शी था वह बौद्धधर्म में दीक्षित इसीलिए हुआ था कि कि देमित्रियस् के जीते मगध को फिर से वह स्वायत्त करले और वह जानता था कि बौद्ध परिचालित भारतीय जनता का एक विशाल समुदाय इस प्रकार उसके साथ होगा, विशेष कर क्षत्रिय जो न केवल ब्राह्मण विद्वेषी थे वरन् युद्ध में जिनकी विशेष क्षति भी हुई थी। मिनान्दर पूर्व की ओर बढ़ा, परन्तु मगध की तलवार अब निष्क्रिय जैन-बौद्ध क्षत्रिय के हाथ में न थी, कर्मठ ब्राह्मण के हाथ में थी, जो यज्ञ में पशु काटता था, युद्ध में मानव और जिसके कल्याण और आचार की रक्षा वरुण की भांति स्वयं पतञ्जलि करते थे। साकेत की ओर कहीं तलवारें खनकीं, कुछ चोटें हुईं, पूर्व और पश्चिम भिड़े, फिर पश्चिम रण छोड़ भागा और जैसा ग्रीक इतिहासकार प्लूतार्चने पाँचवी सदी में अपनी 'जीवनियों' में लिखा, 'गंगा के काँठे में लड़ता हुआ मिनान्दर मारा गया।' मिनान्दर की विधवा ने उसके उत्तराधिकारी शिशु को अंक में ले पश्चिम की शरण ली। पुष्यमित्र का क्रोध

अकारण था पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के सारे बौद्ध बिहार उसने जला डाले। मिनान्द्र की राजधानी शाकल पहुँच उसने घोषणा की—जो मुझे एक श्रमण मस्तक देगा, उसे मैं सौ दीनारें दूँगा ("यो मे श्रमणशिरं दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि—दिव्यावदान)। अपना दूसरा अश्वमेध करने की भी उसने ठानी। उसी की भाँति उदात्त उसका षोडशवर्षीय पौत्र वसुमित्र राजकुमारों से परिवृत्त अश्व की रक्षा में चला और यवनों को सिन्धु के उस पार कर दिया। उस नद के दक्षिण तटीय कोण में जो उनके साथ उसका 'महासम्मर्द' (मालविकाग्निमित्र) हुआ उससे उसने उनकी बची खुची शक्ति भी नष्ट कर दी। इसी का यह परिणाम हुआ कि पश्चिमी पंजाब के यवन राजा पिछले शुङ्गों से भी मित्र भाव रखने लगे थे और तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिखिद ने काशीपुत्र भागभद्र (जो ओद्रक अथवा भागवत था) के दरबार में हेलिओदोर नाम का अपना भागवत राजदूत भेजा जिसने विष्णु की पूजा में गरुड़ध्वज नामक स्तम्भ खड़ा किया, जो आज भी बेसनगर में खड़ा है। पुष्यमित्र के समय में फिर एक बार चन्द्रगुप्त के शासन काल की भाँति शक्ति और समृद्धि लौटी। पतञ्जलि के तत्वावधान में वर्ण-धर्म एक बार फिर जमा।

शुङ्ग भी कालान्तर में दुर्बल हो गए! उनका अन्तिम सम्राट देवभूति अतीव विलासी हुआ। 'अतिस्त्रीसंगरत' 'अनंगपरवश' देवभूति को उसके अमात्य वसुदेव ने सम्राट की दासी पुत्री द्वारा वध कराकर स्वयं शुंग-सिंहासन पर अधिकार कर लिया (देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामातं निहत्य स्वयमवनी भोक्ष्यति।—विष्णु

पुराण, अतिस्त्रीसंगरतमनगंपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देव-भूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत् ।—हर्ष चरित)। वसुदेव काण्वायन गोत्र का ब्राह्मण था । इस वंश में चार राजा हुए, सारे दुर्बल । इसी काल शकों का आक्रमण हुआ । जिस प्रकार कभी बौद्धों ने ब्राह्मणों के विरुद्ध देमित्रियस मिनान्दर को निमन्त्रित किया था, उसी प्रकार अब उन्हीं के विरुद्ध जैनों ने शकों को आमन्त्रित किया । उनका अग्रदूत कालकाचार्य था ।

लगभग १६५-१६० ई० पू० में उत्तर-पश्चिम चीन के कान-सू प्रान्त में बसने वाली हिंग-नू नामक जाति चरागाहों में सूखा पड़ने के कारण अपने पड़ोसी यूह-ची (ऋषीक) से जा टक-राई । यूह-ची को पीछे हटना पड़ा । पश्चिम हटते हुए वे सिर दरिया के उत्तर बसने वाले शकों से जा टकराए । शक अपना देश छोड़ १४०-१२० ई० पू० के बीच बाख्त्री और पार्थव राज्यों पर टूट पड़े । वहां का ग्रीक राजपरिवार शकों के आप्लावन में डूब गया । शक अब दक्षिण-पश्चिम पार्थिया की ओर मुड़े । पार्थव राजाओं के साथ अनेक हार जीतों के बाद मज्दूदात द्वितीय ने उन्हें हराकर पूव की ओर भगा दिया । उनके सामने काबुल की घाटी में हिन्दवी ग्रीकों का राज्य था, इससे वे सीस्तान या शकस्तान में फैल गए । फिर कन्धार और बलू-चिस्तान होते हुए वे सिन्धु-देश में उतरे जिसे हिन्दू शकद्वीप और ग्रीक इन्डो-सीथिया कहते थे । भारत में शकों का आगमन लगभग १६० ई० पू० के हुआ । कालकाचार्य उन्हें यहां लाते या न लाते, भारत उनका अनिवार्य लक्ष्य था और परिस्थितियों के संयोग से उनको यहां आना ही था ।

'कालकाचार्य-कथानक' के अनुसार कालक 'सगकुल'

जाकर शकों को 'हिन्दुगदेश' (उज्जैन) लाए। शक उनके पीछे चलते हुए सिन्धुनद को पार कर 'सुरट्ठ' (सौराष्ट्र) में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल का एक समान अधिपति था 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था। जब मज्दहात शक्तिमान हो गया तब उसने अपने पूर्वज आर्तवान का शकों से बदला लेना चाहा। उसने साहियों या 'सगकुल के पास दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सरदार यदि अपने कुल और बन्धु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो आत्महत्या करलें, वरन् उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर वह उनका सर्वनाश कर देगा। 'सगकुल' इस पर बड़ा व्याकुल हुआ और कालक के अनुरोध से वे उज्जयिनी में आ बसे। सिन्धुनद को पार करते ही वे सुराष्ट्र (काठियावाड़) के स्वामी बन गए। अवन्ती के शक शासन का यह प्रथम युग लगभग १०० ई० पू० और ५८ ई० पू० के बीच था। प्रायः सभी प्रमाणों से शकों द्वारा उज्जयिनी की विजय लगभग १०० ई० पू० के हुई। और ये प्रथम युगीय शक ही प्रमाणतः मालवा से मथुरा के शुङ्गों के उत्तराधिकारी हुए। युगपुराण शकों की उज्जयिनी-विजय के कुछ ही बाद प्रायः प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध में लिखा गया था और वह शकों की इस विजय घटना का समसामयिक प्रमाण है। युगपुराण में यह शक-आक्रमण १०० ई० पू० के लगभग शुङ्ग-शासन में ही हुआ, वैसे इसका समय कुछ बाद कण्व वंश के आरंभ में भी हो सकता है।

जिस मालव-गण ने कभी सिकन्दर की राह रोकी थी वह कुछ काल बाद पंजाब छोड़ दक्षिण की ओर चला। प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी समय शकों का भारत पर

आक्रमण हुआ जिनके ६५-६६ परिवारों ने सिन्धु पार कर सुराष्ट्र, गुजरात और अवन्ती पर अधिकार कर लिया था। मालव, और दक्षिण की ओर बढ़े। ५८ ई० पू० के आसपास अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ती की ओर चले जहाँ उन्हें विदेशी शकों से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई जरा जम कर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रता प्रिय मालव थे दूसरी ओर अवन्ती के शक जो मज्दद्दात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। भारत से बाहर उन्हें मृत्यु का सामना था इसलिए जान पर खेल कर वे मालवों से लड़े। फिर भी हार उन्हीं की हुई। मालव विजयी हुए और उनके मुखिया के नाम पर इस विजय के स्मारक स्वरूप जो संवत् चलाया गया उसका नाम 'विक्रम' अथवा 'मालव' संवत् पड़ा। तभी से मालवों के नाम पर अवन्ती का नाम भी मालवा पड़ गया। यहाँ से निकाले जाने पर कुछ शक संभवतः मथुरा चले गए, कुछ अपनी पुरानी भूमि सिन्धु देश में शकद्वीप की ओर बढ़ गए। इनके अतिरिक्त बाहर से उनकी धाराएँ निरन्तर आती रहीं। उन्होंने देश पर गहरा प्रभाव छोड़ा, क्योंकि देश के साथ उनका सदियों तक सम्बन्ध बना रहा था और उनके बाद जिस शक्ति ने भारत पर युगों तक शासन किया वह कुषाण-जाति भी विदेशी थी। शकों ने भारत पर पाँच केन्द्रों—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा उज्जयिनी, और महाराष्ट्र—से राज्य किया। अन्त में इनके पश्चिमी साम्राज्य को आभीरों के आक्रमण और आभीर ईश्वर-दत्त की महत्वाकांक्षा ने तोड़ दिया। ये आभीर भी इसी काल बाहर से आए थे और अभारतीय थे। शकों के जिस आक्रमण ने भारत पर गहरा प्रभाव डाला और मध्यदेश को आक्रान्त कर डाला वह शक अम्लाट के नेतृत्व में हुआ था।

उसका वर्णन गार्गीसंहिता का युगपुराण इस प्रकार करता है—

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुसूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान हो उठेगा, और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर (पाटलिपुत्र) को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे सभी (शक सरदार) अर्थ लोलुप और बलवान् होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्नाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चतुर्वर्णों को नष्ट कर देगा।

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बान्धवों के साथ नाश को प्राप्त होगा।

"फिर विकुयशस नामक अब्राह्मण लोक में प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी दुष्ट और अनुचित होगा।

"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जायगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषि कार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्र में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही, झुण्ड दीखेंगे, यह निश्चित है। नारियाँ पुरुष को जहाँ-तहाँ देखकर 'आश्चर्य!' आश्चर्य! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी। पुरुष (बचे-खुचे लाचारी से) सन्तोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।

"फिर असंख्य विक्रान्त शक प्रजा को आचार भ्रष्ट हो कर अधर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जन-संख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतारेंगे और उनका चतुर्थांश (धन) संख्या अपनी राजधानी को ले जायँगे।

"आर्य धर्मी और अनार्य दोनों नराधम हो जायँगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस युगान्त में एक आचार और एक वेश के हो जायँगे इसमें संशय नहीं। मित्रता नारी के लिए होगी और नर पाखण्ड-युक्त हो जायँगे। नीच भिक्षुक संसार में चीर और वल्कल और जटावल्कल धारणकरेंगे।"

इस उद्धरण पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं ! यह स्वयं सिद्ध है स्पष्ट है कि इस आक्रमण ने वर्ण धर्म को जर्जर कर दिया और राजनीतिक तथा सामाजिक विक्रिया कुछ काल तक चलती रही, परन्तु निरन्तर की चोट ने हिन्दू समाज को कुछ कम उदार न किया ! धीरे-धीरे उसकी धारणा शक्ति बढ़ती गई और उसने ग्रीकों की ही भाँति शकों को भी आत्मसात कर लिया। अनेक शकों ने रुद्रदामन और उपवदात (ऋषभदत्त) की भाँति अपने हिन्दू नाम रखे और हिन्दू देवी-देवताओं के उपासक बने ! रुद्रदामन ने तो १५० ईस्वी के लगभग जो गिरनार पर्वत पर अपना संस्कृत में अभिलेख लिखवाया, उसने उस भाषा में पहली गद्यशैली निर्मित की। चौथी शती के अन्त में शकों का सर्वनाश कर चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ पर अधिकार किया और अपना 'शकारि' विरुद धारण किया।

शकों के बाद भारत पर कुषाणों का हमला हुआ। कुषाण उसी युह-ची जाति का एक कबीला थे जिन्हें हूणों ने चीन के पश्चिमी भाग से भगा दिया था और जिनसे टकरा कर शकों ने

मध्य-दक्षिणी एशिया में कुहराम मचा दिया था। ये कालान्तर में यारकन्द की घाटी में बसे थे और भारतीय इन्हें ऋषीक कहते थे। धीरे-धीरे हिन्दूकुश पार कर स्वात और सिन्धु की घाटियों में ये गंधार में आ बसे। यहाँ इन ऋषीकों के सरदार ने उनके पाँचों कबीलों को एक कर अपने अथवा अपने कबीले के नाम पर उन्हें कुषाण कहा। तब से उनकी संज्ञा कुषाण हुई। इनका पहला राजा कुषाण कफ्स (कडफाइसिस) था। उसने अफगानिस्तान, काफिरिस्तान, गान्धार जीतकर अपने पूर्व शासित बलख, कम्बोज आदि में मिला लिया।

कफ्स बौद्ध था परन्तु उसका पुत्र विम कफ्स शैव था। उसने भारतीय प्रदेशों पर पहला हमला किया और शीघ्र सारा पंजाब, सिन्ध और मथुरा जीत लिए। उसकी राजधानी तो वक्षुनद की घाटी में बदख्शाँ में थी, परन्तु उसके राज्य की सीमाएँ पश्चिम में पार्थव साम्राज्य, पूर्व में चीन साम्राज्य और दक्षिण में (मथुरा के दक्षिण) सातवाहन साम्राज्य को छूने लगीं।

विम क़फ्स के बाद कनिष्क इस वंश में नृपति हुआ जिसने अपने पूर्व पुरुषों की विजयों को बढ़ाया। चीन से उसने खुत्तन यारकन्द आदि जीत लिया; पार्थव आक्रमण को असफल किया। पश्चिमी संयुक्त प्रान्त तथा बिहार जीता और बौद्ध भिक्षु, दार्शनिक और कवि अश्वघोष को बलपूर्वक कश्मीर ले आया। कश्मीर की सुन्दर घाटी उसने पहले ही जीत ली थी। जहाँ तक इतिहास को ज्ञात है उसकी विजयों के विरुद्ध भी देश में विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसकी मुद्राओं पर अनेक धर्मों के देवता उत्कीर्ण हैं। परन्तु विशेष झुकाव उसका बौद्ध धर्म की ओर था और उसके प्रचार और सेवा में काफी परि-

श्रम भी किया। उसने पार्श्व की सलाह से श्रीनगर में चौथी बौद्ध संगीति भी बुलाई, जिसकी कार्यवाही दार्शनिक वसुमित्र की अध्यक्षता में और उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष की अध्यक्षता में हुई। उसी की संरक्षता में महायान संप्रदाय की भी उत्पत्ति हुई और बुद्ध की प्रथम प्रतिमा बनी। भारतीय भास्कर्य की एक विशिष्ट शैली का नाम कालान्तर में कुषाण-शैली ही पड़ गया। कनिष्क के पश्चात्कालीन उत्तराधिकारी तो पूर्णतः हिन्दू हो गए और वासुदेव आदि नाम रखने लगे, शिव की उपासना करने लगे।

कुछ दिनों में कुषाण ब्राह्मण वाकाटकों और क्षत्रिय नागों की सम्मिलित चोट से नष्ट हो गए और उनका शासन केवल काबुल की घाटी में रह गया। समुद्रगुप्त ने जिनको अपने प्रयाग स्तभ वाले लेख में शाहिशाहिनुशाही शकमरुण्डै कहा है वास्तव में वे शक-कुषाण दोनों ही थे। अल्बेरूनी ने इनके साठ राजाओं का जिक्र किया है। काल के अन्तर से ये लोग शुद्ध भारतीय माने जाने लगे थे और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण भी बन बैठे। भारतीय समाज ने उनको इस नए कलेवर में स्वीकार भी किया। ये ब्राह्मण-क्षत्रिय 'साही' एक लम्बे काल तक भारत के प्रहरी रहे और बाहर के आक्रमणों को ग्यारहवीं सदी तक रोकते रहे। भारत की ही रक्षा में उनके कुल का क्षय हुआ।

गुप्त साम्राज्य जिस समय अपने उत्कर्ष के पथ पर था तभी एक बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया। वह जाति हूण थी। हूण हुइंग-नू नाम से चीन के उत्तर पश्चिमी प्रान्त कान-सू में रहते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि अनावृष्टि से अकाल पड़ने के पश्चात् उनको अपना देश छोड़ पश्चिम की ओर बढ़ना पड़ा। उनके संक्रमण से अनेक जातियाँ चल पड़ीं और

परस्पर कुछ जमाने तक टकरातीं और साम्राज्यों की जड़ें हिलातीं रहीं। हूणों का संक्रमण आँधी की तरह था। इनके आक्रमण से कितनी ही सभ्यताएँ मिट गईं, कितने ही साम्राज्य उखड़ गए। अपने सरदार अत्तिल के नेतृत्व में उन्होंने पूर्वी यूरोप को जलाकर खाक कर दिया। रोमन साम्राज्य की उन्होंने रीढ़ तोड़ दी। वे जहाँ-जहाँ गए गाँव नगर जलाते गए, उनके निवासियों को तलवार के घाट उतारते गए। जली बस्तियाँ उनके मार्ग का पता बताती थीं।

लगभग ४५५ ई० के उन्होंने भारत पर भी अपनी कुदृष्टि फेरी, परन्तु तब गुप्त साम्राज्य के एक वीर स्कन्दगुप्त ने उनकी बाढ़ रोक दी। भीतरी के स्तम्भ लेख से स्पष्ट है कि उसके हूणों से टकरा जाने से धरा हिल गई, भुजाओं ने आवर्त बना दिया—"हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।" परन्तु स्कन्दगुप्त उन्हें कुछ ही काल तक रोक सका। सम्भवतः उनसे लड़ते ही लड़ते उस नरपुंगव की जान भी गई। परन्तु हूणों की लहर पर लहर आती रही और कला-विलास से जर्जर न तो समाज ही उनको रोक सका न साम्राज्य की शक्ति ही। गुप्त साम्राज्य उनकी ठोकरों से शीघ्र टूक-टूक हो गया। उसके प्रान्त-प्रान्त बिखर गए। हूणों ने देखते-देखते पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया। एकबार मालवा के यशोधर्मन् विक्रमादित्य और एक बार मगध के बालादित्य ने उन्हें हराया। उसके पहले तोरमाण ने मालवा पर अधिकार कर लिया था। उसके पुत्र मिहिरगुल को ऊपर लिखे दोनों राजाओं ने मार भगाया तो वह काश्मीर भागा और वहाँ शरणागत हुआ फिर प्रवंचना से वहाँ के राजा को मारकर काश्मीर की गद्दी पर जा बैठा। वह अपने क्रूर कृत्यों के लिए विख्यात था। उसके बाद हूणों का

विशेष दबदबा तो न रहा परन्तु निस्सन्देह उनके छोटे मोटे राजा मालवा आदि में दीर्घ काल तक राज करते रहे। हूणों की साधारण जनता भारतीय आबादी में खो गई और उससे राजपूतों के अनेक कुल प्रसूत हुए। इसी प्रकार गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद अनेक जातियाँ आईं और यहाँ की आबादी और समाज में खो गईं। गूजरों ने गुजरात को अपना नाम दिया। गुर्जर-प्रतिहारों का प्रसिद्ध सम्राट कुल उन्हीं का था। अनेक अग्निकुलीय राजपूत कुल वास्तव में विदेशी थे, परन्तु भारतीयकरण के कारण क्षत्रिय मान लिए गए। उस काल की आई जातियों में अनेक ऐसी थीं जो आज भी पूर्णतया हिन्दू समाज में घुल न सकीं। उनके शरीर की बनावट आदि साधारण जनता से उन्हें पृथक् कर देती हैं। जाट, गूजर, अहीर आदि उन्हीं में से कुछ हैं। इनमें से अहीर तो शकों के साथ-साथ ही आए थे और उन्होंने एक बड़ा साम्राज्य भी खड़ा कर लिया था। ईश्वरदत्त इनके सम्राटों में विशेष प्रसिद्ध हुआ। इनके बाद छोटे-मोटे हमले आते ही रहे।

हर्ष के शासनकाल में ही मुहम्मद ने अरब में इस्लाम धर्म की नींव डाली। ६३२ ई० में उनकी मृत्यु हुई। और उस मृत्यु से लगभग ८० वर्षों के भीतर-भीतर मुसलमानों ने पूर्व में सिन्धु नद से पश्चिम में अतलान्तक सागर तक के विस्तृत देश जीत लिए। मुहम्मद की मृत्यु के पाँचवें ही वर्ष में अरबों ने यज्दगुर्द को परास्तकर ईरानी साम्राज्य पर कब्जा कर लिया। अगले १५ वर्षों में उन्होंने रोमनों से शाम, फिलस्तीन और मिस्र ले लिए।

ख़लीफ़ा उमर के समय में भारत के पश्चिमी तट पर अरबों के पहले हमले हुए। कोंकड़ से थाना जिले पर जो अरब हमला

हुआ उसमें अरबों ने पुलकेशिन् के हाथों मुँह की खाई। ६४४ ई० में अरबों ने श्रीहर्ष राय से मकरान जीत कर उसे मार डाला। उसके पुत्र के भी मारे जाने पर वह सिन्ध का राज्य उस कुल के ब्राह्मण मन्त्री चच के हाथ आया। राजा दाहिर को दण्ड देने के लिए मुहम्मद-इब्न-कासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की। देवल पर उसका क़ब्ज़ा होते ही दाहिर पूरब की ओर हट गया। दाहिर के भाई ने उस प्रदेश में मुहम्मद का खूब मुक़ाबला किया, परन्तु मुसलमान अन्त में विजयी हुए। प्रजा की एक बड़ी संख्या बौद्ध थी और उसने इस विपत्ति से लड़ने की कोई चेष्टा न की।

लगभग दसवीं सदी के मध्य अलप्तगीन नामक तुर्क ने जो कभी बुखारा के अमीर के यहाँ प्रतिहार रह चुका था, ग़ज़नी में एक छोटी-सी जागीर की नींव डाली। उसके दामाद सुबुक्त-गीन ने ९८६ ई० के लगभग भारत को ओर निगाह फेरी और उसने भारतीय साही राजा जयपाल के कई किले छीन लिए। उसने जयपाल के ऊपर कई हमले किए। उनसे तंग आकर जयपाल ने भी उसके राज्य पर हमला करने की ठानी। परन्तु पहले ही हमले में वह हार कर पकड़ा गया और उसे दयनीय सन्धि करनी पड़ी। घर लौट कर जयपाल ने शर्तें भुला दीं। इस पर सुबुक्तगीन ने फिर उसके राज्यपर चढ़ाई की। जयपाल ने कन्नौज के राज्यपाल और जेजाकभुक्ति के धंगा की सहायता से उसका सामना किया पर वह फिर हारा और लमग़ान पर सुबुक्तगीन ने अधिकार कर लिया।

सुबुक्तगीन के बेटे महमूद ने १००१ और १०२६ ई० के बीच प्रायः प्रत्येक वर्ष भारत के नगरों पर आक्रमण कर नगरों को लूटा और हिन्दू मन्दिरों को तोड़ उनके धन-धान्य उठा ले

गया। १००१ ई० में उसका पहला हमला हुआ। जयपाल, उसका बेटा आनन्दपाल और उसके सारे सरदार कैद हो गए और पेशावर तथा ओहिन्द पर महमूद का क़ब्ज़ा हो गया। जयपाल अग्नि में जल मरा। आनन्दपाल ने नमक की पहाड़ियों में भेरा को राजधानी बनाकर लड़ाई जारी रखी। १००६ ई० की चढ़ाई को रोकने के लिए आनन्दपाल ने अनेक भारतीय राजाओं की सहायता से एक बड़ी सेना तैयार की, परन्तु वह फिर हारा। इस हार का कारण उसका हाथी था। चोट लगने से वह भागा और सेना ने राजा को भागते समझ मैदान छोड़ दिया। १०१८ में महमूद ने मथुरा और कन्नौज को लूटा। उसकी अन्तिम प्रसिद्ध चढ़ाई १०२३-२४ में सोमनाथ के प्रसिद्ध शिव-मन्दिर पर हुई। उसके पहुँचते ही अन्हिलवाड़ का राजा भीम सोलंकी भाग कर कच्छ चला गया। मन्दिर में पुजारियों तक की संख्या सम्भवतः महमूद की सेना से अधिक थी, परन्तु देश की कायरता ने उसे अनायास जिता दिया। और वह अनन्त धनराशि गजनी ले गया।

११९१ में भारत के सीमान्त की ओर उस मुस्लिम विजेता ने रुख किया जिसने गजनी का राज्य महमूद के उत्तराधिकारियों से छीन लिया था। एक बड़ी सेना लेकर वह हिन्दुस्तान में घुसा दिल्ली और अजमेर का चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय मुसलमान इतिहासकारों का राय पिथौरा जुझौती में अपना समय और शक्ति नष्ट कर रहा था। शिहाबुद्दीन गोरी ने जब सरहिन्द ले लिया तब पृथ्वीराज उससे लोहा लेने आगे बढ़ा। पानीपत के पास तरावड़ी के मैदान में लोहे से लोहा बजा और चौहान रिसालों ने पठानों के पैर उखाड़ दिए। शिहाबुद्दीन भी घायल होकर भागा। मैदान पृथ्वीराज के हाथ रहा।

शिहाबुद्दीन अपनी पराजय भूल न सका। वैसे भी वह घर बैठा नहीं रह सकता था क्योंकि उसे हिन्दुस्तान जीतना था। अगले साल एक विशाल सेना लेकर वह लौटा। उसी तरावड़ी के मैदान में फिर घमासान हुई। शिहाबुद्दीन की सेना सधे तरीके से पीछे हटी। राजपूतों ने समझा मुसलमान भाग रहे हैं। अपनी कतारें छोड़ बेतरतीब उन्होंने उनका पीछा किया। मुसलमान लौटे और जम कर लड़ने लगे। हिन्दुओं की सेना बिखर गई थी भाग चली, स्वयं पृथ्वीराज हाथी से घोड़े पर चढ़ कर भागा। मुसलमानों ने उसका पीछा किया और सरस्वती के किनारे उसे पकड़ कर मार डाला। शिहाबुद्दीन ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया।

११९४ ई० में शिहाबुद्दीन फिर लौटा और अब कन्नौज के विरुद्ध चला। कन्नौज तब भारत की राजधानी समझा जाता था। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी वहाँ अधिष्ठित थी जिससे कन्नौज की शान 'महोदय श्री' कहलाती थी, जिसे जीतने के लिए विजेता सदा तत्पर रहते थे। कन्नौज भारत की राजधानी के पद पर प्रतिष्ठित था। उसे बचाने के लिये वृद्ध जयचन्द्र अपनी सेना लेकर चन्दावर के मैदान में उतरा और वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। इतिहास के व्यंग ने भगोड़े पृथ्वीराज को वीर और देशभक्त कहा और सम्मुख समर में प्राण देनेवाले जयचन्द को कायर और देशद्रोही!

११९७ ई० में शिहाबुद्दीन गोरी के एक सेनापति मुहम्मद बिन बख्त्यार ने थोड़े से सैनिक लेकर बिहार बंगाल पर चढ़ाई की। किसी गांव में उसका अन्त किया जा सकता था, परन्तु वह बेदाग़ निकल गया और छोटी-सी सेना से न केवल उसने बिहार और बंगाल विजय की वरन् उद्दण्डपुर के हजारों भिक्षुओं

को तलवार के घाट उतार दिया। इतिहास में भारतीय कायरता और मुस्लिम साहस का यह अपना उदाहरण आप है। इस हमले और कुतबुद्दीन ऐबक के प्रयत्न से सारे हिन्दुस्तान पर मुसलमानों का कब्जा हो गया।

१२२१ में अब उत्तर भारत पर दास-कुलीय इल्तमश का राज था। मंगोल मध्य एशिया में खून की होली खेल रहे थे। उनके सरदार चिंगेज खां ने वहां से पुराने साम्राज्य उखाड़ कर अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया था। मंगोलोंके हमल से हिन्दुस्तान सहमा रहता था। उस साल भारत पर एक नई विपत्ति आई। अपने प्रतिद्वन्द्वी जलालुद्दीन का पीछा करता हुआ चिंगेज़ भारत पहुँचा। परन्तु शीघ्र वह उसकी खोजकर लौट गया। हिन्दुस्तान की बला टली। ग़नीमत थी कि हिन्दुस्तान जीतने नहीं आया था। फिर भी उसके आने और लौटने के रास्ते खून के नाले और जले हुए गांव बताते थे।

चौदहवीं सदी के अन्त में मध्य एशिया में एक और आंधी उठी थी, जिसकी मार से सल्तनतें चूर-चूर हो गई थीं। समरकन्द के चगताई बंश के तैमूरलंग ने वोल्गा से यारकन्द तक फैला हुआ एक साम्राज्य स्थापित किया था। उसने तुगलक बंश के अन्त्य दिनों में १३९८ ई० में भारत की ओर नजर फेरी। जब वह भारत की ओर बढ़ा तो यहां सर्वत्र आतंक छा गया। गांव के गांव शहर के शहर उसकी सेना के आगे केवल भय से भागते चले, यदि यह जन-समूह केवल रुककर उसकी सेना पर गिर गया होता तो वह पिस गई होती, पर कायरता ने भारतीयों के दिलों में इस कदर घरकर लिया था कि तैमूर लूटता हुआ बढ़ा और भारतीय दिल्ली की ओर भागे। सुल्तान दिल्लीके किले से तैमूर के मुकाबले के लिए निकला। तैमूर ने लड़ाई

शुरू होने के पहले जो अपनी सेना की स्थिति देखी तो मालूम हुआ कि उसका एक बड़ा भाग केवल भारतीय कैदियों की निगरानी में व्यस्त है। झट उसने कैदियों का वध करने की आज्ञा दी। एक लाख कैदी वध कर दिए गए। संसार के इतिहास में यह भी एक अद्वितीय घटना थी। एक लाख सैनिक तैमूर के साथ न थे। ये एक लाख कैदी उस काल में संसार विजय कर सकते थे पर इन्होंने चुपके से बिना जबान हिलाए अपना मस्तक बढ़ा दिया और वध हो जाने दिया। तैमूर सुल्तान को जीत दिल्ली लूटता मेरठ और हरद्वार पहुँचा। रास्ते में गांव जलाता, जनता को तलवार के घाट उतारता कांगड़ा के रास्ते जम्मू होता शिवालिक के पहाड़ों में खो गया।

मुसलमान हमलों में मुगलों का हमला बड़े महत्व का था, क्योंकि उसने उस सल्तनत की नीव डाली जिसने भारत में जमकर राज किया। जिसमें बाबर, अकबर, शाहजहां और औरंगजेब हुए। बाबर माँ की ओर से चिंगेज खाँ और बाप की ओर से तैमूर का वंशज था। ग्यारह साल की उम्र में वह फ़रगना की गद्दी पर बैठा। पर उसे शीघ्र गद्दी छोड़ भागना पड़ा। अनेक बार उसने वह देश जीता अनेक बार उसे छोड़ वह भागा। विपत्ति उसकी सहचारी बनी और उसने उसमें साहस और अध्यवसाय भरा। बाबर अन्त में हार कर मध्य एशिया के स्वप्न भुला दक्षिण की ओर मुड़ा। काबुल जीतकर उसने अपनी सल्तनत के पाए वहाँ खड़े किए और वहां से उसने हिन्दुस्तान जीतने के मंसूबे बांधे।

हिन्दुस्तान तब लोदी वंशीय अफ़ग़ान के हाथ में था जिससे उसके प्रायः सारे सरदार नाराज़ थे। मेवाड़ के राणा सांगा पर उसने दो-दो चढ़ाइयां कीं। दोनों बार उसे धूल चाटनी पड़ी

और एक बड़ा भाग खोकर वह दिल्ली लौटा था। सांगा प्रायः बाबर की आयु का ही था, उत्कट लड़ाका। गुजरात और मालवा तक उसका आतंक छाया रहता था। अब इब्राहिम लोदी को हराकर उसने और भी प्रान्त हथिया लिये। पर उसने बढ़कर दिल्ली पर कब्जा क्यों न कर लिया? उसके बजाय उसने बाबर के पास आक्रमण के निमन्त्रण देने के लिए अपने दूत भेजे। पंजाब का दौलतखां लोदी लाहौर में विद्रोही हो गया था, इब्राहिम का चाचा अलाउद्दीन बाबर से जा मिला था। इससे बढ़कर बाबर से व्यक्ति को संयोग क्या मिल सकता था, जब भारत के पेशवा और समर्थ लड़ाके उसे अपना देश जीतने को आमन्त्रित कर रहे थे। उधर पूरब में लोहानी अफ़-गान दिल्ली से किनारा कर अपने स्वतन्त्र साम्राज्य के स्वप्न देख रहे थे।

लाहौर और दीपलपुर लेता बाबर आगे बढ़ा। दिल्ली के पास पानीपत के मैदान में १५२६ ई० में इब्राहिम ने एक लम्बी सेना के साथ उसका मुकाबला किया। उसके पास कुल बारह हजार सेना थी। सांगा अपने घर से तमाशा देख रहा था, लोहानी चुप थे, दौलत खां आक्रमक से मिल गया। बाबर के पास ७०० तोपें थीं। भारतीय सैनिकों ने न कभी तोप देखे थे न कभी बन्दूकें, और उनकी मार के सामने वे दम भर न टिक सके। हाथी तोपों की मार के सामने अपनी सेना को कुचलते हुए भाग निकले। बाबर ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया।

उसका जमुना पार बढ़ना रणबांकुरे राजपूतों और सांगा से लोहा लेना था। आगरे के पीछे बयाना और धौलपुर तक सांगा का राज्य था। सांगा बाबर का भीषण प्रतिद्वन्द्वी था। उसकी एक आंख एक बांह तो पहले ही जाती रही थी। वास्तव में

हिन्दुस्तान की लड़ाई इब्राहिम और बाबर के बीच नहीं सांगा और बाबर के बीच थी। बाबर ने बढ़कर बयाना पर कब्जा कर लिया। सांगा ने तिरछे हमले से उसे वहां से निकाल बाहर किया। सांगा की शक्ति और राजपूतों की विकट मार की खबर पहले ही बाबर के सैनिकों को मिल गई थी और उनपर उनका आतंक छा गया था। एक मुगल सरदार बयाने की ओर बढ़ते हुये जो सांगा की राह रोकने गया, तो राजपूतों ने उसे इस तरह पीछे फेंका कि वह मुगलों के पड़ाव से आ टकराया। सर्वत्र राजपूतों का त्रास जम गया। बाबर ने स्वयं भयभीत होकर सीकरी में पड़ाव डाला, वहां खाइयां खुदवाई और अपनी ७०० फिरंगी तोपों को चमड़े के फीतों से बँधवा दिया, जिसमें राजपूतों के हमलों से वे तितर-वितर न हो जायँ। उसमानी तुर्कों ने इस विधि का सफल प्रयोग ईरानियों के विरुद्ध किया था और पहले पहल यह तरीका बोहेमिया के लोगों ने जर्मन रिसालों का वेग रोकने के लिए अमल में लाया था। यूरोपी फिरंगी तरीके राजपूतों की राह में रोड़े अटकाने आए। पर उनके रिसालों की ठोकरों से तितर-बितर हो गए।

बाबर ने बड़ी सूझ, धैर्य और हिम्मत से काम लिया। राजपूतों ने भयंकर हमला किया। पठानों और मुगलों की कुमक विचल गई। तोपों से भयंकर आग बरस रही थी, परन्तु राजपूतों का वेग उनसे अधिक था। सीधे उनके मुँह में राजपूत घुड़सवार खो जाते, उनकी दगती बाढ़ों में उनकी कतारें चमकतीं और क्षण भर बाद सवार और घोड़े आस्मान में उड़ते हुए नजर आते। जान पड़ा जैसे वे दगती तोपों पर भी क़ब्ज़ा कर लेंगे। पर सहसा सांगा के मस्तक में एक तीर लगा और उसने गहरा घाव कर दिया। अस्सी घावों वाला सांगा मूर्छित

हो गया। उसके अनुचर उसे युद्ध क्षेत्र से बाहर ले गए। झाला अज्जा ने उसका स्थान लिया। भयंकर मार होती रही, लोहा से लोहा बजता रहा। एकाएक पीछे से चक्कर मार बाबर की रक्षित सेना ने राजपूतों की चन्दावल पर हमला किया। जब तक राजपूत चन्दावल सम्हालें सामने की मुग़ल फ़ौज ने उनकी हरावल तोड़ दी। इस युद्ध नीति को पश्चिमी एशिया में तुलुग़मा कहते थे। शैबानी की इसी चाल से सरफ़शाँ की लड़ाई में बाबर ने समरकन्द का मुकुट खोया था, इसी चाल से खानवा की लड़ाई में उसने हिन्दुस्तान का ताज जीता।

अठारहवीं सदी के मध्य और तीसरे चरण में दो और हमले हुए जिनसे भारत की काफी क्षति हुई। जब मुग़लों का वैभव निम्नगामी हो चला था, उनकी शक्ति दुर्बल हो चली, तभी नादिरशाह ने ईरान से भारत की ओर प्रस्थान किया। आफ़गानिस्तान जीत उसने भारत पर हमला किया और करनाल के पास शाही सेना को बुरी तरह परास्त किया। ईरानी तोपन्दाज़ी का कार्य बड़ी सुगमता से करते थे। भारतीय उनके सामने ठहर न सके। नादिरशाह ने शर्त के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। पहले तो वह चुप रहा परन्तु ग़ल्ले की दर के सम्बन्ध में उसके सिपाहियों और दिल्लीवालों से जो झगड़ा हुआ उससे चिढ़कर उसने क़त्लेआम का हुक्म दे दिया। १७३९ ई० के इस क़त्लेआम का मुक़ाबला न तो १२२१ ई० का चिंगेज खां का हमला कर सकता था और न १३९८ ई० का तैमूर का। नौ बजे सुबह से दो बजे तीसरे पहर तक यह क़त्लेआम चलता रहा, दिल्ली में खून के नाले बहते रहे। मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर फिर यह हत्याकांड रुका। नादिरशाह लगभग पचास करोड़ रुपये तख्त-ताऊस और कोहनूर लेकर स्वदेश लौटा। देश

लहू-लुहान हो गया। मरहठे और राजपूत देखते और आपस में लड़ते रहे।

१७६१ ई० में पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई। मरहठों ने धीरे-धीरे दिल्ली के दरबार पर अपना प्रभाव जमा लिया था। अज़ीज़ुद्दौला को गद्दी पर बैठाना उन्हीं का काम था। नादिर-शाह को मारकर अफगानिस्तान की जनता ने उसके सेनापति अहमदशाह अब्दाली को बैठा दिया था। उसने आरम्भ में भारत पर छोटे-मोटे अनेक हमले किए और पंजाब में अपना सूबेदार नियुक्त कर वह स्वदेश लौट गया। उसके जाते ही मरहठों ने लाहौर पर हमला कर उस पर अधिकार कर लिया। इससे नाराज होकर उनको दण्ड देने की गरज से अब्दाली लौटा। मरहठों ने भी एक सेना तैयार की। गायकवाड़, सिन्धिया और होल्कर शामिल थे। भरतपुर का जाट राजा सूरजमल भी उनसे आ मिला। राजपूतों ने भी कुछ मदद भेजी। सदाशिवराव सेना का संचालक बना और पेशवा का पुत्र विश्वासराव उसका सहायक। परन्तु इस सेना के विविध अंगों में मेल न था। पानीपत के मैदान में अब्दाली आ डटा था, परन्तु उस पर शीघ्र हमला न हो सका। ऐन मौके पर इस संबन्ध में कथोपकथन होने लगा कि युद्ध प्राचीन अथवा अर्वाचीन किस विधि से हो। सूरजमल ने पुरानी पद्धति का समर्थन किया जिसे होल्कर ने सराहा। सदाशिवराव जिसने इब्राहिम गर्दी की तोपों की मार उदयगिर के मैदान में देखी थी, खुल्लमखुल्ला युद्ध के पक्ष में था। इब्राहिम ने उसे डरा भी दिया था कि यदि उसकी राय न मानी गई तो वह अब्दाली से जा मिलेगा। खैर, हमला हुआ और पहली मार से मरहठों की विजय भी हुई। पर, सदा शिवराव काम

आया और इब्राहिम घायल हुआ। सिन्धिया घायल होकर भागा। और होल्कर ने भी सूरजमल के साथ भारत की राह ली। यह खबर पाकर स्वयं पेशवा उत्तर की ओर बढ़ा पर नर्मदा के पास उसे एक पत्र मिला जिसका भाव इस प्रकार था—दो मोती नष्ट हो गए, सत्ताइस सोने की मोहरें खो गईं, चाँदी-ताँबे की कोई गिनती नहीं। पेशवा को इससे इतनी चोट पहुँची कि उसका निधन ही हो गया। उसकी मृत्यु और मरहठों की हार ने महाराष्ट्र को भयंकर विपद में डाल दिया। इस युद्ध का यह परिणाम तो होना ही था। ऐन मौके पर जहाँ सक्रियता और एकता की आवश्यकता थी, निष्क्रियता और वाग्मिता ने उनका स्थान ले लिया। आपसी वैमनस्य, मन्त्रणा की अनेकता और व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा ने विजय पराजय में परिवर्तित कर दी; वरना भारत फिर एक बार शक्ति और स्वतन्त्रता के समीप पहुँच गया था। चारों ओर मराठों का उत्कर्ष हो रहा था। अपने अपने केन्द्रों में राजपूत आदि भी प्रबल थे और मुसल्मानों का सूर्य डूब रहा था परन्तु परस्पर की फूट ने पासे पलट दिए।

भारत पर अन्तिम अधिकार अंग्रेजों का हुआ। यूरोपीय जातियों का भारत पर अधिकार वस्तुतः आक्रमण से नहीं कूटनीति से हुआ। यथार्थतः उनकी दो ही लड़ाइयाँ—प्लासी और बक्सर की—अपेक्षाकृत महत्व की थीं। उनके खेल राजनीतिक दाँव-पेच और अवसरवादिता के थे। प्रायः सोलहवीं सदी में ही यूरोपीय भारत में आने लगे थे, विशेष कर व्यापारी के रूप में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज आते रहे और व्यापार के निमित्त वे अपने केन्द्र और कोठियाँ स्थापित करते रहे। भारतीय दरबारों में बहुत समय उनकी परस्पर स्पर्धा चलती रही

जो मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद बेहद बढ़ गई। उनका काम मौका देखकर देशी रियासतों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काना और लड़ाना हो गया। जब उनमें वैमनस्य बढ़ जाता तो ये उनके यहाँ सैन्य-शिक्षण, तोपन्दाजी आदि का काम करने लगते। जब उनकी शक्ति क्षीण हो गई तो ये प्रबल हो गए और इनकी आपसी कसमकश जोर पकड़ती गई और अन्त में उसने खुले युद्ध का रूप धारण किया। और देश, तो भारतीय क्षेत्र से अलग हो गए परन्तु फ्रांसीसी और अंग्रेज कुछ काल तक संघर्ष करते रहे, अन्त में अंग्रेज सफल हुए। और उन्होंने फ्रांसीसियों को निकाल कर अपना असली रूप धारण किया। पहले तो वे देशी रियासतों के संरक्षक बने फिर उन्हें हड़प गए। इसके उत्तर में १८५७ ई० में सिपाही विद्रोह हुआ, परन्तु योग्य सेनापति के अभाव, संगठन की कमी, गुरखों, और सिक्खों के देशद्रोह, और, विद्रोह देशव्यापी न होने के कारण यह विप्लव असफल रहा। फलस्वरूप अंग्रेज पार्ल्या-मेण्ट ने लार्ड केनिंग के शासन काल में भारत का इन्तजाम अपने हाथ में ले लिया। अंग्रेज पहले सौदागर होकर आए, फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हैसियत से देश के शासक हुए, फिर शोषक स्वामी। प्रायः पौने दो सौ वर्षों तक भारत वसु-न्धरा को भोगकर, उसकी जनता को कंगाल बना और उसमें फूट के बीज बोकर उन्होंने उससे हाथ खींचा यद्यपि उनके उपकार भी निस्सन्देह स्वीकार करने पड़ेंगे। आधुनिक शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, राष्ट्रीयता की भावना आदि उनकी देन हैं, जिनसे हम सर्वथा इनकार नहीं कर सकते।

हमले क्यों होते हैं? भारत पर हमले क्यों हुए? और हमलों में भारत हारा क्यों? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं। यद्यपि

इनके उत्तर इतने आसान नहीं। नीचे उन प्रश्नों पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

हमले क्यों होते हैं? प्रश्न यह केवल अतीत का नहीं है। और इसका उत्तर कम से कम अतीत और वर्तमान दोनों से संबंध रखता है। हमले होते हैं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, यशोविस्तार के लिए, शोषण के लिए। अतीत के हमले आर्थिक कारणों से, यशोविस्तार के लिए, धर्म प्रचार आदि के अर्थ हुए। जातियों के संक्रमण प्राचीन काल में अधिकतर जीवन के साधनों के अभाव के कारण हुए। पशुचारण के लिए, चारागाहों की कमी, आहार के अभाव, कृषि की असुविधाओं के कारण जन समूह या उनके कबीले एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते फिरे। आर्य इसी कारण यूरोप के पूर्वी भाग के अपने आवास को छोड़ ईरान, भारत, इटली और ग्रीस आदि देशों को चले गए। कान-सू प्रान्त में अकाल पड़ने से हुइंग-नू (हूण) चीन से पश्चिम को इसी कारण चल पड़े थे। कई बार किसी शक्तिशाली जाति के स्थान परिवर्तन से भी, और जातियों के आवास और निष्क्रमण पर प्रभाव पड़ता है। हूणों के अपने स्थान-परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि युह-ची अपने स्थान से हिल गए। युह-चियों के हिलने से शकों में संक्रमण हुआ और इस कारण बाख्त्री का राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। आर्थिक कारण आधार और बीज रूप में प्रायः सारे संक्रमणों के मूल में है।

भारत के ऊपर भी हमले इन्हीं कारणों से हुए। यहाँ से बाहर जाने वालों की संख्या नहीं के बराबर है। युद्ध से जर्जर केवल एक कबीले का भारत से बाहर जाने का स्पष्ट प्रमाण है वरना इस बात का एक भी उदाहरण नहीं जब भारत से कोई

जाति बाहर गई हो। इसका एक मात्र कारण यह है कि भारत सदा उर्वर भूमि रहा है और कृषि के साधन जितने यहाँ सरलता से उपलब्ध रहे हैं उतने सम्भवतः किसी अन्य देश में नहीं। यहाँ की समृद्धि ने भी अन्य जातियों को इस पर आक्रमण करने को उत्साहित किया है।

भारत हारा क्यों ? और अनवरत हारता क्यों रहा ? यह भी प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। परन्तु इसका उत्तर भी अपेक्षाकृत कठिन इसलिए हो जाता है कि यहाँ वीरों का अभाव नहीं रहा, कर्मठों का अभाव नहीं रहा, चिन्तकों का अभाव नहीं रहा, साहस की कमी न रही।

भारत की पराजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण यहाँ का सामाजिक संगठन रहा है। भारत विधान का देश रहा है। यहाँ के व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों, अथवा विविध आबादियों ने अपने हित का आप चिन्तन नहीं किया है। यहाँ के व्यक्तियों के लिए अन्य व्यक्ति सोचते रहे हैं। विधानपरक जीवन बिताना इतना स्वाभाविक हो गया था कि जिस विषय पर शास्त्र का विधान था, उस पर अपना मत और आचरण निश्चित करना व्यक्ति को प्रायः असम्भव हो गया था। और वह विधान चाहे औचित्य, उपादेयता, काल और देश का अतिक्रमण कर गया है परन्तु उसकी फिर से नई परिस्थितियों के आलोक में समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसका ज्वलन्त उदाहरण भारत की वर्ण-व्यवस्था है। उसने उसके नैतिक जीवन में प्रायः सारी दुर्बलताएँ भर दी हैं। वर्ण किसी समय में श्रम-विभाजन और पेशों की आर्थिक व्यवस्था के अर्थ बने—यह साधारणतया इतिहासकारों का मत है यद्यपि वर्ग विशेष की स्वार्थ लोलुपता और परशोषण नीति

इसका प्रधान कारण रहा है, इस वक्तव्य में कम यथार्थता रही हैं। वर्ण व्यवस्था ने समाज को जाति पाँति के बन्धनों में जकड़ कर उसे टूक टूक कर दिया। समूह समूह व्यक्ति व्यक्ति में ऊँच नीच की भावना जगाई, जन जन में घृणा और विद्रोह को उत्पन्न किया। नीति-पुस्तकों में लिखा तो अवश्य गया कि व्यक्ति की पूजा उसके गुणों से होती है, परन्तु जीवन में वस्तुतः ऐसा कभी हुआ नहीं। व्यक्ति सदा अपने वर्ण और आर्थिक 'स्टेटस्' से आदृत अथवा अनादृत हुआ। इससे जन्म को कारण समझ कर व्यक्ति ने अध्यवसाय से ऊपर उठने की की बात छोड़ दी। विधायकों ने भी उसे बार बार समझाया कि उसकी व्यक्तिगत हीन परिस्थिति उसके पूर्व जन्म के कर्मों का परिपाकस्वरूप है और उसमें उसे सन्तोष करना होगा। इससे अपनी स्थिति को बदलने का व्यक्ति अथवा समूह ने प्रयत्न न किया। आत्मविश्वास भी इससे जाता रहा और अपनी हीनता से असन्तुष्ट नहीं, अकिंचन हो उठा। जिस समाज में व्यक्ति व्यक्ति, जाति जाति में ऊँच नीच का भाव हो, जहाँ एक वर्ग अथवा वर्ण नगर के भीतर तक रहने न दिया जाता हो, उसकी छाया से द्विजाति अपने को भ्रष्ट समझने लगी हों, नगर में प्रवेश करते हुए उसे लकड़ी बजाकर सवर्णों को सावधान करने की अनिवार्यता सिद्ध हो, उसके सामूहिक अथवा सामाजिक उत्कर्ष अथवा प्रगति की क्या आशा की जा सकती है? इस प्रकार एक बड़े जन समुदाय को अन्त्यज बना कर छोड़ देने के कारण समाज की शक्ति अत्यन्त सीमित हो जाती है। फिर वर्णों में पारस्परिक प्रेम न रहने के कारण उनसे सामूहिक आचरण सम्भव नहीं। हिन्दुओं के मुसलमानों से हारने के कारणों में एक प्रधान कारण यह भी

रहा है कि उनमें सबके समान अधिकार होने के कारण मुसलमानों में ऊँच नीच के भेदभाव अथवा पारस्परिक घृणा का अभाव रहा है और मुसलमान जाति के प्रत्येक वर्ग, प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का उपयोग हो सका है, और होता रहा है। इसके विपरीत हिन्दुओं में साधारण जनता, अनुपेक्षणीय जनबल की उपेक्षा हुई है और यह शोषित वर्ग समय समय पर सदा देश के शत्रुओं का साथ देने अथवा उसकी हिमायत करने को प्रस्तुत होता गया है। एक बार एक वर्ण की परिधि में आ जाने के बाद उससे बाहर निकलने की सम्भावना न रही और दूसरों के कार्य जो सब प्रकार से परिस्थिति विशेष में स्वाभाविक होते, 'परधर्म' समझ कर त्याज्य हो गए। युद्ध करना केवल क्षत्रियों का कर्म है, जब यह सिद्धान्त समाज में बल पकड़ गया तब बाकी तीन वर्ण और चौथा अछूत वर्ग युद्ध के अर्थ बेकार हो गए। इससे समाज के प्रायः तीन चौथाई भाग विदेशी आक्रमकों की राह से हट गए। राजनीति क्षत्रिय कर्म है, इसने भारतीय क्षत्रियेतर मानव को उससे उदासीन कर दिया। 'कोउ नृप होइ हमै का हानी, चेरि छाड़ि नहिं होउब रानी।' इस उदासीनता की पराकाष्ठा उपस्थित करता है। क्या कारण है कि सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद ग़ज़नी की चढ़ाई के अवसर पर जब अन्हिलवाड़ का राजा भीम भाग गया तब किसी और ने आक्रमक की राह रोकने का प्रयत्न क्यों न किया यद्यपि उस विशाल मन्दिर के पुजारियों और अन्य कर्मचारियों की ही इतनी संख्या थी कि यदि वे महमूद की सेना पर केवल गिर पड़ते तो वह पिस जाती? क्या आश्चर्य कि तैमूर के एक लाख बन्दियों की रक्षक सेना उस संख्या का दशांश भी न थी और केवल लड़ाई की असुविधा

के कारण उसने उन्हें तलवार के घाट उतार दिया ! इतने आदमी क्या नहीं कर सकते थे ? क्या आश्चर्य यदि बख्तियार ने १८ घुड़सवारों (कुछ लोगों ने यह संख्या २०० बताई है जो निस्सन्देह विशेष अन्तर नहीं डालती) के साथ बिहार और बंगाल पर अधिकार कर लिया हो ! क्या आश्चर्य जब खनवा-सिकरी के युद्ध में साँगा सा देश का मुकुटमणि छिन गया हो और हज़ारों राजपूतों ने बाबर की तोपों के मुँह में अपनी बलि कर दिया हो, और आगरे और सिकरी के किसान बिना अपनी भवों पर बल डाले शान्ति पूर्वक खेतों में हल चलाते रहे हों ! यदि सारा समाज एक इकाई में संगठित होता तो व्यक्ति-व्यक्ति का समाहार होता हुआ भी वह बूँदों के समाहार की भाँति जल का प्रवाह होता जिसकी शक्ति सर्वथा अजेय हो जाती । वरन पुरु, चन्द्रगुप्त मौर्य, खारवेल, पुष्यमित्र, शातकर्णी, नाग वीरसेन, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन्, पुलकेशिन् द्वितीय, साँगा, प्रताप, शिवाजी, आदि के होते हुए भी भारतीय सदा हारते क्यों रहे ? क्योंकि इन नामों के अर्थ यही थे, अन्य नहीं, अन्य हो भी नहीं सकते थे। वर्ण-व्यवस्था राह की रुकावट थी। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की तरह यहाँ भी नाई, मोची, दर्जी, खोंचेवाले आदि में से अपूर्व सेनापति क्यों नहीं हो गए ? वर्ण व्यवस्था उनके बीच में बाधक थी।

इस व्यवस्था की जकड़ के कारण विवाहों की परिधि जो संकुचित हो गई थी उससे निरन्तर ह्रास होती जाति-विशेष की शक्ति को अन्य जाति की धारा अपने असमान प्राणाणुओं से पुष्ट कर पुनर्जीवित न कर सकी।

भारतवर्ष ने दूसरों से सीखने अथवा अपनी भूलों को

दुरुस्त करने का कभी प्रयत्न न किया। अपनी ाचीनता और गौरव में भारतीय इस कदर भूले हुए थे, इस दिशा में उन्हें इतना गर्व था कि उन्होंने यह नहीं समझा कि उन्हें भी दूसरे कुछ सिखा सकते हैं और उन्हें उनसे सीखना चाहिए। 'इसी देश की प्रसूति ने पृथ्वी भर के जातियों को अपने अपने धर्म और कर्तव्य की शिक्षा दी', इस असत्य और युक्तिहीन गर्वोक्ति ने भारतीयों को प्रयत्नहीन बना दिया। इसके साथ-साथ भारतीय वसुन्धरा की उर्वरा शक्ति ने आसानी से शस्य प्रसव कर अपने निवासियों को प्रमादी बना दिया। संघर्ष जो प्रगति की आद्याशक्ति है उनके जीवन में न रहा।

भारत में जाति और कभी-कभी धर्म के नाम पर तो वीरता समय-समय पर दिखाई भी गई परन्तु देश-प्रेम की वह भावना जो अन्य देशों में पाई जाती है यहाँ कभी न रही। जिन वीरों ने हल्दीघाटी को अमर कर दिया वे भारत के लिए नहीं, सम्भवतः मेवाड़ के लिए, राणाप्रताप के लिए लड़े थे। भारतीय साहित्य में इसी लिए स्काट की पंक्ति--

Breathes there the man with soul so dead
Who ne'er to himself hath asid
This is my own my native land.

की टक्कर या उस तरह की एक लाइन न लिखी जा सकी।

यहाँ प्रायः छोटे-छोटे राज्य परस्पर लड़ते रहे। जब कभी साम्राज्य खड़े हुए तो उनके आधार सामन्तवादी थे जिसमें राजनीतिक अधिकार तथा नागरिक सतर्कता कुछ हद तक थी परन्तु उन्हें साम्राज्यों ने हड़प लिया और पारस्परिक फूट के कारण वे आपस में संघ निर्माण कर सबल न हो सके। केवल एक ही अपवाद इस सम्बन्ध में उपस्थित किया जा सकता है। और वह है लिच्छवियों आदि आठ गणों का वज्जीसंघ जिसने

वर्षों मागध साम्राज्य को चुनौती दी और तब तक नष्ट न किया जा सका जब तक कि उनमें फूट के बीज बोकर उनकी एकता नष्ट न कर दी गई। जब कभी समान शत्रु के सामने विविध राजा संगठित भी हुए तो उनकी इकाइयाँ प्रायः स्वतन्त्र रहीं। सारी सेना एक सेनापति के संचालन अथवा अधिकार में न रह कर अपने-अपने सामन्त के आधीन थी। मुहम्मद ग़ज़नी, मुहम्मद ग़ोरी, अहमदशाह अब्दाली सबके विरुद्ध संगठित सेनाओं की यही कमज़ोरी थी। अब्दाली के विरुद्ध तो पहले मरहठों, राजपूतों और जाटों में ही वाग्युद्ध छिड़ गया था।

अपने सुअवसरों से भारतीयों ने कभी फायदा न उठाया। अपने देश से कभी बाहर न निकले थे। पृथ्वीराज ने यदि ग़ोरी को परास्त किया तो उसका सर्वथा नाश न कर सका। पुष्यमित्र की भांति उसे गार तक पहुंच जाना था। राणा सांगा ने इब्राहिम लोदी को दो-दो बार हराया परन्तु एक आध प्रान्त स्वीकार कर वह चुप हो गया। उसे चाहिए था कि वह लगे हाथ दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर ले। इसके बजाय उसने दौलतखाँ लोदी और इब्राहिम के चाचा अलाउद्दीन के साथ बाबर को सुल्तान के विरुद्ध चढ़ आने और उसके साथ साझा करने के लिए अपने दूत भेजे। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद मरहठे भारत के वास्तविक भाग्य विधाता और साम्राज्य निर्माता बने रहे। वस्तुतः अंग्रेजों ने राज्य उनके हाथ से लिया। परन्तु चिर काल तक मराठे लूट-पाट में समय खोते और आपसी युद्ध में अपनी शक्ति व्यय करते रहे और शीघ्र सब कुछ गवाँ बैठे। क्यों नहीं अब्दाली के पहले या पीछे ही उन्होंने हिम्मत करके भारत की राजनीतिक बागडोर हाथ में ले ली?

भारतीय सैन्य संगठन अत्यन्त प्रश्नात्मक था। आनुवृत्तिक चतुरंगिणी सेना कालान्तर में बोझिल सिद्ध हुई, परन्तु उसके विधान में भारतीयों ने कुछ अन्तर नहीं डाला। घुड़सवरों की सेना थोड़ी और पैदलों की अधिक होती थी। हाथी अधिकतर अपने ही पक्ष को हानि पहुँचाते थे, यद्यपि उनका उचित उपयोग लाभकर हो सकता था जैसा चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस निकेटर के पक्ष में हुआ। यह सेना देशी शत्रुओं के सामने तो लड़ती थी परन्तु विदेशियों के सामने पीठ दिखा जाती थी। यूरोप, पश्चिमी और मध्य एशिया में तोपों और बन्दूकों का प्रयोग सदियों से हो रहा था परन्तु भारत में उनका प्रयोग ही कोई नहीं जानता था। उनका प्रयोग पहले पहल यहाँ बाबर ने किया। मराठों ने सैन्य-संगठन पर कुछ ध्यान दिया भी और उन्होंने कवायद का भी लाभ उठाया परन्तु वे भी सामन्ती प्रथा से ऊपर न उठ सके। भारत के शायद केवल मौर्य और गुप्त सम्राटों के पास वैतनिक (Standing) सेना थी। विदेशियों से यहाँ वालों ने सुन्दर सैन्य नीति भी नहीं सीखा। कुशल सेनापति यहाँ कदाचित ही कोई हुआ। सैन्य-सञ्चालन और युद्ध नेतृत्व का स्तर बहुत ऊँचा न उठ सका। हम सिकन्दर, बाबर या नेपोलियन की भाँति किसी भारती सेनापति का नाम नहीं ले सकते।

यहाँ के धर्म में दूसरों का नाश करने, जीतने आदि का विधान कम था। बौद्ध और जैन धर्मों ने तो अहिंसा का बाना पहनाया। शुद्ध हिन्दू धर्म में ही युद्ध का कुछ समावेश था। दिग्विजय और अश्वमेध इसी की कुछ उदात्त संस्थाएं थीं। काषाय धारण कर प्रव्रजित हो जाना यहाँ बड़े त्याग और साहस की बात समझी जाती थी। इसीसे युगपुराण ने भारत

के शककालीन सर्वनाश के समय इस काषाय पर विकट व्यंग किया था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जो राष्ट्र के भोजन में शाकाहार की मात्रा का विधान किया उससे भी युद्ध-प्रकृति का कुछ ह्रास हुआ।

इन आँकड़ों के विरुद्ध विदेशी आक्रमणों में प्रायः इन सब त्रुटियों का समाधान था। वे अपने समाज के सारे वर्गों का उपयोग कर सकते थे, क्योंकि उनमें जात-पाँत के भेद भाव न थे। उनकी शारीरिक शक्ति प्रचुर थी और उनमें विलास और अवकाश जनित प्रमाद न था। उनमें भुक्खड़ों की संख्या अधिक थी जो लूट के नाम पर दौड़ पड़ते थे और भारत की समृद्धि का उनको पता था। धर्म के नाम पर मुसलमान सेनाएँ मध्य एशिया के दूर देशों तक के सैनिकों को आकर्षित करती थीं। भारतीय धर्म ठंडे हो गए थे, उनके नाम पर लड़ाकों को जोश नहीं दिलाया जा सकता था। मुसलमान सेनाएँ क़ाफ़िरों के विरुद्ध 'जेहाद' लड़ती थीं। विदेश की बहुसंख्यक जनता के बीच नाश की आशंका से वे संगठित रहते थे। उनकी सेना संगठित और कुशल सेनापतियों द्वारा सञ्चालित थीं और उनके पास युद्ध के नवीनतम साधन उपलब्ध थे। अवसर वे कभी न खोते थे और बार बार हार कर भी वे प्रयत्न न छोड़ते। सर्वत्र विदेशियों में विवाह करने से उनकी नस्ल शक्तिमान होती रहती थी। अवसर से उन्होंने सदा लाभ उठाया।

भारतीयों के हारने और विदेशियों के जीतने के संक्षेप में निम्नलिखित कारण थे :—

१. भारतीयों में वर्ण व्यवस्था की जकड़।

२. अपनी भूलों और दूसरों से न सीखने की प्रवृत्ति।

३. जीवन-साधनों की सुविधा से उत्पन्न प्रमाद।

४. राष्ट्रीयता और देशप्रेम का अभाव।

५. छोटे राज्यों की बहुलता, उनकी फूट और गणराज्यों का दमन।

६. सैन्य-संगठन और सैन्य-संचालन की दुर्बलताएँ।

७. सुअवसर से लाभ उठाने का अभाव।

८. धार्मिक उत्तेजना की कमी और बौद्ध जैनादि धर्मों की अहिंसक नीति।

९. विजेताओं में ऊपर लिखे गुणों का भाव।

———

विक्रमादित्यों की परम्परा

विक्रमादित्यों की एक परम्परा रही है—ऐसे जननायकों की जिन्होंने भारत से विदेशी सत्ता के निष्कासन में प्रयास किया। भारतीय इतिहास की परम्परा में प्रमाणतः यह सिद्ध है कि जिस भारतीय राजा ने इस 'विक्रमादित्य'—विरुद को धारण किया है उसका सम्बन्ध स्वदेश में विदेशी सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन से अवश्य रहा है। यह सम्भव है कि किसी जननायक ने इस प्रकार के आन्दोलन में योग देकर भी यह विरुद धारण न किया हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विरुद धारण करनेवालों में से सम्भवतः कोई ऐसा नहीं जिसने इस राष्ट्रीय यज्ञ में सहयोग न दिया हो।

इस प्रकार के विक्रमादित्यों की संख्या संभवतः पाँच रही है—(१) विक्रमादित्य (आदि) ५७-५६ ई० पू० में विक्रम संवत् के प्रतिष्ठाता, (२) चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (गुप्तकुलीय)—ल० ३७५-४१४ ई०, (३) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—ल० ४५५-४६७ ई०, (४) मालवा का यशोधर्मन् (ल० ५३२-३३ ई०), और रेवाड़ी का हेमचन्द्र विक्रमादित्य (ल० १५५६ ई०)। इनके अतिरिक्त कुछ लोग विक्रमादित्यों में चालुक्य-विक्रमादित्यों की भी गणना करते हैं परन्तु प्रमाणतः वे भ्रम में हैं क्योंकि जहां पारम्परिक 'विक्रमादित्य' विरुद मात्र है, चालुक्यों के विक्रमादित्य व्यक्ति संज्ञक अर्थात् नाम हैं और इसी कारण इतिहास में उन्हें विक्रमादित्य प्रथम से षष्ठम् तक गिनना पड़ा है। अस्तु।

इनमें से अन्य तो काल-गणना और कीर्त्यादि से स्पष्ट और निश्चित हैं, केवल आदि विक्रमादित्य का इतिहास अत्यन्त सन्दिग्ध और धूमाच्छादित है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य से पूर्व यदि सचमुच कोई विक्रमादित्य हुआ तो वह प्रथम शती ई० पू० में ही हुआ और उसने विख्यात विक्रम संवत् चलाया। इस आदि विक्रमादित्य का इतिहास निस्सन्देह रहस्यमय है, प्रायः अनुद्घाटित।

अनेक बार सन्देह किया गया है कि इस नाम का कोई राजा वस्तुतः प्रथम शती ई० पू० में हुआ भी। यह सन्देह विशेषकर और ज़ोर पकड़ जाता है जब हम यह देखते हैं कि स्वयं उस विक्रम-संवत् का पहला प्रयोग नवीं शती ईस्वी में चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहीसेन ने किया है यह लेख—'वसु नव (अ) ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमार-व्यस्य'—(वसु=८, नव ९,=अष्ट ८) ८९८ विक्रम-संवत तदनु-कूल ८४१ ई० का है जो धौलपुर से मिला है (Indian Anti-quar, खण्ड १९, पृ. ३५) 'यह सन्देह सर्वथा अग्राह्य नहीं है विशेषकर जब हमें इतने प्रतापी राजा के कोई पुरातात्विक चिह्न—शिलालेख, स्तम्भलेखादि—प्राप्त नहीं। यद्यपि इस समस्या का समाधान भी है'। प्रथम शती ईस्वी पूर्व का काल अत्यन्त डावाँडोल का था। उत्तर भारत में नितान्त उथल-पुथल मची थी। कुछ आश्चर्य नहीं यदि तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री जिसपर हम इस विक्रमादित्य के अस्तित्व का आधार रख सकते बिखर अथवा नष्ट हो गई हो। हम इस बात को नहीं भूल सकते कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी किसी विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० में होने के पक्ष में है। डा० स्तेन कोनो और डा० काशीप्रसाद जायसवाल दोनों

ने इस विक्रमादित्य का ऐतिह्य स्वीकार किया है (Problems of Saka and Satvahana History—J. B. O. R. S.)। भारतीय साहित्य की परम्परा भी इस दृष्टिकोण का सर्वथा समर्थन करती है। जैन-संस्कृत-प्राकृत—तीनों साहित्यों में उसका उल्लेख हुआ है। सातवाहन (शालिवाहन) हाल की प्राकृत सतसई 'गाथा-सप्तशती' में विक्रमादित्य का उल्लेख हुआ है—"संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं। चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।" हाल को द्वितीय शती ईस्वी से पीछे नहीं रखा जा सकता, संभवतः वह प्रथम शती ईस्वी का ही है। स्पष्ट है कि वह विक्रमादित्य के समय से प्रायः तीन सदियों के भीतर ही हुआ। और उसके विक्रमादित्य-सम्बन्धी निर्देश की अवहेलना नहीं की जा सकती। हाल के अतिरिक्त कश्मीरी कवि गुणाढ्य ने भी अपने पैशाची-प्राकृत ग्रन्थ 'बृहत्कथा' में भी उस विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। गुणाढ्य और हाल समकालीन थे। 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नहीं परन्तु सोमदेव भट्ट द्वारा उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथा-सरित्सागर' के नाम से आज भी उपलब्ध है। इसमें राजा विक्रमसिंह की कथा लंबक ६, तरंग १ में वर्णित है। अतः चूँकि प्रथम शती ई० पू० के विक्रमादित्य के जीवनकाल से दो सदियों के भीतर लिखे जानेवाले दो ग्रन्थों में उसका उल्लेख मिलता है, उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियों का इस सम्बन्ध में सर्वथा ऐक्य है। इस बात को न भूलना चाहिए कि जिन महापुरुषों के प्रमाण इस विक्रमादित्य के सम्बन्ध में ऊपर दिए गए हैं वे दोनों—हाल और गुणाढ्य—अन्य विक्रमादित्यों के पूर्ववर्ती हैं। इससे यह भी

नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने भ्रमवश पिछले विक्रमादित्यों की अनुश्रुतियों को ही आदि विक्रमादित्य के साथ जोड़ दिया है।

अब तो इसमें सन्देह नहीं कि विक्रमादित्य नाम का कोई प्रतापी व्यक्ति प्रथम शती ई० पू० में विद्यमान था, यद्यपि इसमें सन्देह हो सकता है कि "विक्रमादित्य" उसका विरुद था या संज्ञा थी। साधारणतया यह विरुद-सा लगता है और बाद के राजाओं ने इसे धारण भी विरुद के ही रूप में किया। डा० जायसवाल ने आँध्र-सातवाहन कुल के गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को ही विक्रमादित्य माना है। उन्होंने शकों के विरुद्ध दो विजयों का उल्लेख किया है—(१) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की और (२) मालवों द्वारा शकों की। इसमें नं० २ मान लेने में तो शायद किसी को आपत्ति न होगी परन्तु नं० १ को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो यही संदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि और क्षहरात क्षत्रप नहपाण समकालीन थे। यदि हम ऐसा मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रयन्यासों से सम्भव भी है तो यह स्वीकार करना कठिन होगा कि वे प्रथम शती ई० पू० में थे। फिर यदि विक्रम सातवाहन होता तो निस्सन्देह हाल उसे अपना पूर्वज घोषिति करने में न चूकता। दूसरी महत्व की बात यह है कि शातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नहीं था। फिर यह भी है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग शातकर्णि के वंशज नहीं करते। भला यह कैसे सम्भव था कि जिसने इतनी बड़ी विजय के स्मारक में 'विक्रम्-संवत्' चलाया उसका प्रयोग स्वयं उसके वंशज अपने अभिलेखों में न करें? उस संवत् का उपयोग क्या था और उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था? कुषाण राज कनिष्क द्वारा चलाए शक संवत् का

प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर निरन्तर करते हैं। इसी प्रकार गुप्त सम्राट् भी मालव संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त प्रथम के चलाए गुप्त-संवत् (३१९–२० ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय) बराबर अपने लेखों में करते हैं। इस कारण गौमतीपुत्र श्री शातकर्णि को विक्रमादित्य मानना युक्तिसंगत नहीं। फिर यह विक्रमादित्य कौन था ?

इस प्रश्न का उत्तर प्रमाणतः उस उत्तर से भी सम्बन्ध रखता है जो निम्नलिखित प्रश्न का होगा—वह विजय कौन-सी थी जिसके स्मारक में विक्रम-संवत् प्रचलित किया गया ? गौतमी पुत्र श्री शातकर्णि की नहपाण वाली विजय अनेक प्रमाणों से अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस प्रश्न पर प्रकाश नहीं डाल सकती। फिर ई० पू० प्रथम शती की एक ही विजय है जो शकों के विरुद्ध हुई और जिसके स्मारक स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा—वह थी शकों के विरुद्ध मालवों की विजय। मालवों ने शकों को निकाल कर वहाँ अपने मालव-गण की स्थापना की और उसी के नाम पर प्राचीन अवन्ति देश का मालवा नाम रखा। यह घटना प्रथम शती ई० पू० की है और इसी के स्मारक में उन्होंने संभवतः विक्रम-संवत् चलाया जिसकी प्रारम्भिक तिथि अवन्ति में मालव-गण की स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगण-स्थित्या) वह मालव-संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणों से हो सकता है। (१) या तो 'विक्रम्' का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो जिसकी प्रतिष्ठा शकों के अवन्ति से निष्कासन और वहाँ मालवों की प्रतिस्थिति से हुई (जैसा डा० जायसवाल ने माना

है—आखिर स्कन्दगुप्त का एक विरुदान्तर 'क्रमादित्य' भी है) या (२) उसका यह नाम मालव जाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से सम्बन्ध रखता हो। इनमें प्रथम को स्वीकार करना कठिन इस कारण हो जाता है कि उस दशा में प्रथम शती ईस्वी के हाल-गुणाढ्य के विक्रमादित्य-सम्बन्धी निर्देश निरर्थक हो जाते हैं। इससे दो वाला कारण ही यथार्थ जान पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि मालवों और शकों का संघर्ष कब और कैसे हुआ ? पंजाब के अराजक गणतन्त्रों में मालव और क्षुद्रक मुख्य थे। ३२६ ई० पू० में मालवों ने सिकन्दर को भारी खतरे में डाल दिया था और संभवतः उन्हीं से बाणविद्ध होकर वह बाबुल में मरा भी। उनका अराजक गणतन्त्र संभवतः हजार वर्ष जीवित रहा। उनके नगर चिनाब और झेलम के तट पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। सिकन्दर से मुठभेड़ के बाद कुछ राजनीति के कारणों से उन्होंने अपना मूल निवास छोड़ दिया और निरापद भूमि की खोज में वे दक्षिण की ओर बढ़ चले। प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी-राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नगर (जयपुर राज्य) के उनके सिक्कों से प्रमाणित है (कन्निघंम, A. S. R. खण्ड १४, पृ० १५०)। इसी समय शकों ने भारत पर आक्रमण कर सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया। कुछ संभव नहीं मालवों से भी इनकी छोटी मोटी लड़ाइयाँ हुई हों। आखिर पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में मालव-क्षुद्रकों की एक सम्मिलित विजय का हवाला दिया ही है फिर धीरे-धीरे पश्चिमी भारत पर शकों का प्रभुत्व जम गया।

परन्तु मालवों ने भी शकों का पीछा न छोड़ा। उनके

आधार की ओर वे निरन्तर बढ़ते ही गए। ५८ ई० पू० के लगभग अजमेर के पीछे से निकलकर मालव अवन्ति की ओर बढ़ चले थे और वहाँ उन्हें विदेशी शकशक्ति से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई ज़रा जमकर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रताप्रिय मालव थे तो दूसरी ओर अवन्ति के शक जो पार्थव राजमद्दात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। भारत से बाहर उन्हें मृत्यु से सामना करना था उससे वे जम कर लड़े। परन्तु मालव विजयी हुए और उन्होंने शकों को भारत से निकाल बाहर किया और स्वयं वे उस अवन्ति प्रदेश में प्रतिष्ठित हुए। यह प्रदेश इसी तिथि से मालवों के संबंध से मालवा कहलाया और इसी विजय के स्मारक में उन्होंने सिक्के ढाले, सम्वत् चलाया जिसका नाम मालवा अथवा विक्रम संवत् हुआ। आज हम दो हजार वर्षों से इस संवत् का उपयोग करते आए हैं। गुप्तों ने मालवों की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी परन्तु स्वयं वे मालव-सम्वत् का प्रयोग करते रहे। इसी मालव-गण के मुखिया के नाम पर संभवतः विक्रम-संवत् का नाम पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि मालव-गण अराजक था, फिर भी समय-समय पर वे अपना सेनापति चुना करते थे। अनेक बार मालव क्षुद्रक दोनों गणों ने अपना सम्मिलित सेनापति चुना था। कुछ आश्चर्य नहीं कि विक्रम इसी प्रकार का मालव सेनापति रहा हो जिसने शकों के निष्कासन में विशेष तत्परता दिखाई हो। निस्सन्देह यह कहना कठिन है कि 'विक्रम' नाम था या विरुद। कुछ भी हो इसे मानने में आपत्ति न होनी चाहिए कि विक्रम मालव था और शकों की शक्ति क्षीण करने में उसने साहस दिखाया था—यह भारतीय साहित्य की अनुश्रुतियों से प्रमाणित है। चूँकि व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व गणतन्त्र में नहीं था। इससे शायद

आरम्भ में यह सम्बत् विक्रम संवत् न कहला कर गण के नाम पर मालव-संवत् कहलाया। परन्तु जब गण की स्वन्त्रता नष्ट हो गई, उसका नाम लोगों को विस्मृत हो गया; तब उसके सेनापति-मुखिया भर की याद उन्हें रह गई जिसका नाम उन्होंने उस संवत् के साथ कालान्तर में जोड़ दिया। यह सहज ग्राह्य है कि पहले विक्रम-संवत् प्रायः नौसौ वर्षों तक केवल मालव (अथवा कृत) संवत् के नाम से क्यों चला और विक्रम का सम्पर्क इस संवत् से इतने बाद क्यों हुआ ?

इस प्रकार आदि विक्रमादित्य मालवों का प्रतिनिधि सामरिक प्रमाणित होता है जिसने शकों को हराकर देश से बाहर निकाल दिया। सारा पश्चिमी भारत—सौराष्ट्र (काठियावाड़), गुजरात, अवन्ती (मालवा)—तब शकों की शक्ति से आक्रान्त था। शक हालही के विजयी थे और उनकी प्रभुता देश को खलती थी। इस विक्रमादित्य ने भारत से उनकी शक्ति मिटाकर एक परम्परा की नींव डाली जिसे आगे आनेवाले विक्रमादित्यों ने पाला और निबाहा। आदि विक्रमादित्य नाम पिछले भारतीय विजेताओं का विरुद बन गया, विदेशी संघर्ष में उज्ज्वल प्रतीक जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय से लेकर मुगल कालीन हेमचन्द्र तक ने गौरव के साथ धारण किया और विदेशी प्रभुता का नाश करने में अपनी शक्ति और निष्ठा का योग दिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय चौथी सदी ईस्वी में दूसरे विक्रमादित्य हुए। इनके पहले शक भारत में अपने पाँच केन्द्र बना चुके थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा, और महाराष्ट्र में। इनके बाद कुषाणों के आक्रमण हुए परन्तु उनके अपकर्ष काल में भारशिव नागों ने उनसे शक्ति छीन कर काशी में दस

अश्वमेध किए थे। बचे खुचे पश्चिमी शकों और कुषाणों को चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही सीमाप्रान्त और काबुल में खदेड़ दिया था ("दैवपुत्रशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः—प्रयागस्तंभ का लेख) फिर भी चन्द्रगुप्त को ही उन ` विशेष रूप से लोहा लेना पड़ा। चन्द्रगुप्त यशस्वी पिता का उदात्त पुत्र था और पिता ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियत भी किया था जैसा एक अभिलेख के 'तत्परिगृहत:, पद से स्पष्ट है परन्तु परम्परा के अनुसार राज्य बड़े भाई रामगुप्त को मिला।

जान पड़ता है चन्द्रगुप्त को युवावस्था में ही शकों से शत्रुता ठाननी पड़ी थी। इस शत्रुता का वर्णन 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त के नाटक 'देवचन्द्र गुप्त में मिलता है। यह नाटक तो आज हमें उपलब्ध नहीं परन्तु इसके अनेक लंबे अवतरण रामचन्द्र और गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण' में सुरक्षित है। इससे जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई रामगुप्त कायर था। जब वह अपने असाधारण विजेता पिता समुद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठा तब कुचले राजाओं, विशेषकर शकों, ने फिर सिर उठाया। उनके सम्मिलित संघ ने रामगुप्त को इतना संत्रस्त कर दिया कि उसने उनके घृणित प्रस्ताव तक को स्वीकार कर लिया। उनका प्रस्ताव यह था कि रामगुप्त सन्धि की अन्य शर्तों के साथ एक शर्त यह भी मान ले कि वह अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवस्वामिनी को शकपति को अर्पण कर दे। चन्द्रगुप्त अत्यन्त तरुण था। उससे यह सह्य न हो सका। इसके अतिरिक्त उससे ध्रुवस्वामिनी ने अपनी मानरक्षा की प्रार्थना भी की। चन्द्रगुप्त ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले शकपति को कहला भेजा कि ध्रुवस्वामिनी उसके शिविर में आ रही है और जब शकपति रानी के

स्वागत में आपान नृत्यादि से खुशियाँ मना रहा था। ध्रुवस्वामिनी के छद्मवेश में स्वयं चन्द्रगुप्त ने वहाँ पहुँच कर उसे मार डाला। पश्चात् रामगुप्त के सिंहासन पर बैठ उसने उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह कर लिया। इस कहानी की पुष्टि अनेक अन्य प्रमाणों से भी होती है। हर्षचरित, उस पर शङ्कराचार्य्य की टीका, भोज के शृंगार प्रकाश, अमोघवर्ष के संजन-पत्राभिलेख और मजमालुत तवारीख, सभी ने इस प्रसंग का सीधा-तिरछा उल्लेख किया। हर्षचरित में तो स्पष्ट वर्णन है—अरिपुरेच परकलत्रकामुक कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशायत्। इसी रहस्य का उद्‌घाटन नाटककार ने 'देवी चन्द्रगुप्त' (ऐसा नाटक जिसमें चन्द्रगुप्त ने देवी अर्थात् रानी का वेष धारण किया) में किया है।

गद्दी पर बैठने के बाद चन्द्रगुप्त को गुप्त साम्राज्य के सारे साधनों के साथ विदेशी शकों का सामना करने की सुविधा मिली। शकों ने ध्रुवस्वामिनी को माँगकर शालीन गुप्तकुल की जो अवमानना की थी उसका काँटा तो चन्द्रगुप्त के मर्म में चुभा ही था, उनका मातृभूमि पर शासन भी उसके लिए कुछ कम पीड़ा की बात न थी। उसने उनके विरुद्ध अभियान करने की ठानी परन्तु शकोंपर चढ़ाई कुछ हँसी खेल न था। उनकी शक्ति दुर्जेय थी और उसका केन्द्र थी उज्जयिनी यथार्थतः पश्चिम में उज्जयिनी और उत्तर-पश्चिम में सीमाप्रान्त। सीमाप्रान्त फिर भी सुदूर सीमा पर था परन्तु उज्जयिनी पार्श्व में थी। सारा मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र (काठियावाड़) और संभवतः महाराष्ट्र भी शकों की भुक्ति बन गए थे। विस्तृत उर्वर भूमि की अन्न निधि के अतिरिक्त यूरोप, पश्चिमी एशिया और मिस्र का सारा भारतीय व्यापार इसी भूखण्ड में उतरता था। उज्जयिनी

उस वणिक्पथ का विशिष्ट विन्दु थी। युद्ध-यात्रा के लिए भी उस तक पहुँचना अपेक्षाकृत आसान था। उस शकभूमि पर आक्रमण करने में बस एक कठिनाई थी कि उसके और गुप्त-साम्राज्यके बीच वाकाटकों का साम्राज्य फैला हुआ था। शकों को जीतने से पहले वाकाटकों को जीतना आवश्यक था पर उनको जीतना कुछ आसान भी न था। फिर दो शत्रुओं के साथ एक साथ युद्ध ठानना भी कुछ चातुर्य न होता। इससे वाकटकों के संबंध में चन्द्रगुप्त ने शक्ति से नहीं नीति और दूर-दर्शिता से काम लिया। उसने उनसे विवाह-संबंध स्थापित करने का निश्चय किया। उसके कुबेरनागा से प्रभावती गुप्ता नाम की एक कन्या थी। उसने तत्काल रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक के साथ विवाह कर दिया। वाकाटक ब्राह्मण थे परन्तु जिस स्मृति ने भाईकी विधवा अथवा जीवित भाई की सधवा ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त की धर्मपत्नी बनने की व्यवस्था दी थी उसीने इस क्षत्रिय-ब्राह्मण संबंध को भी शास्त्र सम्मत करार दिया। चन्द्रगुप्त का मनोरथ सिद्ध हो गया।

वाकाटकों के राज्य से होकर शकों पर आक्रमण करने का उसे रास्ता मिल गया। शीघ्र उसने एक विशाल सेना लेकर शकों पर आक्रमण किया और उनको सर्वथा नष्ट कर दिया। उनको देश से बहिर्गत कर चन्द्रगुप्त ने उनका राज्य स्वायत्त कर लिया और उन्हीं के अनुकरण में उसने उस भूखण्ड में अपने चाँदी के सिक्के चलाए। यह युद्ध सम्भवतः ३६५ और ४०० ई० के बीच कभी हुआ। इस आक्रमण का मार्ग भी एक तत्कालीन अभिलेख में प्रतिध्वनित है। भिलसा के पास उदय-गिरि की एक गुफा चन्द्रगुप्त के 'सान्धि-विग्रहिक' मन्त्री शांब वीरसेन ने शम्भु (शिव) को अर्पित की है। इस गुफा के

अभिलेख से प्रमाणित है कि वीरसेन के साथ 'सारी पृथ्वी को जीतने की इच्छावाला (वह राजा भी) गया था' (कृत्स्न-पृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः)। इसी उदयगिरि के गुफा द्वार पर एक वराह-विष्णु की मूर्ति उत्कीर्ण है जिसमें वराह अपने थूथन पर पृथ्वी को उठाए असुर हिरण्याक्ष से उसकी रक्षा करते दिखाए गए हैं। वास्तव में यह चन्द्रगुप्त द्वारा भारतीय भूमि की शकों से रक्षा थी, ठीक उसी प्रकार जैसे उसने ध्रुवस्वामिनी की शकपति से की थी। इस वराह की दाढ़ पर जो पृथ्वी का रूप नारी का है वह तद्रहस्यानुकूल ही है। समसामयिक विशाखदत्त ने अपने नाटक मुद्राराक्षस से भी यदि वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार के बहाने अपने संरक्षक की शक्ति की सराहना की और अपने नान्दि-श्लोक में चन्द्रगुप्त के भारत और ध्रुवस्वामिनी की शकों से रक्षा को अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनित कर दिया तो क्या आश्चर्य ? साहित्य और कला की एकरूपता समकालीनता से स्थापित हो जाती है। इस प्रकार पश्चिमी शकोंका नाश कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना विक्रमादित्य विरुद धारण किया। परन्तु केवल इस विजय से उसकी 'शकारि' संज्ञा सार्थक न हो सकी। सुदूर उत्तर-पश्चिम में भी शकों की कुमक उससे लोहा लेने को उद्यत हो रही थी।

उत्तर-पश्चिम का शक घटाटोप कुछ कम भयानक न था। संभवतः पश्चिम से भागकर शक सरदारों ने सीमाप्रान्त के कुषाण आदि अन्य विदेशियों से चन्द्रगुप्त के विरुद्ध साझा कर लिया था। चन्द्रगुप्त अब उनकी ओर मुड़ा। परन्तु इसके पहले उसे एक और कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसके शत्रुओं ने इसी काल बंग देश में संगठित होकर विद्रोह का झंडा खड़ा किया। यह सम्मिलित (समेत्य) विद्रोह किन शत्रुओं

का था यह कहना कठिन है। संभव है उसे विदेशियों से युद्ध में फँसा देखकर गृह-शत्रुओं ने सिर उठाया हो और यह भी संभव है कि हारे हुए शक सरदारों में से कुछ इस गृहदाह से लाभ उठाने के लिए देश की उस सीमा पर चन्द्रगुप्त के शत्रुओं के साथ संगठित हो गए हों। परन्तु उसने शत्रुओं की इस घटा को तितर-बितर कर दिया। वहाँ से वह उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा। 'दैव पुत्र, शाहिशाहानुशाहि, शक और मुरुण्ड' उस प्रान्त में जमे बैठे थे, पास ही काश्मीर के उत्तर में वह्लीक देश था जहाँ कभी ग्रीकों ने राज किया था जहाँ के अब हूण स्वामी थे। सिन्धु-नद के सातों मुखों को पार कर हिन्दूकुश लाँघ जब अमरात पहाड़ों की छाया से निकल वृत्त की उपत्यका में वह बाह्लीकों (बलख—बाख्त्री—के हूणों) से जा टकराया, उन्हें चूरचूर कर दिया। खजूरों के तनों से 'उसके हाथी बँधे, केसर की क्यारियों में उसके घोड़े लोटे, उनके बदन पर केसर का मकरन्द बरस पड़ा। शत्रुओं का संहार कर उसने 'खड्ग से अपनी भुजकीर्ति' लिखी और अपने विक्रम के 'अनिल से उसने दक्षिण सिन्धु को सुवासित किया। मेहरौली गाँव के पास दिल्ली की कुतुब मीनार के आंगन में एक लौहस्तम्भ खड़ा है उसके ऊपर जो गुप्तलिपि में राजा 'चन्द्र' का अभिलेख है वह इसी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का माना जाता है। सिन्धु के सात मुखों (धाराओं—सहायक नदियों) को पार कर बाह्लीकों को जीतने आदि की कथा उसी में ध्वनित है। मूल इस प्रकार है—

> यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता—
> न्वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता बाह्लिका
> यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

तत्कालीन अभिलेखों ने तो चन्द्रगुप्त की यह कीर्तिगाथा गाई हो, सम्भव नहीं कि समसामयिक साहित्यिक इस राष्ट्रीय विजय को भूल जाते। जहाँ विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त का अप्रत्यक्ष और 'देवीचन्द्रगुप्त' में प्रत्यक्ष यश विस्तार किया, महाकवि कालिदासने भी वहाँ अपने 'रघुवंश' में उसकी विमल कीर्तिपताका फहराई। रघु-दिग्विजय पर केवल समुद्र गुप्त की ही नहीं चन्द्रगुप्त की विजयों की भी—पिता पुत्र दोनों की—छाया है। यदि केवल समुद्रगुप्त की विजयों की ही छाया रहती तो कालिदास का वर्णन त्रिकूट के पास ही समाप्त हो जाता, फिर वहाँ से 'पारसीकांस्तथाजेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना' की क्या आवश्यकता थी? परन्तु यह कवि अपने समकालीन मेह-रौली स्तंभ के इस श्लोक के ऐतिह्यको कैसे भुला सकता था? इस कारण यद्यपि उसके नायक के लिए फारस जाने का जल-मार्ग खुला था परन्तु 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका' के तथ्य को सार्थक करने के लिए कवि का 'प्रतस्थे स्थलवर्त्मना' करना आवश्यक था और इसी कारण द्राक्षावलय-भूमिषुः 'ततः प्रतस्थे कौबेरी' तथा 'वंक्षुरि विचिष्टनैः" की सार्थकता है। इस चन्द्रगुप्त के नवरत्नों में महाकवि कालिदास और विशाखदत्त तो थे ही, इनके साथ ही कोशकार अमरसिंह भी था। इसीलिये तो 'अमरकोश' को अपनी टीका में क्षीर-स्वामी ने 'वाह्लीक' की व्याख्या में रघुवंश के 'दुधुवु...वंक्षु-तीरविचेष्टनैः' पाठ को ही दुहरा कर सत्य की ओर सङ्केत कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भारत में शकों का सर्वत्र नाश कर, अपनी 'शकारि' संज्ञा और विक्रमादित्य विरुद सर्वथा सार्थक किए।

तीसरा विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का पौत्र और कुमारगुप्त महेन्द्रदित्य का पुत्र स्कन्दगुप्त था। विलासी

पिता कुमारगुप्त का स्थान अकर्मण्यता में पिता चन्द्रगुप्त और पुत्र स्कन्दगुप्तके बीच कुछ वैसा ही था जैसा राणा सांगा और और प्रताप के बीच उदयसिंह का था अथवा बाबर और अकबर के बीच हुमायूँ का। कुमारगुप्त के शासनकाल में गुप्तकालीन कला और साहित्य अपने चरम विकास तक पहुँच चुके थे और स्वभावतः पतन ही संभव था। कला और समृद्धि की बहुतायत से सहज ही विलास की वृद्धि होती है और विलास की वृद्धि राष्ट्रों के पतन का संकेत है। रोम और तुर्की की यही कहानी है, भारत और फ्रांस की भी।

कुमारगुप्त के जीवन के अंतिम क्षणों में साम्राज्य की गति अधोमुखी हो चली थी जैसा स्कन्दगुप्त के अभिलेख के पद्यांश—विचलितकुललक्ष्मी—से प्रमाणित है। इस काल में भीतरी बाहरी दोनों शत्रुओं का भय था और दोनों खतरे प्रायः साथ ही, एक के बाद एक, झेलने भी पड़े। पिता के जीवन काल में ही पुष्यमित्रों के गणतन्त्र ने जिसने पर्याप्त शक्ति और सम्पत्ति संचित कर ली थी, नर्मदा की ओर से साम्राज्य की दक्षिणी सीमाओं पर छापे मारे। कुमारगुप्त जीवन-संध्या में प्रयाण के दिन गिन रहे थे, साम्राज्य के स्तंभों की दृष्टि युवराज स्कन्दगुप्त पर लगी थी और स्कन्दगुप्त ने उन्हें निराश न होने दिया। त्याग और श्रम, तप और शील का जीवन बितानेवाले स्कन्दगुप्त ने चलायमान कुललक्ष्मी को पुष्यमित्रों की ओर से लौटा लिया यद्यपि इस लब्धि के लिए उसे सादा सैनिक जीवन बिताना पड़ा, रूखी पृथ्वी पर सो सोकर रातें काटनी पड़ीं—क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। गृह-शत्रुका प्रयास स्कन्दगुप्त के अध्यवसाय और जागरुकता से विफल हो गया।

परन्तु शीघ्र उत्तर-पश्चिमी सीमाकाश पर काले मेघ मँडराने लगे। साम्राज्य फिर खतरे में पड़ गया। चीन के कान्सू

प्रान्त से हूण कब के चल पड़े थे। उनका उदय साम्राज्यों के विनाश के हित हुआ था। उनसे टकरा कर कितने ही राज्य चूर चूर हो गए, कितने साम्राज्यों की चूलें ढीली हो गईं, जड़ें हिल गईं। हूणों की आँधी यम का आक्रोश था। जिस राह हूण निकल जाते, राष्ट्रों के टखने टूट जाते, नदियों के रक्तिम स्रोत, शवों के अंबार, और जले गाँवों की राख उनकी कहानी कहती। रोमनों ने उनको 'भगवान का कोड़ा'—फ्लैगेलम् देई (Flagellem dei)—कहा। उनके सरदार अत्तिल ने जब यूरोप की ओर रुख किया वहाँ के देशों में कुहराम मच गया, उसकी मार से प्राचीन रोमन साम्राज्य की रीढ़ टूट गई।

इन्हीं हूणों की एक भयानक शाखा ने भारत की ओर अपना रुख किया। टिड्डी दल की भाँति नाटे-चौड़े विकराल हूण गुप्त साम्राज्य की सीमा की ओर बढ़े। पर सजग स्कन्दगुप्त ने देव सेना के सेनानी की भाँति बढ़कर असुरों की इस कुमक की बाग रोक दी। उनके साथ स्कन्दगुप्त के समर में 'जा टकराने से पृथ्वी हिल गई, आवर्त बन गया' (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य···) गाज़ीपुर ज़िले में सैदपुर भीतरी का स्तंभलेख स्कन्दगुप्त की इस विजय का साक्षी है। इस महायुद्ध के फलस्वरूप एकबार तो साम्राज्य की सुरक्षा हुई और गुप्त-साम्राज्य की प्राचीरें गिरते-गिरते रह गईं स्कन्दगुप्त की मार से 'इस विदेशी खूँखार जाति ने मुँह की खाई और' उस वीर कर्मा का विरुद सार्थक हुआ।

परन्तु हूणों की धारा रोकना एक व्यक्ति का काम न था और न गुप्त साम्राज्य की जरजर दीवारें इस चोट पर खड़ी ही रह सकती थीं। स्कन्दगुप्त ने आमृत्यु इस शक्ति से लोहा लिया और देश के लिए उसने अपने को बलि कर दिया। सम्भवतः

हूणों के साथ ही युद्ध में उस महाव्रती ने अपने प्राण खोए। साम्राज्य के तार-तार बिखर गए।

चौथा विक्रमादित्य मालवा का 'जनेन्द्र' यशोधर्मन था। ४५५-५६ ई० के लगभग स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त किया था; परन्तु उनका ख़तरा वास्तव में बना ही रहा। फ़ारस की दुर्जेय शक्ति हूणों की गति में काफ़ी बाधक थी और भारत की ओर बढ़ने में उन्हें पहला लोहा उससे ही लेना पड़ता था। ४८४ ई० में उन्होंने फिरोज़ को मारकर अपनी राह निष्कण्टक बना ली और पूरी शक्ति के साथ उन्होंने भारत पर आक्रमण किया। इन हूण आक्रमणों का नेता सम्भवतः तोरमाण था। मध्य भारत तक की सारी भूमि पर उसने शीघ्र अधिकार कर लिया। मालवा पर हूणों का शासन जमा। मालवा का हाथ से निकल जाना गुप्त-साम्राज्य के लिए अत्यन्त विपज्जनक सिद्ध हुआ।

तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने भी भारत के मध्य देश मगध पर आक्रमण किया पर उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। मगधराज बालादित्य ने उसे हराकर बन्दी कर लिया। यह बालादित्य कौन था यह कहना कठिन है; परन्तु तिथियों के असामन्जस्य से जान पड़ता है कि यह बालादित्य कम से कम नरसिंह बालादित्य नहीं था। फिर भी उसे हराकर बालादित्य ने अपना विरुद कुछ हद तक तो सार्थक कर ही लिया। हूण-आक्रमण की सम्भावना बनी रहने के कारण शायद बालादित्य 'विक्रमादित्य' के विरुद से वंचित रह गया।

जान पड़ता है कि मिहिरकुल को भारतीयों से फिर लड़ना पड़ा। बालादित्य से भागकर उसने कश्मीर में शरण ली थी और अपनी कृतज्ञता का परिचय उसने अपने आश्रयदाता को

मार और सिंहासन को हड़प कर दिया था। यह मिहिरकुल अत्यन्त नृशंस था। हुएनच्वाँग के लेखानुसार वह बौद्धों का शत्रु था और उन्हें भाँति-भाँति की यन्त्रणाएँ देकर मार डालता था। राजतरंगिणी का तो उल्लेख है कि वह नित्य विशाल हाथियों को ऊँचे पर्वत-शिखरों से गिरवा कर उनके मरण-चिग्घाड़ों को सुन-सुन प्रसन्न होता था, उसी मिहिरकुल ने मालवा के जनेन्द्र यशोधर्मन से इस बीच लोहा लेना चाहा परन्तु आक्रमण उसे मँहगा पड़ा।

जनेन्द्र यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को लगभग ५३२–३३ ई० के शीघ्र ही बाद बुरी तरह हराया। उसकी शक्ति इस हार से इतनी क्षीण हो गई कि उसने फिर भारत की ओर बढ़ने की हिम्मत न किया। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत काल पीछे तक हूण सरदार जहाँ तहाँ भारत में शासन करते रहे और धीरे-धीरे वे भारतीय जनता में घुलमिल गए परन्तु इसके बाद कभी उन्होंने भारत में छत्रधारी राजा की प्रभुता नहीं प्रतिष्ठित की। मिहिरकुल और उसके सरदारों को पूर्णतया पराजित कर और उनकी शक्ति तोड़ कर जनेन्द्र यशोधर्मन् ने भी विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। उसके मन्दसोर के स्तम्भलेख से प्रमाणित है कि स्वयं मिहिरकुल ने अपने मस्तक के पुष्पों के उपहार से उसके चरणों की पूजा की—चूडापुष्पोपहारमिहिरकुल नृपेणार्चितं पादयुग्मम्।

यह यशोधर्मन् विक्रमादित्य भी छठीं शती का महान् विजेता जान पड़ता है। मन्दसोर (पच्छिमी मालवा) के स्तम्भ पर जो उसकी प्रशस्ति खुदी है उसमें लिखा है कि जो वसुधा गुप्तों तक को मुयस्सर न हो सकी थी उसे जनेन्द्र यशोधर्मन् ने भोगी और उसने उन प्रान्तों तक पर शासन किया जिनमें हूण भी

प्रवेश न पा सके थे। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से पश्चिम सागर तक के सारे राजा उसका प्रभुत्व मानते थे। यशोधर्मन् विक्रमादित्य विदेशियों से सफल संघर्ष करनेवाले विक्रमादित्य की प्राचीन परम्परा में अन्तिम था। उसके बाद जो बाढ़ें आईं वे न रुक सकीं।

यशोधर्मन् के प्रायः हज़ार वर्ष पश्चात् विदेशियों को बहिर्गत करने का एक प्रयास और हुआ। वह था रेवाड़ी (पंजाब के गुड़गावाँ ज़िले) के भृगुवंशीय हेमचन्द्र का प्रयास। सोलहवीं सदी ईस्वी के मध्य में हेमचन्द्र को मुसलमान लेखकों ने हेमू नाम से लिखा है, शायद इसी कारण कि वे उसकी राजनैतिक और सामरिक योग्यता से चिढ़े हुए थे। वे राजपूतों को छोड़ हिन्दुओं में किसी और वर्ण को सामरिक श्रेय देने को तत्पर न थे। आधुनिक भार्गव लोग हेमचन्द्र को अपना पूर्वज मानते और अपने को ब्राह्मण कहते हैं। इनका गोत्र निस्सन्देह भृगु का है और ये ब्राह्मण हो सकते हैं, यद्यपि पाणिनि के सूत्र 'विद्यायोनिसम्बन्धौ' के अनुसार गुरु और पिता दोनों के नाम पर गोत्र बन सकते थे। मुसलमानों ने हेमचन्द्र को जो 'बक्काल' (बनिया) लिखा है उसका कारण सम्भवतः उनका वैमनस्य था। यह भी सम्भव है कि आज ही की भाँति चूँकि भार्गव तभी से व्यापार करने लगे थे मुसलमानों को उनके बनिया होने का भ्रम हो गया हो।

कुछ हो हेमचन्द्र अथवा हेमू महान् था। सेनापति और नीतिज्ञ दोनों रूप से। सैन्य-सञ्चालन में वह अपने काल में अद्वितीय था। सच्चरित्र भी वह बड़ा था। शेरशाह के बाद उसका बेटा सलीम फिर उसका पौत्र फ़ीरोज़ गद्दी पर बैठे।

फ़ीरोज़ बालक था और उसके मामा आदिलशाह ने उसे मारकर गद्दी अपनाली। हेमचन्द्र इसी आदिशाह का मन्त्री था। आदिलशाह विलासप्रिय था। उसने हेमचन्द्र पर राज्य का सारा भार डाल चुनार की राह पकड़ी। मौका देख हेमचन्द्र ने हिन्दू राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा। अफ़गानों के गृह-युद्ध से पूर्व में उनका स्वत्व टूट रहा था। और हर जगह वे दुर्बल होते जा रहे थे। सन् १५५५ में सिकन्दर सूर को पञ्जाब में हरा कर हुमायूँ ने दिल्ली में प्रवेश किया, परन्तु अपने लौटाए शासन को छः महीने से अधिक न भोग सका।

सन् १५५६ के आरम्भ में हुमायूँ के मरने पर उसका तेरह वर्ष का पुत्र अकबर गद्दी पर बैठा। बैरमखाँ उसका अभिभावक बना। सिकन्दर पञ्जाब में लूट मार कर रहा था, हेमचन्द्र दिल्ली का मुगल साम्राज्य छीन लेने की अभिलाषा से उधर बढ़ा। अफगान साम्राज्य की पुनः स्थापना का लोभ दिखाकर उसने अफ़गान सरदारों को मुगलों से मिलने न दिया, उनसे उन्हें भड़का रखा। एक बड़ी सेना लेकर जब वह कुशल सेनापति विक्रमादित्य का विरुद धारण कर मुगलों के केन्द्र की ओर चला तो उसकी राह न रुकी। मुग़ल सेनाएँ काई सी कटती गईं, जो सामने आईं कुचल गईं। आगरा देखते-देखते उसके हाथ आ गया, दिल्ली उसके प्रवेश से सेनाओं से रिक्त हो गई। कुछ आश्चर्य न था कि शीघ्र दिल्ली के सिंहासन पर हिन्दू सम्राट प्रतिष्ठित हो जाता, इतने में राजनीतिक दाँव-पेंच में पासा पलट गया। बैरमखाँ ने पानीपत के मैदान में अकबर की ओर से लड़ने के लिए सेना प्रस्तुत की, यद्यपि उसके जीतने की आशा नहीं के बराबर थी और अकबर को काबुल भाग जाने की सलाह दी जाने लगी थी फिर सामना

हेमू का था जिसके नाम से मुग़लों के देवता कूच कर जाते थे और उसकी हरावल में बलिया आरा के उन भोजपुरी वीरों की बहुतायत थी, जिन्होंने कुछ ही सालों पहले शेरशाह के संचालन में बाबर के लड़ाकों के पैर उखाड़ दिए थे, उनके बादशाह हुमायूँ को दरबदर फिरने पर मजबूर किया था और राजपूताना की वीर-प्रसविनी भूमि को रौंद डाला था।

हेमचन्द्र की हिन्दू हरावल ने बैरमखाँ की हरावल से टकरा कर उसे तोड़ दिया। इसी बीच दोनों पार्श्व के अफ़ग़ानी रिसालों ने बैरमखाँ के पार्श्वों को कुचल डाला परन्तु ठीक तभी एक ऐसी घटना घटी जिसने अनेक भारतीय जीतें हार में बदल दी। हेमू अपने हाथी पर खड़ा जो तीरों की मार कर रहा था स्वयं दुश्मन के अनेक तीरों का निशाना था। अब तक उसे अनेक घाव लग चुके थे। सहसा एक तीर उसकी आँख में आ लगा दूसरा उसके हाथी की आँख में। उसका हाथी भागा और उसकी सेना में भगदड़ मच गई। मैदान मुग़लों के हाथ रहा। घायल हेमू मरणासन्न अकबर के सामने लाया गया। बैरमखाँने तत्काल उसे मरवा डाला।

विक्रमादित्यों की परम्परा में हेमचन्द्र का यह उद्योग भारतीय इतिहास में अन्तिम था, यद्यपि उस परम्परा से पृथक प्रयासों की कमी देश में न रही। इस प्रकार के प्रयत्न मराठों ने किए, सन् सत्तावन की ग़दर में हुआ और सन् १८८५ ई० से इधर निरन्तर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस करती रही। अभी अभी विक्रमादित्यों का व्रत पूरा हुआ है, जब अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा। फिर भी सम्भवतः प्रयास पूरा न पड़ा। पश्चिमोत्तरी क्षितिज पर धुएँ के बादल उठ रहे हैं। शायद कुछ और बलिदानों की आवश्यकता होगी। जनमेजय की प्यारी तक्षशिला सम्भवतः कुछ और पूरब की ओर खिंच आई है।

भारतीय संस्कृति में ग्राह्य और अग्राह्य

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यात्यन्तरद्भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

जो पुराना है वह सभी सुन्दर नहीं है और न नया साहित्य नया होने मात्र से ही निन्द्य है। समझदार परीक्षा करके ही उनकी साधुता और असाधुता स्वीकार करते हैं, मूढ़ दूसरे के मत पर अवलम्बित रहते हैं।

ऊपर का श्लोक कालिदासरचित मालविकाग्निमित्र (१, २) का है। साहित्य के निर्माण में निर्माता को यदि इस श्लोक की सुधि बनी रहे और इसके भाव-सिद्धान्त उसकी स्मृति से मिट न जायँ तो समीक्षक का कार्य तो सरल हो ही जाय, पाठकों की भी मानसिक पीड़ा का एकांश शिथिल हो जाय।

प्राचीन काल में साहित्यका सृजन अधिकतर स्थायी भावों को लेकर ही हुआ है। परन्तु स्थायित्व स्वयं क्या कोई सत्यता रखता है? टिकाऊपन क्या सचमुच जीवन में है? शायद व्यक्ति के जीवन में नहीं, परन्तु मनुष्य के जीवन में है। कड़ में नहीं है, शृंखला में है। इसी शृंखला के स्थायित्व को सामने रखकर प्राचीन साहित्य का सृजन हुआ है। और यह साहित्य सुन्दर बन पड़ा है, प्रचुर सुन्दर। वाल्मीकि और कालिदास, विशाखदत्त और भवभूति, माघ और श्रीहर्ष स्तुत्य हैं, काम्य और असाधारण।

साहित्य-रचना का उद्देश्य

प्रश्न है, इनका साहित्य कहाँ तक सार्थक है? परन्तु इस प्रश्न के उत्तर में भी एक प्रश्न है—साहित्य किसके लिए हो?

यह प्रश्न भोजन-वसन आदि के विषय में क्यों नहीं उठता? क्या कोई कभी पूछता या शंका करता है कि किस मनुष्य को भोजन-वसन चाहिये, किसे नहीं? भोजन-वसन क्या सबका स्वाभाविक अधिकार है? फिर साहित्य-कला जीवन के किस स्कन्ध-स्कन्ध की पूर्ति के लिए है? भोजन-वसन अथवा आहार-विहार से क्या इनका सम्बन्ध नहीं है?

भोजन-वसन से, तो, निश्चय नहीं है—स्पष्ट है कि साहित्य-कला न खाने की वस्तु है, न पहनने की, पर क्या वे विहार की वस्तु भी नहीं हैं?

साहित्य-कला का उपयोग किस अर्थ होता है—मनोरंजन और व्यसन के लिये?—उल्लास और विषाद के लिए?—गायन और रुदन के लिए?—काल-क्षेप और विलास के लिए?—चरित्र-निर्माण और आत्मोदय के लिए?—संघर्ष और निर्माण के लिए?—वर्तमान और भविष्य के लिए?—इन प्रश्नों के उत्तर में साहित्य के उद्देश्य और रूप का रहस्य निहित है। इन पर विचार करना होगा—साहस और आशा से।

प्राचीनकाल में साहित्य का निर्माण अधिकतर स्वान्तः-सुखाय हुआ है—मनोरंजन के लिए भी, व्यसन के अर्थ भी। विद्या और साहित्य को 'व्यसन' कहा भी गया है। स्पष्ट है कि 'स्वान्तःसुखाय' से 'बहुजनसुखाय' अथवा 'सर्वजनसुखाय' (यदि यह संभव हो सके) का आदर्श ऊँचा है, उसी भाँति जैसे संकुचित परिवार से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का। बुद्ध ने निर्वाण स्वीकार नहीं किया, क्योंकि यह स्वान्तःसुखाय होता,

वे इस पर दृढ़ रहें कि प्रत्येक जन उसके लिए प्रयत्न करे और पा जाय।

'रमणीयार्थप्रतिपादकता' जिसमें होगी, जिस 'रमणीयता की नवीनता क्षण-क्षण' रूप धारण करेगी, उससे मनोरंजन होगा ही। काव्य का व्यसन काव्यकार और काव्यरसिक दोनों को हो सकता है। पर व्यसन का सम्बन्ध मात्रा से है। जब काव्यकार काव्यकर्म को अपना पेशा अथवा वृत्ति बना लेता है, तब वह उसका व्यसन हो जाता है। काव्यरसिक का व्य-सन काव्य तभी हो सकता है जब उसे और काम न हो, वृत्ति सम्हली हुई हो, आय के साधन सम्हालने न पड़ते हों। तब काव्य उसके श्रम का शैथिल्य दूर न करेगा, संगीत की भाँति उसके चित्त को हल्का न करेगा, वरन् उसका वह व्यसन हो जायगा और तब उसके प्रिय होंगे—कालिदास और जयदेव, और कासानोवा बोक्काचो।

जन-जन का साहित्य

उल्लास विषाद, गायन रुदन, चरित्र-निर्माण और आत्मो-दय, वर्तमान-भविष्य, संघर्ष-निर्माण—ये केवल वैयक्तिक नहीं, सामुदायिक हैं, सबके हैं, और इनके अर्थ अथवा इनके परि-णाम-स्वरूप जिस साहित्य का समुदय होगा वह निश्चय जन-जन का होगा, केवल साहित्य-व्यसनी का नहीं। फिर साहित्य-कला के उद्देश्य यदि वही हैं जो ऊपर कहे गये हैं तो सिद्ध है कि वे वर्ग-विशेष के ही नहीं हो सकते, उन तक ही सीमित नहीं रह सकते, सबके होंगे, क्योंकि वे सबकी अनुभूतियाँ, सबकी आवश्यकताएँ हैं।

यदि साहित्य-कला का संबन्ध जीवन से है—जीवन की

विविध अनुभूतियों-आवश्यकताओं से हैं तो उसका संबन्ध सारे जीव्य उपकारणों से भी होगा—मनुष्य की अनवरत सक्रियता, उसके संघर्ष और निर्माण से भी होगा। जिस काव्य का सम्बन्ध जीवन, उसके संघर्ष और निर्माण से न होगा, वह निश्चय प्रमाद की रिक्त घड़ियों को भरेगा, ऐसे व्यक्तियों की घड़ियों को जिनके सामने संघर्ष नहीं, भविष्य नहीं। ऐसों की संख्या नितान्त कम होगी, जिनके जीवन के आवश्यक अङ्ग अध्यवसाय, क्रियमाणता, संघर्ष न होंगे। फिर साहित्य-कला का क्षेत्र वह नहीं रह जायेगा जिसकी आवश्यकताएँ ऊपर गिनायी गयी हैं। वह अत्यन्त संकुचित हो जायेगा और इस अंश में न वह अपने आदर्शों से केवल गिर जायेगा, वरन् जीवन के अत्यन्त नगण्य स्कन्धों का सेवन करेगा। थोड़े से जनों की प्रवृत्तियों मात्र के अनुकूल उसका निर्माण होगा। वह अल्प-सेव्य होगा। उसके लाभ से अनन्त जन-संख्या वंचित रह जायेगी।

और वह संगीत-साहित्य-कला क्या जो उन्मुक्त वातावरण में सूर्य की गर्मी की भाँति, अनवरत प्रवाहित वायु की भाँति अनन्त आकाश की भाँति सबका न हो, जन-जन का न हो? साहित्य भी उन्मुक्त वायु-मण्डल की भाँति अपना क्षेत्र उदारतापूर्वक विस्तृत करेगा, जिसमें जन-जन अपना अभीष्ट पायेगा, खुलकर साँस लेगा और अभितृप्ति की घूँट पियेगा। निस्सन्देह इस प्रकार के साहित्य की व्याप्ति उसकी सहज-धारणा पर निर्भर करेगी। लोकप्रियता काव्य तब धारण करता है जब उसमें प्रसाद पलता है और सहज मानव की अभिलिषित आकांक्षाएँ और संघर्ष का वितन्वन होता है, जिसमें वर्तमान प्रतिबिम्बित होता है और भविष्य अप्रच्छन्न; अतीत की स्वस्थ

मान्यताएँ, उन्नत आनुवृत्तिक परम्पराएँ उसमें फिर से अनावृत होंगी जिससे वर्तमान शक्ति प्राप्त कर सके और सुनहरे भविष्य के निर्माण में अग्रसर हो।

अतीत का प्रश्न

अतीत का प्रश्न भी साहित्य में महत्वपूर्ण है। इसे न तो छोड़ा ही जा सकता है, न परोक्ष किया जा सकता है। प्रगति में अतीत का जीवित योग है। प्रगति से ही अतीत बनता है, उसी से उसकी सार्थकता है। यह भूला नहीं जा सकता कि अतीत के दोनों विरोधी हैं—अगति भी, प्रतिगति भी। उसका समानधर्मा, अनिवार्य निर्माता, उसके कलेवर का मुखर रूप, केवल प्रगति है। इससे जो अतीतको भुलाकर चलेंगे, वे भविष्य का उचित और सही निर्माण न कर सकेंगे।

प्रत्येक युग की अपनी-अपनी मान्यताएं, अपनी-अपनी उपलब्धियाँ होती हैं, यह साहित्यकार को न भूलना चाहिए। इन्हीं मान्यताओं-उपलब्धियों का समाहार संस्कृति का कलेवर है। विगत वर्तमान ही अतीत है, इस कारण न तो अतीतवादी ही वर्तमान की उपेक्षा कर सकता है और न वर्तमानवादी ही अतीत की। दोनों की वास्तव में एक ही काया है, कारण-कार्य का क्रम लिये हुए।

अतीतवादियों का भ्रम-जाल

इधर कुछ साहित्यिकों के लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उन्हें पढ़ने से उस घने भ्रम का साक्षात्कार होता है जिससे इन कतिपय अतीतवादियों का मानस आच्छन्न है।

अतीत का गान करते समय वे सर्वथा इस बात को भूल जाते हैं कि अतीत न तो संपूर्ण सुन्दर है, न नितान्त असुन्दर।

उसमें सक्रियता भी है और प्रमाद भी, स्वार्थ भी है और परार्थ भी, संकीर्णता भी है और उदारता भी, रावण भी है और राम भी। और इससे इस अतीत का सर्वैव ग्राह्य नहीं है। 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वं'—यह अतीत का ही एक साधु उद्गार है जिसे स्वयं अतीतवादी भूल जाते हैं।

प्रगतिशीलों पर आरोप

प्रगतिशीलों के विरुद्ध दोषारोपण विशेष कर यह किया जाता है कि वे अतीत के विरुद्ध खड़े हैं। यह धारणा, जिसे एक पक्ष अनावश्यक अध्यवसाय से पुष्ट करता जा रहा है, नितान्त निर्मूल है। प्रगतिशील अतीत के विरोधी नहीं हैं, परन्तु उनके साथ कठोर वर्तमान का सत्य है जिसका वातावरण इतना निर्मम और इतना संघर्षपरक है कि वे शुतुरमुर्ग की भाँति रेत में मुँह छिपाकर उपस्थित परिस्थिति को भूल नहीं सकते। अतीत उनके साथ है, स्वयं वर्तमान उससे छिदा-छिदा है, पर वे वर्तमान में हैं, यह वे भूल नहीं सकते। अतीत का गौरव उनका गौरव भी है, उसकी प्रतारणाएँ उनके भी क्षोभ की वस्तु हैं, पर उससे वे केवल सीख ले सकते हैं, सावधान हो सकते हैं, उसमें रह नहीं सकते।

अतीत, वर्तमान और भविष्य

अतीत उन्हें धारण करता है धरणी की भाँति, परन्तु धरणी जो धारण करती है, नेत्रों के सामने नहीं, पैरों के नीचे रहता है; नेत्रों के सामने भविष्य रहता है, अतीत पीछे। यदि अतीत सामने आ जाय तो वर्तमान भी नहीं रह सकता, हम भी नहीं रह सकते। अतीत हमारे पीछे है, हमें शक्ति देगा, हमारे विगत गौरव को याद दिलायेगा। केवल गौरव को ही

नहीं, हमारी विफलताओं की भी, हमारे असफल प्रयासों की भी, हमारे दुर्घटितसंघर्ष की भी, हमारी प्रतिद्वन्द्वी शृंखलाओं को भी। परन्तु वह केवल हमारी गौरवानुभूति अथवा आक्रोश का कारण न होगा, वरन् वह हमारे वर्तमान के संघर्ष का मशाल होगा, भविष्य के निर्माण का सहायक होगा। अतीत की हमें आवश्यकता होगी अनिवार्य, क्षण-क्षण, परन्तु गाने और रोने के लिए नहीं, सक्रिय योग के लिए।

हम यह न भूलें कि अतीत को हम लौट नहीं सकते, न उसे आज लौटा ही सकते हैं और न उसे लौटाने का प्रयत्न स्तुत्य ही है। हमारा विकास 'स्पाइरल' (चक्करदार प्रगति) हुआ है, अधोधः से उच्चोच्च। एक बीज से एक पौधे में अनन्त फल और परिणामतः अनन्त बीज प्रसूत होते हैं, अनन्तबीजों से एक बीज नहीं बनता।

सम्भव है, कभी ऐसा हुआ हो कि युग-विशेष में हमारी प्रगति, हमारा विकास, उतना न हो जितना और-और युगों में होता आया है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि हम उस युग में पीछे की ओर चल पड़े हों—धान के पौधे से प्रजनित अनन्त चावलों ने मिलकर एक चावल उत्पन्न कर दिया हो।

बस, इतना समझ लेने की बात है कि बीज अतीत है और अनन्त फलों और परिणामतः बीजों को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। उसकी सार्थकता फलों और नये बीजों को उत्पन्न कर देने में है। किसान अनन्त नये फलों बीजों को छोड़ कभी यह प्रयास नहीं करता कि उस बीज को पकड़े जिसने इन्हें उगाया। वह तो स्वयं नष्ट हो चुका। बीज से अंकुर बना, अंकुर से पौधा, फिर फूला-फला और अन्ततः अनन्त पौधों के उत्पादक बीज।

सो हम अतीत को लौट नहीं सकते, केवल किस प्रकार के बीज ने किस प्रकार के फल उपजाये हैं, इसका ज्ञान रख सकते हैं। बीज सभी अच्छे नहीं—यह भी न भूलना चाहिए। अतीत का गौरव हमारे साहित्य का अतुल धन है, उसकी आनुवृत्तिक परम्परा, स्वस्थ अनुश्रुतियाँ हमारे साहित्य की शक्ति हैं, हमारे नये वर्तमान और अघटित भविष्य की नींव है; परन्तु उस नींव पर निर्माण होगा हमारे 'फौरी' वर्तमान का, साथ के भविष्य का।

प्रगति का पथ

साहित्य में यह शक्ति होनी चाहिए कि जब प्राचीन परम्पराएँ, मापें और मान्यताएँ जर्जर हो जाँय—युगधर्म, देश और काल में न खपें—प्रगति में काँटे अटकायें तो वह उन्हें छोड़ दे, स्वयं उनसे मुक्त होकर प्रगति-पथ पर निर्बाध चल पड़े। उसमें यह साहस होना चाहिए कि वर्तमान के अनुकूल, भविष्य के निर्माण के अनुकूल और सहायक नयी परम्पराओं, मापों और मान्यताओं की अभिसृष्टि करे।

साहित्य की दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं है, वह शायद दर्शन की है, दर्शन की भी नहीं, वृत्तीय वागाडम्बरी दर्शन की शायद हो। साहित्य प्रगति का विरोधी नहीं है, सामाजिक विकास में वह स्वयं एक अस्त्र है। जीवन की वह परिभाषा है, परन्तु उससे कहीं बढ़कर वह वर्तमान का दर्पण है। यथार्थवादिता की नींव पर खड़ा साहित्यिक-कलाकार आदर्श निर्माण में योग देता है। यदि वह जीवन से सम्भूत स्वयं जीवन है तो वह जीवन के संघर्ष से विरत और उदासीन नहीं रह सकता। वह स्वयं अतीत की उचित जीवित परम्पराओं, मापों,

मान्यताओं को स्वीकार करेगा, उनसे शक्ति लेगा, उनको स्वयं अनुकूल शक्ति प्रदान करेगा।

पर निस्सन्देह, स्वस्थ परम्पराओं, स्वस्थ मापों, स्वस्थ मान्यताओं को ही वह ग्रहण करेगा। अतीत का सभी कुछ सुन्दर और कल्याणकर नहीं है—वह स्वयं अतीत की धारणा और अभिसिद्धि है—पुराणमित्येव न साधु सर्वं।

प्रगतिवादी अतीत की इस सशक्त स्वस्थ 'प्रतिज्ञा' को सर्वथा स्वीकार करते हैं। परन्तु साहित्य के आधुनिक अतीत-वादी भी इसी सिद्धान्त के सन्निकट परवर्ती सत्य—नवं इति अवद्यम्—को स्वीकार करें। अतीत के उचितानुचित की परीक्षा कर 'सन्त' बनें, परप्रत्यय-बुद्धि' से 'मूढ़ता' को प्राप्त न हों।

हमारा अतीत सुविस्तृत है, क्योंकि हमारी संस्कृति प्राचीन है! हमें इस प्रशस्त क्षेत्र की समीक्षा करनी है, इसके आलोक-बिन्दुओं और तमघनों को समझना है। सारा विस्तार जैसा-का-तैसा स्वीकार करने पर, उसके विस्तार में हम स्वयं खो जायेंगे। हमें उचितानुचित का कर्तव्या-कर्तव्य का, बोध न हो सकेगा।

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' को सिद्ध करने के लिए हम अपने सांस्कृतिक अतीत पर एक पैनी नजर डालें और देखें कि उसमें क्या साधु है, क्या असाधु; उसमें से हम क्या अंगीकार कर सकते हैं, क्या त्याग सकते हैं?

इस निबन्ध के शीर्षक का सार्थक भाग वास्तव में अब शुरू होता है—संस्कृति में ग्राह्य और अग्राह्य के विचार से। परन्तु इसको पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए यह पूर्वपीठिका नितान्त आवश्यक थी। इस पृष्ठभूमि से अब हम अपनी

संस्कृति का सिंहावलोकन कर सकते हैं, जो उपादेय भी होगा, कल्याणकर भी और साहित्यिक प्रजनन में सहायक भी। फिर भी यह नीचे की प्रस्तुत तालिका पूर्ण किसी प्रकार भी नहीं है, सूचीमात्र है।

उत्कर्ष और अपकर्ष

भारत की पहली सभ्यता द्रविड़ों ने सँवारी! उनका कृषि-कर्म, उत्पादन प्रयास, ग्राम-निर्माण, सामाजिक जीवन काफी ऊँचा और स्तुत्य था। अपने विकास के सैन्धव-काल में उन्होंने कला की अद्भुत उन्नति की, नगरों का अभूतपूर्व निर्माण किया। उनकी सभ्यता में यह नागरी संस्कृति खूब फूली-फली। हमारे सांस्कृतिक विकास में यह सैन्धव-उत्कर्ष एक आलोक-विन्दु है। इस संस्कृति को आगन्तुक आर्यों ने छिन्न भिन्न कर डाला, उखाड़ फेंका। आर्यों का यह आचरण हमें अग्राह्य है। द्रविड़ों और अनार्यों का विदेशियों के विरुद्ध एक लम्बे काल तक संघर्ष, चप्पे-चप्पे जमीन के लिए त्याग और रक्त-तर्पण हमारी देश-भक्ति में शपथ का कार्य करेगा।

नयी भूमि पर आर्यों का वास और उसे अपनी समझकर उसके लिए जीवन उत्सर्ग करने को तत्पर रहने की बुद्धि, आर्यों का उदात्त-तेजोमय जीवन, प्रकृति से उनका निर्बाध सम्पर्क, उसकी शक्तियों के प्रति उल्लास आदि हमारे ग्राह्य हैं। उषा के प्रति उनका उन्मद उद्भ्रमित आकर्षण, उसके प्रति उनकी गायी ऋचाएँ, हमारे काव्य-साहित्य की शिला भित्ति हैं—सरल, यथार्थ, सम्मोहक।

राहु का उदय

आर्यों का सादा, स्वतन्त्र जीवन सीमा-विवर्जित था, परन्तु धीरे-धीरे उनके 'जन-जीवन' पर वर्णोदय के कारण जो राजा

का राहु उदित हुआ, वह उस संस्कृति को ग्रस बैठा। राजा की कुलागत नित्यवर्धित सत्ता पर सभा, समिति, विदथ आदि सार्वजनिक संस्थाओं ने जो अंकुश का कार्य किया और राजा की निरंकुशता को सीमित रखने के लिए जो संघर्ष किया, वह किसी जाति अथवा राष्ट्र के गर्व का कारण हो सकता है। परन्तु जन-शक्ति के भग्नस्तूप पर इस राजशक्ति का उदय और उसकी पृष्ठभूमि में वर्णों का कारण-रूप में उत्कर्ष कष्ट-चेतना है

वर्ण-धर्म जिसने धीरे-धीरे इस वैदिक पृष्ठ-भूमि से उठकर सारी आर्य जाति और उसके जीवन के सारे विकास को सीमित और असम कर दिया, जिसके कारण भारतीय समाज आज तक खुलकर साँस न ले सका और जिसके आधार पर मनुष्य-मनुष्य के व्यवहारों में गाँठ पड़ गयी, जिसके कारण प्रायः नौ करोड़ भारतीय जनता अन्त्यज और अछूत हो आज भी हरिजन नाम का व्यंग्य वहन कर रही है, किसी भी जाति के लिए भयंकर कालिमा है। वह किसी भी ईमान्दार जीवन में निश्चय अग्राह्य है।

अनन्त जीवों की बलि और उनमें सबसे सुन्दर अभिसृष्टि मानव की भी बलि इस काल के यज्ञानुष्ठानों की सभ्यता पर प्रबल व्यंग्य है। आज भी बद्धपशु से यूपश्रृंखलित शुनःशेप की कातर ध्वनि हमारे कानों में भर-भर हमारी उस अतीत मानवता को कोस रही है, पुकार-पुकारकर पूछ रही है—'कौन मेरा पिता है, कौन मेरी माता? कौन मुझे इस यूप से विश्रृंखल करेगा?'

दिग्विजय और अश्वमेध का आरंभ करनेवाले इस युग की सार्वदैशिक सराहना हम कैसे करें जिसमें राजा के सिंहासन पर बैठते ही अन्यों को कुचलकर उनका राज्य, उनका

कोष, हड़प लेने का प्रोत्साहन और विधान मिलता था। सर्व-जित-सत्र ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक का चूड़ामणि हो सकता है, परन्तु मानवता के इतिहास में वह केवल एक करुण कहानी का संकेत बना रहेगा।

दिग्विजय और अश्वमेध

इस युग की निचली सीमा का वर्ण संघर्ष—वसिष्ठविश्वामित्र का, परशुराम-क्षत्रियों का, जनमेजय-तुरकावषेय का, इतिहास और समाज की प्रगति में एक दृढ़ मंजिल है। उसका वर्णन साहित्य के निर्माण में सुस्थिर पृष्ठभूमि सिद्ध होगा। औपनिषदिक समाज की यही वह पूर्वभूमि है जिस पर ब्राह्मण क्षत्रिय-संघर्ष जन्मा और फैला, जहाँ क्षत्रियों ने ब्राह्मण विधि क्रियाओं और यज्ञानुष्ठानों के विरुद्ध विद्रोह किया, जब मेधा का नेतृत्व ब्राह्मण के हाथ से निकलकर अभिजातवर्गीय क्षत्रिय के हाथ में चला गया।

इसी काल ब्राह्मण उद्दालक अरुणि, श्वेतकेतु आरुणेय, याज्ञवल्क्य और दृप्त बालाकि के विरोध में क्षत्रिय अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय और जनक विदेह न केवल खड़े हुए, वरन् उनको अपने नये ज्ञान से विदग्ध किया। इस काल में यद्यपि शास्त्रीय और शस्त्रीय सत्ता अभिजात कुलीय ब्राह्मण-क्षत्रियों के हाथ से जन-साधारण के हाथ में न जा सकी, फिर भी यदि इसने एक को पैतृक सत्ता भी यदि इस अर्थ में मिटायी तो कुछ कम नहीं किया। इसी संघर्ष के फलस्वरूप भारतीय दर्शन का उदय हुआ, ब्राह्मण के विद्रोह में उपनिषद् जन्मे और उनके प्रति-विद्रोह में सांख्य-वैशेषिक उठे।

प्राचीन मान्यताएँ इस प्रकार अनेक बार विनष्ट हो गयीं, अनेक बार नयी मान्यताओं ने उनका स्थान लिया। 'पुराण-मित्येव न साधु सर्व' का सत्य सतत चरितार्थ होता रहा, 'नवमित्यवद्यम्' के पाठ को अतीत का भारतीय बार-बार बदलता रहा। वर्णों का अथक संघर्ष होता रहा, ऐतिहासिक प्रगति की शृंखला में नयी कड़ियाँ नित्य जुड़ती रहीं।

युग की प्रबल देन

युग का क्रम बढ़ चला—पार्श्व-महावीर-बुद्ध आये—तीनों अभिजात-कुलीय, तीनों क्षत्रिय, तीनों ब्राह्मण वेद-विरोधी। वर्णों की ब्राह्मण-व्यवस्था पर चोटें पड़ीं। इस युग की यह प्रबल देन है, जिसे साहित्यकार मुक्तकंठ से स्वीकार करेगा। इस युग में जब बुद्ध ने जनभाषा पाली को अपने दर्शन का अभियान बनाया, जब संघ का निर्माण कर उसके द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिये, जब मनुष्य ने पारस्परिक एकता और समता को प्राचीन आर्य-जीवन व्यवस्था के बाद फिर पहली बार समझा, जब मनुष्य ने मनुष्य के समीप मनुष्य के अधिकार से बैठने का दावा किया और बैठा, जीवों के प्रति अपनी दया की अनुभूति जब उसने प्रगटित की और जब उसने अपनी मानवता की सीमाएँ बढ़ाकर पशु पक्षियों के संसार को भी छू लिया, जब 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' का निर्घोष दिगन्तव्यापी हुआ—यह सब हमें ग्राह्य है।

परन्तु जीवन के प्रति इस बौद्ध-प्रव्रज्या से उत्पन्न उदासीनता और पलायन की प्रवृत्ति हमें सर्वथा अग्राह्य है। कालान्तर में जो ये संघ व्यभिचार और षड्यन्त्र के केन्द्र बन गये,

अपने प्राचीन मानव-धर्म के शत्रु, उनकी यह अनिष्ठा भी निस्सन्देह हमारे आदर की वस्तु नहीं हो सकती।

इस युग का वह तक्षशिला का विश्वविद्यालय निस्सन्देह हमारे अतीत का गौरव है। इसी काल वैष्णव-धर्म का जो अभ्युत्थान हुआ, हम उसके प्रति भी नतशिर होते हैं। भूसुर का स्थान अब ब्राह्मण से क्षत्रिय ने लिया, लेकिन अवतारवाद ने गीता में दर्शन का रूप धारण कर क्षत्रिय मानव को जो व्यवस्था के सिंहासन पर बैठाया वही समाज का अभिशाप भी बन गया। परन्तु इस सम्प्रदाय के समुदय से एक लाभ भी हुआ—बौद्ध संघ की भाँति इसने भी अपने द्वार मानव मात्र के लिये अनावृत कर दिये। ऊँच नीच का विचार इसने भी सर्वथा त्याग दिया। मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते मनुष्य के बराबर है—इस सत्य का इस धर्म ने भी प्रचार किया। इसने वर्ण-धर्म पर कठोर आघात किया।

मानवता के विरुद्ध जघन्य पाप

सूत्र जन्मे। ब्राह्मण-व्यवस्थापक एक बार फिर सजग हुआ, बौधायन-आपस्तम्ब ने फिर वर्ण-धर्म को नये सिरे से रखा—उसकी सीमाओं को फैलाकर, परन्तु मनुष्य के स्वातंत्र्य को सर्वथा कुचलकर। मनुष्य केवल संस्कारों का अनुष्ठाता हो गया। गर्भ में आने के पहले से लेकर मृत्यु के बाद तक की उसकी सारी प्रक्रियाएँ व्यवस्थित कर दी गयीं। ऊपरले तीन वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—द्विजन्मा (संस्कृत) होने से 'द्विज' कहलाये, शूद्र शूद्र बने रहे, अन्त्यज अन्त्यज। अछूतों की शृङ्खला बढ़ चली, शूद्र-चाण्डालों की संख्या गणनातीत हो

चली, उनके अधिकार पशु से भी अधिक सीमित हो गये।

मानवता के विरुद्ध इस जघन्य पाप को अतीतदर्शी साहित्य-कलाकार क्षमा नहीं कर सकता। न केवल यह उसे अग्राह्य होगा, वरन् उसकी लेखनी-छेनी उस पर गहरे-पैने आघात करेगी।

परन्तु यह कंस का अन्तिम पाप था जिसे नारद ने प्रोत्साहित कर पराकाष्ठा तक पहुँचाया। बौद्ध और वैष्णव केन्द्र निम्नवर्गीयों-अनभिजात-कुलीयों-शुद्र-चाण्डालों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर रहे थे। नन्दों के शासन की पिछली अवधि में उनको उठने का अवसर मिला जब शूद्र महापद्मनन्द ने सारे क्षत्रिय राजाओं का अन्त कर 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद धारण किया। परन्तु चाणक्य ने इस आसन्न विपद् को समझा जो ब्राह्मण-क्षत्रिय-अभिजात-वर्ग के विरोध में उठी। अपने 'अर्थशास्त्र' में उसने शूद्रों-श्रमणों के विरुद्ध अनन्त व्यावहारिक (कानूनी) विधान किये जो हमें सर्वथा अग्राह्य हैं। स्वयं चाणक्य की मेधा कुशल, अद्भुत और असाधारण होने से स्तुत्य है। काश, वह जनकल्याण में लगायी गयी होती।

सिकन्दर का आक्रमण

इसी काल सिकन्दर ने भारत पर हमला किया। आम्भी का आचरण तात्कालिक नीत्याचरण पर एक काला धब्बा है। राजा पुरु का आचरण और उसके पुत्र के दस्ते का इस विदेशी आक्रमण द्वारा सर्वथा नष्ट हो जाना सर्वथा स्तुत्य है। परन्तु विजयी होकर उसी पुरु की अन्य भारतीय राष्ट्रों के विरुद्ध विजेता की सहायता अग्राह्य है। पंजाब के गण राज्यों का

विजेता से इञ्च-इञ्च पर भिड़ना और उसका मार्ग रोकना उस गौरव की पृष्ठभूमि है जिस पर वे खड़े हुए थे। ये मालव-क्षुद्रकों, यौधेय-अम्बष्ठों के बीसियों गणतन्त्र लिच्छवियोंकी परम्परा थे। प्राचीन कालमें लिच्छवियों ने अजातशत्रु की मागध-शक्ति का एक लम्बे काल तक सामना किया था। पंजाबी गणतन्त्रों ने भी शक्ति-भर सिकन्दर का सामना किया। उनकी वीरता, उनका संघर्ष, उनकी सार्वजनिक समता संसार के किसी साहित्यिक की रचनावस्तु हो सकती है, किसी राष्ट्र को ईर्ष्या।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य ने क्षत्रिय-ब्राह्मण साझे से जिस साम्राज्य का विस्तार किया, वह इन्हीं गणतन्त्रों की नींव पर खड़ा हुआ। ऐसे साम्राज्य का सुख गणतन्त्र और जनसत्ता के विरोध में ही सम्हाला गया था। जब तक उन गणतन्त्रों की याद बनी रहेगी, तब तक यह साम्राज्य हमारे हृदय में काँटे की भाँति चुभेगा। साम्राज्य और साम्राज्यवादी नीति—चाहे भारत के हों चाहे अन्य देशों के—है वह नितान्त घृणित, नृशंस, शोषक। फिर भी ये गणतन्त्र मर न सके। समय-समय पर अवसर पा-पाकर वे संघर्ष करते रहे, मस्तक उठाते रहे, अपनी स्वतन्त्रता में इठलाते रहे। साहित्य-निर्माता उनके संघर्ष और स्वातन्त्र्य-प्रियता को अमर करेगा, इतिहासकार उन्हें मस्तक झुकाकर आगे बढ़ेगा।

ब्राह्मण-साम्राज्यों के उदय के साथ-साथ स्मृतियों का भी उदय हुआ जिनमें सूद्रों की व्यवस्था फिर से बाँधी गयी, शुङ्गों के तत्वावधान में। शुङ्गों ने संघारामों को पाटलिपुत्र तक जला डाला, श्रमणों को तलवार के घाट उतार दिया—यह घृणित है, परन्तु विदेशी ग्रीक हमलों को देखते हुए हम उसे क्षम्य

मान सकते हैं, उन विदेशी हमलों को देखते हुए जिनकी शृंखला ग्रीक विजेता द्रिमित्रिय ने आरम्भ की थी।

पुष्यमित्र युग के पूर्व, निकट पूर्व, में ही, शालिशूक के पूर्व मौर्यराज ने गुजरात-काठियावाड़ में जो धर्म-ताण्डव किया था और तलवार के जोर से जनता को जैन बनाया था, जैन-धर्म की अहिंसक वृत्ति पर वह निस्सन्देह एक व्यंग्य है। उसी का पूर्वज अशोक, जिसने दिग्विजय के स्थान पर धर्म-विजय की प्रतिष्ठा की, संसार के राजाओं में सूर्य की भाँति चमकता है। उस अशोक की प्रसर-विरुद्ध नीति पर—रघु-राम की दिग्विजय पर नहीं—भारतीय संस्कृति के पाये दृढ़ होंगे।

इस काल नारी का शूद्रवत् अधोऽधः अवतरण होने लगा था। ऋग्वैदिक नारी फिर भी शक्तिशालिनी है, उसे देख श्रद्धा होती है। शीघ्र प्रायः उसी काल, महाभारत-युग में, उसकी दुर्गति शुरू हो जाती है। क्या सीता, क्या द्रौपदी, सभी व्यवस्था की धुरी में पिस जाते हैं! उपनिषत्काल में अभिजात कुलीनाएँ कुछ संपन्न और आदृत हैं, परन्तु साधारणतया उनके अधिकार धूल में मिल जाते हैं। पति की काम-तृप्ति अथवा प्रजा-विस्तार का साधन मात्र वे रह जाती हैं साहित्यकार उनकी आधोगति अपनी समझेगा।

देशीनीति का कलंक

मौर्यों की दुर्बलता, वर्ण-धर्म के कारण राष्ट्र के वैरियों और आक्रमकों के प्रति उदासीनता बौद्धों के देश के शत्रुओं से मिल जाने की नीति से देश जो विदेशियों की क्रीड़ा भूमि बन गया, वह अतीत की देशी-नीति पर कलंक है। ग्रीक, पह्लव, शाक, कुशाण—एक-एक कर सबने भारत में अपने राज्य

स्थापित किये। शकों की शक्ति प्रथम शती ई० पू० (५६-५७ ई० पू०) में प्रथम विक्रमादित्य ने तोड़ दी, जब मालवों ने पंजाब से निष्क्रमण कर अवन्ती को अपना निवास बनवाया और उसका नाम मालवा रखा। निस्सन्देह, विक्रम संवत् चलानेवाले इस मालव मुखिया-विक्रम का प्रयास स्तुत्य है। इसी प्रकार द्वितीय शती ईस्वी में वाकाटकों और नागों के प्रयत्न से जो विदेशी कुषाणों से शक्ति छीन ली गयी, वह हमारे अतीत का गौरव है। हमारे साहित्यकारों के लिए वह आलोक-विन्दु है। इसी युग में दार्शनिक पार्श्व, वसुबन्धु और संभवतः नागार्जुन, कवि और दार्शनिक अश्वघोष हुए, चरक ने चिकित्सा-शास्त्र की दृढ़ नींव डाली। भारतीय दर्शन एक नये मार्ग की ओर बढ़ा।

नागों के साम्राज्य पर गुप्तों का साम्राज्य खड़ा हुआ। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय कर आर्यावर्त के राजाओं को उखाड़ फेंका, दक्षिण के राज्यों को जड़ से हिला दिया, प्रत्यन्त नृपतियों को अपनी सेवा करनेपर बाध्य किया। सारे भारत की स्वतन्त्रता कुचल गयी। अश्वमेध और दिग्विजयों ने उन गणतन्त्रों को निष्प्रभ कर दिया जो भारतीय राजनीति में अद्भुत गौरव की वस्तु थे। पुराणकार ने कहा—'राघव का साम्राज्य नष्ट हो गया, राम के ऐतिह्य में अविश्वास हो चला है, क्या समुद्रगुप्त का यश जीवित रह सकेगा—यह भी हमारे स्मृति-पटल से मिट जायेगा। साम्राज्य को धिक्कार, साम्राज्य को धिक्कार!'

इस गुप्तकालीन इतिहासकार का वक्तव्य आज के अश्वमेध प्रेमियों के लिए भी अंकुश होना चाहिए। साम्राज्यवादिता के विरुद्ध यह पहली देशी आवाज थी।

शकारि विक्रमादित्य

शकारि विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय का शकों के विरुद्ध प्रयास स्तुत्य है युवावस्था के आरंभ में ही उसने भ्रातृ-जाया की रक्षा के लिए जो शक-नृपति का वध किया था, 'देवीचन्द्र-गुप्त' में वर्णित वह आचरण अनेक युगों में आदर्श रहेगा। विशाखदत्त के लिए वह अद्भुत प्लाट सिद्ध हुआ। परन्तु पिता की ही भाँति चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-नीति भी हमारी प्रशंसा की वस्तु नहीं हो सकती।

इसी काल के आस-पास बृहत्तर-भारत की नीव पड़ी, मलाया-इन्डोनेशिया (जावा-सुमात्रा आदि) भारतीय सांस्कृतिक और राजनीतिक गाल में समा गये। वह साम्राज्यवादी प्रसर-नीति का ही एक नमूना है। इसी गुप्तकाल के उत्कर्ष-युग में जब साहित्य, ललित कलाएँ अपने विकास के शिखरों से आकाश चूम रही थी, वर्ण-धर्म की व्यवस्था मजबूत की गयी। फाह्यान लिखता है कि चाण्डाल नगर के बाहर रहते थे और जब कभी वे नगर में प्रवेश करते, उनको लकड़ियाँ बजा कर सवर्ण हिन्दुओं को सावधान करना पड़ता था, जिससे वे उनसे छू न जायं। जिस काल में मनुष्य ने मनुष्य को इतना घृणित समझा, उसकी सामाजिक नीति को हम कैसे सराह सकते हैं ?

आश्चर्य की बात तो यह है कि यही 'नवरत्नों' का युग है—कालिदास और विशाखदत्त का, हरिषेण और वत्सभट्टि का, नागार्जुन और सुमित्र का, असंग और याज्ञवल्क्य का, धन्वन्तरि और अमरसिंह का, वाराहमिहिर और आर्यभट का।

कालिदास का साहित्य

इस युग में हमारी साहित्यकला का चरम विकास हुआ। जिस परम्परा का वाल्मीकि ने आरंभ किया था, अश्वघोष ने जिसे शक्ति दी थी, कालिदास ने उस काव्य को सौन्दर्य की पराकाष्ठा तक पहुँचाया। परन्तु तब तक काव्य की उदात्त चेतना नष्ट हो चुकी थी, उज्जीवक विचार मर चुके थे। वाल्मीकि ने तो फिर भी मनुष्य को रहने के आदर्श दिये, किन्तु कालीदास की समर्थ लेखनी ने विलास और भोग के उद्दीपक राग गाये। नैतिक रूप से वह विलासी कुमारगुप्त की ही सृष्टि कर सकते थे। नैतिक आदर्शों को नए सिरे से ढालना कालिदास की शक्ति की बात न थी।

कालिदास ने उन्हीं वर्णाश्रम-धर्मों की गाथा गायी जो भारतीयता पर कालिमा का टीका सिद्ध हो चुके थे। कहीं-कहीं उन्होंने रोष प्रकट किया है—उनकी शकुन्तला पुरुष के अधिकारों पर व्यंग्य करती है, उनकी सीता 'वाच्यं-त्वया मद्वचनात्स राजा' कहकर राम को सन्देश भेजती है, परन्तु वास्तव में यह विद्रोह नहीं, विद्रोह की विडम्बना है। शुद्र तपस्वी शम्बूक के राम द्वारा रघुवंश में मारे जाने पर महाकवि की लेखनी में बल तक नहीं पड़ता, वह स्वयं उस तपस्वी को उसके अनाचार पर धिक्कारता है।

निश्चय ही कालिदास का साहित्य जन के लिए नहीं, जनकल्याण के लिए नहीं, सामन्ती विलास के लिए है, उस वर्णव्यवस्था का पोषक है जिसका संकेत फाह्यान ने किया है। पर सुन्दर वह अवश्य है, प्रभूत सुन्दर, और काव्य की मनोहरताओं को प्रस्तुत करने में अपना प्रतीक वह स्वयं है।

स्त्रैण सम्राट

विक्रमादित्य की संहारक नीति ने गणतन्त्रों की स्वतन्त्रता तो सर्वथा नष्ट कर ही दी, कुमारगुप्त के विलास के साधन भी प्रस्तुत कर दिये। मालवा और उज्जैनी, काठियावाड़ और गुजरात अब साम्राज्यवादी मागधगुप्तों के अधिकार में थे। प्रशस्तिकार कवि ने गाया—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥

यह संभवतः युग का गर्व था जिससे रोम और मिस्र, चीन और मलय से आया हुआ धन कुमारगुप्त का विलास-साधन बनता था, जब भारतीय कला और समृद्धि इस इन्द्र (शकादित्य) की ऐयाशी में योग देते थे। इस स्त्रैण सम्राट को भी अश्वमेध की सूझी और उसने संभवतः अपने दुर्ग के प्रांगण में ही घोड़ा छोड़ दिग्विजय कर लिया।

कुमारगुप्त के पापों का प्रायश्चित्त उसके समर्थ पुत्र स्कन्दगुप्त ने किया। स्कन्दगुप्त कुछ कम साम्राज्यवादी न था। पुष्यमित्रों के गण तन्त्र ने एक बार कुमारगुप्त की अन्तर्मुखी नीति से प्रबल होकर स्वतंत्र होना चाहा, उन्होंने साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों पर आक्रमण भी किया, परन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हें कुचल डाला।

गणतन्त्रों का स्वतन्त्र होने का संभवतः यह अन्तिम प्रयास था। स्कन्दगुप्त अपने राजकुल की विचलित लक्ष्मी फिर से प्रतिष्ठित करना चाहता था। इस अर्थ युद्ध की रातें उसने भूमि पर सो-सोकर बितायी और मध्य एशिया की वह विध्वंसक आँधी—हूणों का आक्रमण—कम-से-कम एक बार तो अपने वक्ष पर रोक ही लिया।

विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध उसका यह प्रयत्न भूरि-भूरि प्रशस्य है। उसका प्रयास चन्द्रगुप्त मौर्य, पुष्यमित्र शुङ्ग की लाइन में हैं, सर्वथा स्तुत्य हैं, यद्यपि जिस हिलती-डुलती भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर उसके साम्राज्य की नींव टिकी थी, वह स्वयं उसे खड़ा न रहने देती, हूणों की अनवरत चोटों को यद्यपि वह श्रेय मिलना था।

अनुत्तरदायी नृपति

इस गिरे हुए साम्राज्यकी पृष्ठ भूमि पर धीरे-धीरे हर्ष के साम्राज्य ने सिर उठाया। हर्ष की साम्राज्यवादी नीति को दक्षिण में चालुक्य नृपति पुलकेशिन् द्वितीय ने रोका। बौद्ध भावना से प्रेरित हो हर्ष जो प्रयाग में पंचवर्षीय समारोह करता था और प्रदर्शन के निमित्त जो प्रजा के पसीने की कड़ी कमाई को स्वाहा कर डालता था, उसके बराबर शायद अनुत्तरदायी नृपति राजाओं की शृंखला में शायद ही मिले।

अशोक के मठ के प्रतिदान को उसके मन्त्री राधगुप्त ने युवराज की सहायता से रोक दिया था और अशोक को रोकर कहना पड़ा था—'मुझे तो खाये हुए आधे आमलक तक को किसी को दान करने का अधिकार नहीं है।'

परन्तु हर्ष का दोनों हाथों से प्रजा की गाढ़ी कमाई को निठल्ले रहने वाले भिखमङ्गों के लिए उलीचना, जब कि सड़कों पर पुलीस तक का भी उचित प्रबन्ध न था जो इस धन से किया जा सकता था। स्वयं हर्ष के मित्र-अतिथि हुएन्त्सांग को इस अरक्षा के कारण दो-दो बार लुट जाना पड़ा था! हर्ष के इस आचरण के विरुद्ध अतीत के द्रष्टासाहित्यिक की लेखनी घोर प्रतिक्रिया का ही प्रजनन करेगी।

हूणों के बारंबार आक्रमण ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को तोड़ दिया था। उनके राजनीतिक प्रकर्ष के विरुद्ध यशोधर्मा, बालादित्य आदि ने जो राष्ट्रीय प्रयास किये थे, वे सराहनीय हैं। हूणों-गुर्जरों-आभीरो आदि को अपनी व्यवस्था में दीक्षित कर उन्हें प्रायः खपा डालना इस काल की भारतीय वर्ण-पद्धति की उदारता उद्घोषित करती है। साहित्यकार के लिए वह निस्सन्देह आदर का विषय है। पालों का उत्कर्ष इस काल में महापद्मनन्द की भाँति शूद्रों और निम्नवर्गीयों के नेतृत्व का है, स्तुत्य है। इस काल में नालन्द विद्यालय का निर्माण और विकास भारतीय गौरव की चूड़ामणि हैं। नालन्द-विक्रमशिलावलभी आदि ज्ञानपीठ साहित्य के लिए शक्ति प्रस्तुत करेंगे।

आडम्बर और अनाचार

इसी काल के अन्त में भोज ने साहित्य और शास्त्र दोनों को अपनाया था। अपने लड़ाके जीवन के बीच वह साहित्यिकों और विद्या-प्रसार के निमित्त भी समय निकाल लेता था यह कम आश्चर्यजनक नहीं है, परन्तु जब उसका शत्रु अन्हिलवाड़ कान्तपति अपनी राजधानी से निकल मुसलमान आक्रमक महमूद से लोहा ले रहा था, तब उसकी राजधानी को लूट लेना उसके गौरव में निश्चय चार काले तारे टाँक देगा।

दक्षिण के सातवाहनों के युग से पाण्ड्यों-चोलों चालुक्यों के युग तक जो साम्राज्य-लिप्सा की भावना जगी रही और दक्षिण में जो उत्तरी भारत की देखा-देखी दिग्विजय के आडम्बर होते रहे, रक्त से पृथ्वी सिंचती रही—वह आह्लाद का विषय नहीं हो सकता, कभी नहीं। हाँ, तामिलों का साहित्य-निर्माण

निस्सन्देह स्तुति का विषय होगा, यद्यपि सामन्तवादी नीति का ही उसमें भी अधिकाधिक समावेश है।

उत्तरी भारत में पालों के शासन-काल में बौद्ध सम्प्रदायों ने घृणित व्यवस्थाएँ कीं। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और वैष्णव तथा शाक्त प्रक्रियाओं के योग से उड़ीसा से कामरूप और कामरूप से काशी-विन्ध्याचल तक का क्षेत्र यौन-साधकों की क्रीड़ा-भूमि बन गया और सदियों तक बना रहा। सिद्धां का आडम्बर, औघड़ों का सामाजिक आचार, कापालिकों का अश्लील नर्तन—सभी इस भारतीय आकाश के काले मेघ थे। भारतीय सांप्रदायिक नीचता और पतन की यह पराकाष्ठा थी। अतीत के गौरव पर यह अनीति का अट्टहास था। साहित्यिक इस परंपरा पर अपनी लेखनी से आग उगलेगा।

मुसलमानों के हमले

मुसलमानों के हमले इस बदले हुए युग में भारत को क्षत-विक्षत करते रहे। भारतीयों ने जब तक संघ बनाकर उनसे मोरचे लिए, मगर अव्यवस्थित और दुर्व्यवस्थित सामाजिक नीति के कारण वे सफल न हो सके। जयपाल और आनन्द-पाल, पृथ्वीराज और जयचन्द, साँगा और प्रताप, अपनी ही दुर्बलताओं से विनष्ट हो गए? पाल और प्रतीहार, राष्ट्रकूट और चालुक्य, चौहान और गहडवाल, चन्देल और कछवाहे आपस में जूझते रहे, घरेलू झगड़ों का सम्हाल बाहरी शत्रु के आक्रमण के समय होती रही, पुराने प्रतिशोध देशी मित्र के विदेशी संकट के समय लिए जाने लगे।

पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध प्रयास सराहनीय है, परन्तु युद्ध की भगदड़ में स्वयं भागकर जीत को हार में

बदल देना कैसे स्तुत्य हो सकता है? भागते हुए पृथ्वीराज का सरस्वती के पावन तट पर पकड़ा जाकर मारा जाना हमारे विषाद का कारण है, इसी प्रकार अस्सी वर्ष के जयचन्द का मुट्ठी-भर सेना के साथ चन्दावर के मैदान में गोरी के विरुद्ध जूझ जाना हमारे मस्तक पर गौरव का टीका लगाता है। उसका प्रयास-हमारे साहित्यिकों को बल प्रदान करेगा। उसी काल बख्त्यार ने जो नितान्त छोटी सेना के साथ पूर्वी संयुक्तप्रान्त सारे विहार और बंगाल को रौंद डाला, यह दुनियाँ में किसी देश की निष्क्रियता में अपना सानी नहीं रखता।

साँगा का इब्राहिम लोधी और गुजरात के मुसलानों को हराना और बाबर के विरुद्ध फतहपुर सीकरी में वीरता के झंडे गाड़ना गौरव के विषय हैं, परन्तु उसी का बाबर को बुलाकर दिल्ली की गद्दी सौंप देना और स्वयं तटस्थ हो जाना वह जघन्य पाप था जिसका प्रायश्चित्त उसे देश को हारकर और स्वयं अपना नाश करके करना पड़ा। हल्दीघाटी सीकरी की ही भाँति हमारी जीत से भी उज्वल हार की प्रतीक है, परन्तु हमारे साहित्यिक महाराणा की इतनी नहीं, जितनी उन वीरों की वन्दना करेंगे—उन राजपूतों और भीलों की जिन्होंने हल्दी-घाटी को 'हल्दीघाटी' बनाया और हमारे माथे पर यश का तिलक लगाया, जिनकी वीरगाथा किसी चारण ने नहीं गायी!

महाराणा की मृत्यु के बाद उनके महलों में फिर सुरा के दौर चलने लगे। परन्तु जीवन का चरम नाश होने पर भी 'जौहर'—स्वातंत्र्य प्रेम और साहस का आदर्श है—सिकन्दर के आक्रमण के समय कठों ने इसका आरंभ किया था, राजपूतों ने इसकी पराकाष्ठा की।

प्राचीन साहित्य-काव्य अतीत का उद्घाटन करते हैं। अपने ज्ञान और शक्ति, जीवन और टेक्नीक के निखार के लिए आधुनिक साहित्यकार को बार-बार उस ओर देखना होगा। तुलसीदास की अमर रचना, यदि रूढ़ि के प्रतिकार के लिए नहीं तो कम-से-कम उसकी जन कल्याण की भावना के लिए, उसे देखनी ही पड़ेगी और इससे उसकी मंजिलें आसानी से तै होंगी।

प्रगतिशील साहित्य की पृष्ठभूमि

परन्तु आधुनिक साहित्यकार की पृष्ठभूमि कोरा अतीत ही न होगा। जीवन, जो उसका है और जिसमें स्वयं वह साँस लेता है, उसकी आराधना का पहला केन्द्र होगा। वह अपने चारों ओर देखेगा और 'फौरी' आवश्यकताओं की ओर अपने राष्ट्र की दृष्टि आकर्षित करेगा। उसके इर्द-गिर्द का जनसंभार उसके मनन और अंकन का आधार होगा। सन् सत्तावन का गदर, जालियाँवाला बाग, असहयोग आन्दोलन, सन् ४२ का विप्लव उसकी लेखनी की मर्यादा होंगे और बंगाल का अकाल, देश के बँटवारे का अभिशाप, साम्प्रदायिक रक्त-ताण्डव उसकी रोषाग्नि की आहुति बनेंगे।

यह है हमारे प्रगतिशील साहित्यक की योजना की पृष्ठ-भूमि। अतीत को वह सोचेगा, उसकी शक्ति और गौरव को वह धारण करेगा, उसकी विफलताओं-स्वार्थों पर वह आग उगलेगा, उसकी दुर्बलताओं की याद कर अपने नव निर्माण में उसकी खामियों को वह न आने देगा। पर वह बार-बार गुप्त-युग के उस महान प्रतिनिधि कवि की लाइन 'पुराणमित्येव न साधु सव' का परायण करेगा और उसके 'न''नवमित्यवद्यम्'

को वह गाँठ बाँधेगा। भवभूति के 'उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समान धर्मा, कालोऽयनिरवधिविपुला च पृथ्वी' ❀ वाले आशावादी निर्घोष उसके उत्साह के अधार होंगे।

संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन

सभ्यता सामाजिक विकास की एक मंजिल है, वह मंजिल जब मनुष्य अपनी बर्बरता छोड़, एकाकी पाशविक बनैलापन छोड़, सचेत ग्राम-जीवन बिताने लगा था, जब उसने आग का प्रयोग सीखा और अपना आहार रांधकर खाने लगा, जब उसने कृषि का आरंभ किया और वह जाना कि गोल पहिया ही चिपटी जमीन पर घूम-दौड़ सकता है, संक्षेप में जब वह दल अथवा सभा में बैठ सकने की तमीज रखने लगा।

संस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो सभ्य मानव में हो भी सकती है नहीं भी हो सकती। यह एक प्रकार का संस्कार है, मानसिक निखार, और यह संस्कार व्यक्तिगत भी हो सकता है, सामूहिक भी। यहां हमारा उद्देश्य सामूहिक संस्कृति पर विचार करना है। मनुष्यों का सचेत समुदाय समाज का निर्माण करता है, समुदाय समाज का पंजर है, सामूहिक चेतना उसका प्राण। जब सामाजिक मान्याताएं किसी समूह-विरोध की अपनी और अन्य

❀ अपने आलोचकों की टीका-टिप्पणियों और आक्रमणों—जिनकी संख्या बढ़ती ही जा रही थी—का उत्तर देते हुए भवभूति ने दृढ़ता और पूरे विश्वास के साथ कहा था—'मेरे समानधर्मी कभी उत्पन्न होंगे और मेरी रचनाओं के रहस्य को समझेंगे, क्योंकि काल सीमाहीन है और पृथ्वी का विस्तार विपुल है।'

समूहों से भिन्न हो जाती हैं, जब इन उचित-अनुचित मान्यातात्रों के अर्थ वह समूह त्याग और बलिदान करने पर तत्पर और आतुर हो जाता है, जब वह समूह अपने अतीत और इतिहास को अन्यों से भिन्न मान उसमें अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित यश पर गर्व करता है और स्वयं अपनी भावी महत्वाकांक्षाओं के पाये उस पर रखता है तब उसकी सामाजिक संज्ञा 'राष्ट्र' अथवा 'नेशन' होती है। सुदूर के समान पूर्वज की सन्तति होने का विश्वास, समान धर्म, समान अंधविश्वास, समान त्रास और समान उल्लास, समान प्रयास और समान पार्थिव आवास की सीमाएँ इस समूह-विशेष अथवा राष्ट्र को आन्तरिक घनता प्रदान करती है। ऋग्वैदिक मंत्र 'सगच्छाध्वं संचो मनांसि जानताम्' १६।१६१।२ में इसी सम्मिलित प्रयास, सम्मिलित संलाप-विलाप, सम्मिलित नाद, सम्मिलित मानसिक चेष्टाओं-वांछनाओं की ओर संकेत है। इसी प्रकार—समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रत सह चित्तमेषाम्। सामानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः, समानमस्तु वो मनो पथा वः सुसहासति। (ऋग्वेद, १०, १६१, ३ और आगे) आदि में भी उसी संयुक्त प्रयास, सम्मिलित विश्वास और सामूहिक संधान की प्रेरणा की ओर निर्देश है। संस्कृति इसी समुदाय-विशेष का अधिकृत, आहृत, आदत्त, व्यवहृत रूप है। राष्ट्र अथवा यह समुदाय जिन पूर्वकालिक प्रयत्नों, चेष्टाओं, कीर्तियों भावनाओं, हर्ष-विशादों, विजय-पराजयों, आचार-विचारों, वेश-भूषाओं, साहित्य-कलाओं, नृत्य-गाथाओं, विचित्रताओं आदि को अपनी, केवल अपनी, कहकर घोषित करता है वे ही उसे आकृति देते हैं, उसका कायिक निर्माण करते और उसे रूप रेखा प्रदान करते हैं। इन्हीं विशेषताओं से राष्ट्र अथवा

नेशन पहचाना जाता और अन्य मानव दलों से पृथक् किया जाता है। इन्हीं अवयवों से उसका व्यक्तित्व बनता है।

इस सिद्धान्त और 'प्रतिज्ञा' के अनुसार सांस्कृति अहमत्व और अपनापा ही संस्कृति- विशेष का प्राण है परन्तु यही उस पर गहरा व्यंग भी है। व्यंग, अथवा सत्यतः, मिथ्या धारणा। वस्तुतः किसी सामाजिक दल अथवा राष्ट्र की अपनीयता जैसी कोई वस्तु न कभी रही है, न रह सकती है। निस्सन्देह समय-समय पर अवस्था विशेष में, सचेत मानव समूह ने प्रयत्नतः अथवा अज्ञानतः अपनी क्रियाओं-धारणाओं में विशेषता विकसित की हैं, परन्तु समाज-चेतना अथवा सामाजिक व्यव-हार ने स्वयं उनको चिरकाल तक उस दल-विशेष की नहीं रहने दिया है। शीघ्र ही उनको अन्य दलों ने स्वायत्त कर लिया और स्वायत्त करके कालान्तर में उन्हें न केवल वे अपना बनाने लगे हैं वरन् उनपर मरने-मिटने भी लगे हैं। स्वयं 'सामाजिक'—सामूहिक—व्यवहार की समष्टि में वह व्यष्टि निहित है जिसकी अभिसृष्टि में एक तात्विक विरोध है। जिस सामाजिक चेतना के फलस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति का पारस्परिक व्यवहार दल अथवा सज-समाज की सृष्टि करता है वही दल-दल समाज-समाज में भी एक अस्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करता है। सामाजिक व्यवहार सम्बन्ध पर निर्भर है, और इस व्यवहार का बाह्य रूप आदान-प्रदान है, व्यक्ति-व्यक्ति में, दल-दल में, समाज-समाज में। जातियों का संक्रमण, पारस्परिक सम्बन्ध, निकटावास, अन्तः संघर्ष, व्यापारिक विनिमय इन आदान-प्रदानों के आधार हैं। इनकी अनिवार्य अवर्ज्य स्थिति के कारण यह संभव नहीं कि समाज-विशेष अथवा राष्ट्र विरोध की सामान्य-विचित्रता अपनी बनी रह सके। जाने-अनजाने वह औरों की हो ही

जाती है, राष्ट्र का संकोच, उसकी व्यावहारिक रूढ़िवादिता, उसे औरों की होने से नहीं रोक सकती, नहीं रोक सकी है। सांस्कृतिक प्रजनन और प्रसार का यही स्वाभाविक-प्राकृतिक नियम है, यही उसका अनिवार्य विधान है, यही उसका सूक्ष्म-रहस्य है।

परिणामत' उस निष्कर्ष का अर्थ यह है कि जिस चिचित्रता या विशेषता को समाज-विशेष अथवा राष्ट्र-विशेष अन्यों से भिन्न अपना कहता है वह सम्भवत: उसका नहीं औरों का है, जिसे वह औरों का और विजातीय कहता है वह संभवतः उसका है, केवल उसी का, औरों का नहीं। संस्कृति तत्वत: एक की नहीं अनेक की है, उसकी अभिसृष्टि बहुमौखिक और मिश्रित है। वह एक अविशेषित (मैं जान-बूझकर इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूं) परम्परा है जिसका निर्माण मनुष्य अपने सामाजिक विकास के क्रम में अपने व्यवहारिक जीवन में अनायास करता जाता है। जैसे बच्चा अपने पारिवारिक वातावरण में अपने आप सीखता है, वैसे ही समाज-विशेष अपने समाज-परिवारों के व्यवहारिक वातावरण में अपने आप सीखता है। इससे राष्ट्र-विशेष अथवा समाज-विशेष की संस्कृति-विशेष की कल्पना शायद खरी समीक्षा से अवैज्ञानिक सिद्ध होगी। वस्तुतः संस्कृति एकदेशीय नहीं, अन्तर्देशीय, अन्तर्जातीय, अर्न्तसामाजिक है। स्कृतियों के स्वावलम्बन का कोई अर्थ नहीं होता, उनके अन्तरावलम्बन मात्र की वैज्ञानिकता सिद्ध है, ग्राह्य है।

देश-विशेष की सीमा पर समन्वित समाज-विशेष के सुदूर क्षितिज पर अन्य जाति अपने संक्रमण-काल में मँडराने लगती है, भूमि पर जल थाहने की भाँति सम्हाल-सम्हाल, टोह-टोह

कर जब वह आगे बढ़ती है उसका आकार स्पष्ट होने लगता है। देश। राष्ट्र अथवा जाति में उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है। दोनों के समीप आते ही संघर्ष छिड़ जाता है, दोनों एक काल तक सतर्क हो घृणा और अविश्वास से एक दूसरे के आचार-व्यवहार, संगठन-संस्था को देखते हैं, एक दूसरे की मान्यताओं की उपेक्षा करते उनका उपहास करते हैं। परन्तु संघर्ष के बाद एक प्रकार का समन्वय होता है जिसके फलस्वरूप एक के आचार-व्यवहार, संगठन-संस्थाएँ दूसरे की हो जाती हैं। यह इस सामाजिक समन्वय की व्यंगात्मक वास्तविकता है। हमले होते हैं, संघर्ष होते हैं, जातियाँ घुलमिल कर एक हो जाती हैं, संस्कृतियाँ समन्वित हो जाती हैं, फिर हमले होते हैं, फिर वही क्रम चलता है, वही सांस्कृतिक समन्वय होता है। यह चिर-कालिक नित्य-सत्य है। कालान्तर में, क्रमिक युगान्तों में जब-जब समाज-विशेष अपने पिछले आँकड़े सहेजेगा, (स्टाक-टेकिंग करेगा) तब-तब वह पायेगा कि उसकी अनेक प्राचीन मान्यताएं अब मान्यताएं नहीं रहीं, घृणाओं में बदल गयीं, घृणाएं मान्यताएं हो गयी हैं, प्राचीन रूढ़ियाँ खो गयी हैं, विश्वास की नई कोपलें फूट निकली हैं। फिर आँकड़े सहेजिए फिर वही बात, फिर वही और फिर वही। अतः संस्कृतियों का स्वावलम्बन नहीं अन्तरावलम्बन है।

इस सिद्धान्त के निरूपण के अर्थ अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, वस्तुतः वे एक समूचे ग्रन्थ की सामग्री प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हम कुछ एक केवल कुछ एक के उदाहरण पेश करेंगे। संस्कृति में वेश-भूषा, कला, साहित्यादि का विशिष्ट स्थान होता है, इससे पहले हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

प्राचीन से प्राचीन काल में भी भारतवर्ष में वसन के क्षेत्र

में केवल दो वस्त्र—धोती और शाल या चादर—प्रयुक्त होते थे। आर्यों के आने के बाद 'उष्णीष' (पगड़ी) 'द्रापी' (एक प्रकार की बंडी) और नारियों के लिए एक प्रकार के कंचुक का प्रचलन हुआ। इनमें द्रापी आर्यों के मध्य-एशिया से सम्पर्क का परिणाम था। प्राचीन हिन्दू-काल में भी प्रायः उष्णीष (जब तब), उत्तरीय (चादर) और अधोवस्त्र (धोती) का ही प्रयोग रहा। इनको बिना सिले ही प्रयोग में लाया जाता था, इसी कारण एक-आध सूत्रकारों ने तो सूई से सिले वस्त्रों का व्यवहार वर्जित ही कर दिया, यद्यपि वैदिक साहित्य में सूई और उससे सिले वस्त्रों का हवाला मिलता है। कम से कम द्रापी को तो बिना सिले प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। परन्तु पश्चातकालीन वह सारी भारतीय वेश-भूषा जो आज राष्ट्रीय कही जाने लगी है, वास्तव में अभारतीय है और भारतीय इतिहास के विविध आक्रमकों की देन है। अचकन, जिसे मुगलों, विशेषकर लखनऊ के नवाबों ने परिष्कृत कर प्रायः आज का रूप दिया, वास्तव में प्रथम शती ईस्वी में कुषाणों ने भारत में चलाया था। कुषाण-कालीन कुषाण-सैनिकों के वेश से यह स्पष्ट है। मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित स्वयं कुषाण-नरेश कनिष्क की मूर्ति के वसन से यह प्रमाणित है। यही अंगरखा या अचकन मध्य-एशियाई 'चोगा' है जो रोमन 'होगा' का भाषा तथा आकार में रूपान्तर है। भारतीय कुर्ता उस हिन्दू-ग्रीक सम्पर्क का फल है जो ग्रीक विजेताओं ने अपने प्रायः दो सदियों के शासन में भारत को दिया था। ग्रीक कुरने को 'ट्यूनिक' कहते थे। दोनों की आकृति में अन्तर नहीं के बराबर था। 'कुरता' शब्द की व्युत्पत्ति करनी आज असम्भव है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका सम्बन्ध किसी विदेशी

भाषा से है, और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश किसी से इसकी अभिसृष्टि नहीं स्थापित की जा सकती। पाजामा भी, जिसका आधुनिक रूप मुसलमानों ने भारत में सँवारा, उन्हीं कुषाणों की देन है। इसका पुराना रूप कुछ सुथना कुछ सलवार का मिला-जुला है। पगड़ी का कोई न कोई रूप सारे मध्य एशिया में प्रचलित रहा, आर्य उसके एक रूप को भारत में ले आये। ईरानियों के अपनी पगड़ी उतार और उसका फेंटा गले में डाल अपने विजयी की अभ्यर्थना करने की बात कालिदास ने भी कही है। वर्तमान गाँधी-टोपी कुछ तो मध्यकालीन पुर्तगालियों की टोपियों के अनुरूप बनी है। पर विशेषकर उन प्राचीन मिस्रियों और खत्रियों की टोपियों के नमूने पर जिन्होंने कभी भारत के पश्चिमी तट से व्यापार किया था। निश्चित है कि भारतीय आभूषण-क्षेत्र में नारियों की नथ और कान की ऊपर की बालियों का प्रवेश मुसलमानों ने कराया। न तो संस्कृत भाषा में इनके लिए कोई शब्द है और न मूर्तिशिल्प मूर्तियों में इनका कहीं व्यवहार हुआ है। वस्तुतः इनका सम्बन्ध अरबी के 'नाकिल' शब्द से है जिससे हिन्दी या उर्दू 'नकेल' बनता है! नकेल वह रस्सी है जिससे मनुष्य अपने पशु की नाक नथ कर उसे ले चलता है। यह मानव प्रभुता का प्रतीक है। पुरुष ने नारी को भी सम्भवतः अपनी इसी प्रभुता के प्रमाण स्वरूप इसे पहना रखा है। आज यह विदेशी नथ हिन्दू वैवाहिक जीवन में अनेक स्थानों में सुहाग का चिह्न है।

आश्चर्य की बात है कि रोटी के लिए कोई भारतीय शब्द हमारे पास नहीं है। रोटी शब्द न संस्कृत है, न प्राकृत, न अपभ्रंश, और न इनसे बना कोई तद्भव ही है। इसी रूप में यह शब्द भारत की सारी प्रान्तीय भाषाओं—हिन्दी, उर्दू,

पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, पहाड़ी, सिन्धी, उड़िया, बंगाली आसामी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तामिल, तेलगू, मलयालम, आदि में व्यवहृत होता है। निस्सन्देह मुस्लिम शासन के युग में कभी इस प्रकार की रोटी खानी भारत ने सीखी जैसी तवे पर बनाई जाती है। तवे के लिए भी कोई भारतीय शब्द नहीं है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने घरेलू शब्द जिनका नित्यप्रति घर की चहारदीवारी में व्यवहार होता है और जिनका करोड़ों भारतीय दिन में अनेक बार उच्चारण करते हैं भारतीय नहीं हैं, विदेशी हैं। संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन का यह एक अद्भुत प्रमाण है। चौके का पावन क्षेत्र भी इन विदेशी शब्दों का वर्जन न कर सका।

भारत के ज्योतिष, ललितकलाओं आदि पर विदेशी प्रभाव अत्यन्त गहरा पड़ा है, इसे अनेक ईमानदार विद्वान् स्वीकार करते हैं। गणित का वह आश्चर्य-ग्रहण-संभवतः बाबुली है। वैदिक साहित्य में उस रहस्य का पहला जानकार अत्रि कहा गया है। सम्भव है वही उसका शोध करता रहा हो और भारत से ही यह गणित-विद्या बाहर पहुँची हो। गणित में भारतीय चरमसीमा पर पहुँच गये थे और उन्होंने उसे दूर दूर के देशों को सिखाया था, यह साधारणतया मान्य है यद्यपि उसका विकास इस स्तर तक इतने प्राचीनकाल में हो गया था यह मानने में अनेक लोगों को आपत्ति हो सकती है, जब हम यह देखते हैं कि तीसरी शती ई० पूर्व तक अभी दहाई का व्यवहार सम्भवतः अज्ञान था। अशोक के एक शिलालेख में २५६ इस प्रकार लिखा मिलता है—२०० ५० ६। इसके विरुद्ध बाबुल में फलित ज्योतिष का प्रचार और प्रभाव अत्यधिक था। कम से कम तात्कालिक सभ्यताओं में कोई ऐसी न थी जहाँ

फलित ज्योतिष का इतना व्यवहार था और जो बाबुल को इस विकास का ऋणी न था। ऐसे देश को गणित ज्योतिष का भी कुछ प्रारम्भिक श्रेय देना अयुक्तियुक्त नहीं जब ग्रहण की व्यवस्था वहाँ भी पुरानी है, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि फलित और गणित ज्योतिष के पाए भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। फिर भी इनकी समता और पारस्परिक सन्निकटता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

बाख्त्री-ग्रीक राजाओं ने भी भारत में दूसरी सदी ईस्वी पूर्व से पहली सदी ईस्वी पूर्व तक प्रायः दो सदियों तक राज्य किया। और उन्होंने ज्योतिष, कला, साहित्य, दर्शन सबको प्रभावित किया। उनका राशि-चक्र आज भारतीय ज्योतिषी सर्वथा अपना कह कर स्वीकार करते हैं। भारतीय ज्योतिष का 'होडाचक्र' ग्रीक 'हारस्कोप' (अंग्रेजी Hour 'आवर' ग्रीक पूर्व-पर्याय से बना है) का रूपान्तर है। करोड़ों भारतीय जन्म-पत्र के अन्धविश्वास के शिकार हैं, उसकी रचना और फल-गणना नित्य की वस्तु है परन्तु उसका आधार अभारतीय है, इसे मानने में विद्वान् तो कम से कम संकोच नहीं करता। प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने 'पौलिश' और 'रोमक' दो ज्योतिष-सिद्धान्तों को स्पष्टतया अभारतीय कह कर अंगीकार किया और प्राचीन आदर्शों के प्रतिनिधि-पोषक तथा संस्कृत साहित्य के सबसे समर्थ कवि कालिदास ने अपने इष्टदेवी उमा का शिव से विवाह 'जामित्र' लग्न में कराया है (देखिए कुमारसंभव, सातवाँ सर्ग) यह जामित्र शब्द निस्सन्देह ग्रीकों का 'डायामेट्रान्' (Diametron) है।

इसी प्रकार भारतीय कला का भी शुद्ध निखार ग्रीक प्रभाव का परिणाम है। मोहेन जो-देड़ो की सैंधव सभ्यता निश्चय

मिश्रण तथा विजेताओं के परिवर्तन से सिक्कों के क्षेत्र में अद्भुत और समान परिवर्तन होता गया है। कई बार तो ऐसा जान पड़ता है कि कुछ-कुछ अन्तर पर संसार के सारे देशों के सिक्के समान रूप रखते हैं, आकार में, वजन में, ढलाव में, अभिलेख में, उनपर मुद्रित आकृतियों में। प्रमाणतः यह संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन का परिणाम है।

इसी प्रकार भारतीय ड्रामा (नाटक) पर भी ग्रीक प्रभाव पड़ा। सम्भव भी न था कि ऐसा न हो, जब भारत में यूथिदेमिया और दत्रामित्रिय जैसे ग्रीक-नगर थे, शाकल तथा पत्तलीनी में ग्रीक नागरिकों के प्रशस्त मुहल्ले थे। भारतीय रंगमंच पर सम्भवतः ड्राप अथवा पर्दे का अभाव ही था। इस ग्रीक संपर्क से ही शायद यहाँ इसका व्यवहार हुआ। इसी से ड्राप-पर्दे को 'यवनिका' कहते भी हैं जो उसका ग्रीक मूल उद्घोषित करता है। यवन तब ग्रीकों को कहते थे; आयोनिया की गणना तब ग्रीक देशों में ही थी।

धर्म के क्षेत्र में तो और भी अधिक समानताएँ दिखाई जा सकती हैं। समान देवता समान रूपसे संसार में पूजे गये हैं। 'टोटेमिज़म' देश विशेष की पद्धति कभी नहीं रही। प्रायः प्रत्येक देश के प्राचीन निवासियों ने अपने अंगों को विविध प्रकार से चित्रित किया, पशुओं-वृक्षों अथवा पर्वतों नदियों निर्झरों की पूजा (पेगनिज्म) साधारणतया प्रत्येक धर्म का आधार रही है। सारे मध्य-एशिया में, सम्भवतः दक्षिणी यूरोप के देशों में भी, पूर्व में सिन्धु तक कभी मातृ-देवी की पूजा किसी न किसी रूप में होती थी। प्रकृति के देवताओं को भी आर्यों की ही भाँति अन्य जातियों ने भी पूजा हैं। पश्चिमी एशिया के खत्ती और मितनियों तक ने। भारत में विष्णु

अथवा आकाश के प्रकृत सूर्य की पूजा तो निस्सन्देह आर्यों ने प्रचलित की, परन्तु उसे मूर्ति बनाकर शकों और कुषाणों ने ही यहाँ पूजा। कुषाण-कालीन सूर्य की मूर्तियों (उस युग से पूर्व की सूर्य प्रतिमाएँ भारत में नहीं मिलतीं) का पहनावा मध्य-एशियाई है—चोगा, सलवार, ऊँचे घुटनों तक जूते, बगल में कटार। स्पष्ट है कि भारत में सूर्य की मूर्ति रूप में पूजा शकों ने चलाई और जब यहाँ के ब्राह्मण उसकी पूजा न करा सके तो शक-पुरोहितों को भारत में बुलाना पड़ा। पुराणों के अनुसार कृष्णवंशीय शांब ने सूर्य का पहिला मन्दिर बनवाया और सिन्धु देश में। सिन्धु देश अब का सिंध है जिसकी प्राचीनकालिक संज्ञा 'शिकद्वीप' थी और भारत में प्रविष्ट होने पर शकों का पहला औपनिवेशिक आधार बना। आसुरी महाकाव्य 'गिल्गेमिश' का जलप्लावन हिब्रू के ओल्ड टेस्टामेन्ट और मनुस्मृति में समान रूप से वर्णित है। मनु जीवों के जोड़ों को उसी तत्परता से बचाते हैं जिससे नूह अपनी नाव में और भारतीय मनु-सन्तान उस जल-प्रलय को भारतीय अनुवृत्त समझती है जब कि डाक्टर लियोनार्ड वूली ने प्राचीन असीरी और बाबूली भूमि को उलट कर उस जल-प्रलय का वास्तविक स्थल वहाँ था यह प्रमाणित कर दिया है। आसुरी गिल्गेमिश में असुर सूखे-अकाल के दैत्य नियामत-अप्सू को बज्र मार कर उनको जल-मुक्त करने को बाध्य करता है, ऋग्वेद में इसी प्रकार इन्द्र सूखे के दैत्य वृत्र को मार कर जल को मुक्त करता है। इन्द्र का विरुद वहाँ 'असुर' है और अप्सू की ही भाँति वृत्र भी गुञ्जलक भरने वाला सर्प है।

अनेक देशों का मातृसत्ताक अवस्था से पितृसत्ताक में परिवर्तन भी उसी सांस्कृतिक एकता को स्थापित करता है।

(७) ययाति के श्वशुर शुक्र-उशनस् ने अपनी 'पितृ-कन्या' गा को व्याहा।

(८) देवयानी की अग्रजा देवी ने वरुण को व्याहा जो शुक्र-उशनस् का दूसरा वंशज होने के नाते देवी का सगा, सौतेला या चचेरा भाई रहा होगा।

(९) अंगिरस कुलीय भरत ने अपनी तीनों भगिनियों को व्याहा।

(१०) सम्हताश्व की कन्या हैमवती-दृषद्वती ने अपने पिता के दोनों पुत्रों, कृषाश्व और अक्षयाश्व, से विवाह किया।

(११) मान्धातृ-पुत्र पुरु कुत्स ने अपनी 'पितृकन्या' नर्मदा को व्याहा।

(१२) सगर के पौत्र अंशुमत् ने अपनी 'पितृ-कन्या' यशोदा को व्याहा।

(१३) दशरथ की रानी कौशल्या अपने पति की। पितृकुलीया, सम्भवतः चचेरी बहिन थी।

(१४) 'दशरथ-जातक' से ज्ञात होता है कि राम और सीता भाई-बहिन थे। क्या 'जनक-दुहिता' का अर्थ 'पितृ-कन्या' हो सकता है?

इसी काल में सम्भवतः यह 'पितृ-कन्या' विवाह की परिपाटी बन्द हो गयी। राम ऋग्वैदिक व्यक्ति थे और यम-यमी के संवाद से जान पड़ता है कि तभी से भ्राता-भगिनी-विवाह बुरा माना जानें लगा। इस युग में भारतीय आर्य आचार के नये विधान बनाने लग गए थे। जान पड़ता है ऋग्वैदिक समाज ने अब इस प्रथा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया क्योंकि राम के बाद प्रायः २७ पीढ़ियों तक पौराणिक अनुवृत्तों में एक भी पितृ-कन्या-विवाह का उदाहरण नहीं मिलता। परन्तु यह पर-

म्परा फिर भी मर न सकी और महाभारत-काल में एक बार फिर जी उठी।

(१५) कृष्ण-द्वैपायन-व्यास के पुत्र शुक ने अपनी पितृ-कन्या पीवरी को व्याहा।

(१६) पाँचालों के राजा द्रुपद ने भी अपनी भगिनी को व्याहा।

(१७) सत्राजित ने अपना दस बहिनों के साथ विवाह किया।

(१८) सात्वत ने सात्वती को व्याहा जो उसकी भगिनी जान पड़ती है।

(१९) शृंजय के पुत्र ने शृंजय की दो कन्याओं के साथ व्याह किया।

(२०) सात्वत के प्रपितामह ने एक ऐक्ष्वाकी (अपने ही कुल की) को व्याहा।

(२१) इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ने एक अन्य ऐक्ष्वाकी (कौशल्या) को व्याहा।

इस काल के बाद पौराणिक अनुवृत्त में फिर इस प्रकार के वर्णन नहीं आते। सम्भव है कुछ अंशों और क्षेत्रों में इस परम्परा का सुधार हो गया हो परन्तु प्रमाणतः उसका उच्छेद नहीं हो सका। बौद्ध अनु ुतियों में अनेक उदाहरण इस निष्कर्ष को पुष्ट करते हैं। दशरथ-जातक में आये राम-सीता के सम्बन्ध का कि पिता के धन में भाग पाकर कन्या पैतृक सम्पत्ति का विभाजन न करा दे, मिस्र और उसकी देखादेखी अरब में 'सेमेटिक' जाति के लोग उसे अपने भाइयों से ही व्याहने लगे। अरबों ने तो अपनी कन्याओं को कुछ काल तक जीने भी न दिया। मिस्रियों में यह प्रथा इतनी स्वभाविक थी कि जब सिकन्दर के सेनापति तालेमो ने मिस्र में अपना राज्य

स्थापित किया तब देशी भावुकता को प्रसन्न करने के लिए उसे अपने ग्रीक-कुल में भी वही भ्राता-भगिनी-विवाह की मिस्री प्रथा स्वीकार करनी पड़ी और सारे तालेमी राजा अपनी भगिनियों से विवाह करते गये। इतिहास विख्यात क्लियोपेट्रा को एक के बाद दूसरे अपने सगे भाइयों से बिवाह करना पड़ा था। अरब में भी इस प्रथा ने जड़ पकड़ी परन्तु महम्मद ने उसमें सुधार किया और समान स्तन-पायी भाई बहनों में विवाह-संस्कार वर्जितकर दिया। आर्यों में, विशेषकर भारतीय आर्यों में कालान्तर में असगोत्र-विवाह की प्रथा जन्मी, पर केवल कालान्तर में। ऋग्वैदिक काल से पूर्व उनमें भी भ्राता-भगिनी विवाह व्यवस्था-सम्मत् माना जाता था। पुराणों के आधार पर इस प्रकार के आर्य-विवाहो के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो कम से कम दो दर्जन हैं। परन्तु यह संख्या जिस छोटे आधार से एकत्रित की गयी है उस अनुपात से अत्यन्त अधिक है जो इस प्रकार के विवाहों की प्रायः स्वाभाविकता स्थापित कर देती है। स्वयं ऋग्वेद के यम-यमी संवाद से इस प्रकार के विवाह की स्वाभाविकता प्रमाणित है और विशेषकर जुड़वें भाई-बहन का परस्पर विवाह तो जैसे सिद्ध प्रश्न था। इतना अवश्य है कि तत्कालीन आर्यों में इस प्रकार के विवाह की नैतिकता में सन्देह किया जाने लगा था क्योंकि यम इस प्राचीन पद्धति में अरुचि प्रदर्शित करता है और उसके अनाचार को धिक्कारता है। फिर भी उस परम्परा का सर्वथा अनस्तित्व न हो सका। आर्य-व्यवस्था को अपनाने की प्रवृत्ति रखनेवाले कृष्ण ने जिस रुक्मिन की भगिनी रुक्मिणी से विवाह किया था उसी की कन्या से उसके पुत्र ने विवाह किया हवाला ऊपर दिया जा चुका है।

(२२) कृष्ण के जरायुज (जुड़वें) भाई ने विपितृ से उत्पन्न अपनी माँ की कन्या को ब्याहा।

(२३) काशी के उदयभद्र ने अपनी सौतेली बहिन उदयभद्रा को ब्याहा।

(२४) बुद्ध ने अपनी माता की भतीजी गोपा से ब्याह किया यह ऊपर कहा जा चुका है।

(२५) कोशलराज प्रसेनजित् के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशल-देवी का ब्याह मगधाधिप बिंबिसार से किया, और उसके पुत्र प्रसेनजित की कन्या वजिरा का ब्याह बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु से हुआ।

ऊपर के उदाहरणों से सिद्ध है कि भ्राता-भगिनी-विवाह प्राग्वैदिक काल से बुद्ध-युग तक बराबर आर्य-आचार की व्यवस्थित और मान्य पद्धति रही है। इसी कारण जब यमी यम को चुनौती देती हुई उसे उस प्राचीन परम्परा की याद दिलाती है—गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेदनावस्य पृथिवी उतद्यौः (ऋ०,१०,१०,५)—तब वह सहम कर झल्ला उठता है और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह परम्परा अभी सर्वथा लुप्त न हो सकी, किसी न किसी रूप में दक्षिण में यह अभी तक विद्यमान है। अतः यह कहना कि आर्यों और सेमेटिक जातियों में विभेदक विशेषता सगोत्र और अगोत्र विवाह है, नितान्त असिद्ध है। इससे एक विशिष्ट बात यह सिद्ध होती है कि सामाजिक पद्धतियों और आचारों पर संस्कृतियों अथवा जातियों का विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे बराबर एक जाति से दूसरी जाति द्वारा सीखे और

बर्ते जाते रहे हैं। इन उदाहरणों के महत्त्वपूर्ण प्रमाण से भी संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन ही प्रमाणित होता है।*

इससे भी कहीं अधिक टिकाऊ और अकाट्य सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन का प्रमाण नीचे दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद और भारतीय सम्मिश्रण के साथ अथर्व वेद सर्वथा आर्य ग्रन्थ माने जाते हैं, परन्तु १६४२ ई० में मुझे कुछ ऐसे प्रम.ण मिले जिनसे यह सिद्ध हो गया कि अनेकांश में अथर्ववेद अनार्य प्रमाणित किया जा सकता है। कम से कम उसमें (और ऋग्वेद में भी) अनेक ऐसे स्थल हैं जो 'अनार्य' हैं और जिनका अर्थ अन्य आर्येतर भाषाओं तथा इतिहासों के अध्ययन से ही लगाया जा सकता है। इनमें से हम केवल कुछ महत्वपूर्व मन्त्रों का प्रमाणतःउदाहरण देंगे। मन्त्र इस प्रकार हैं—

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरयोदकस्य च।
सात्रासाहस्याहं मन्योरवाज्यांमिव धन्वनो विमुञ्चामि रथीं इव॥६॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥
उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिन्कया।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥
ताबुवं न ताबुवं न वेत्त्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥ अथर्व वेद, ५, १३,

सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर अभिनन्दन-ग्रन्थ में श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने लेख Chaldean and India Vedas

---

* सुविस्तृत निर्देश के लिए देखिए मेरा ग्रन्थ (विमेन इन ऋग्वेद, पृ० ११७-१२८—लेखक।)

(खल्दी और भारतीय वेद) में पहले-पहल विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। फिर मैंने श्री वासुदेव शरण अग्रवाल का, जो अलाय-बलाय की व्युत्पत्ति के लिए कुछ दिनों से जागरूक थे, ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उन्हें वह सब सामग्री दी जिसका उपयोग उन्होंने अपने 'अलाय-बलाय' नामक लेख में किया। यह लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सं० १९९९ के कार्तिक-माघवाले अंक पृष्ठ २९९-३०४ पर छपा है।[1]

इन मन्त्रों का अर्थ ब्लूमफील्ड के आधार पर श्री तिलक ने इस प्रकार दिया है—

"जिस प्रकार धनुष से ज्या ढीली की जाती है, अश्वों से रथ विलग किया जाता है, मैं तुम्हें काले-भूरे सर्प **तैमात** और सर्व विजयी **अपोदक** विष से मुक्त करता हूँ ॥ ६ ॥

"**आलिगी** और **विलिगी** पिता और माता, तुम्हारे सारे बन्धुओं को हम जानते हैं। विषविहीन भला तुम क्या कर सकोगे ? ॥ ७ ॥

"करैत (काले) के साथ उत्पन्न है। यह **उरुगूला की दुहिता**—उन सबका विष शक्ति हीन हो गया है जो अपने आश्रय को भाग गये हैं ॥ ८ ॥

"ताबुवं (अथवा) न ताबुवं (हे सर्प) तू ताबुवं नहीं है। ताबुवं द्वारा तेरा विष व्यर्थ कर दिया गया है ॥ १० ॥

१—कुछ दिन हुए श्री रामचन्द्र टण्डन ने मेरा ध्यान इस लेख की ओर आकर्षित किया। मुझे उसमें अपना नाम न देख कुछ आश्चर्य हुआ। विद्वान् लेखक के स्मृति-भ्रम से ही ऐसा हुआ—लेखक

स्वयं तिलक ने **तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगूला** और **ताबुवम्** पर प्रकाश डाला है। इन सबको उन्होंने अवैदिक अक्काद्दी (खल्दी) शब्द माना है। तैमात, उनके विचार से तियामत है, और **ताबुवम्** 'तोबा'। इनमें से **आलिगी, विलिगी** और **उरुगूला** का अर्थ तिलक भी नहीं लगा सके हैं, यद्यपि यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत में नहीं हो सकती, ये अवैदिक हैं और इनका सम्बन्ध भी संभवतः खल्दी आदि भाषाओं से है। यहाँ अस्सीरी पुरातत्व का अनुशीलन करते हुए जो सामग्री मुझे मिली है नीचे उसका उपयोग होगा जिससे यह प्रमाणित हो जायेगा कि ये शब्द अस्सीरी हैं और इनका अर्थ अथर्ववेद का भारतीय मंत्रकार स्वयं नहीं जानता, यद्यपि वह इनका प्रयोग करता है।

परन्तु इनकी व्युत्पत्ति अथवा अर्थ करने के पूर्व इनका नैरुक्तिक इतिहास जान लेना कुछ कम रुचिकर शायद न होगा। **आलिगी, विलिगी, तैमात** आदि का अर्थ करते हुए वैदिक इंडेक्स के ग्रन्थकारों—मैक्डानेल और कीथ—ने **आलिगी** का अर्थ **विलिगी, विलिगी** का **आलिगी** और तैमात का दोनों करके अद्भुत अन्योन्याश्रय न्यास का वितन्वन किया है। ब्लूमफील्ड, ह्विटनी, ग्रिफिथ, आदि ने इन शब्दों का अर्थ तो किया है पर केवल शाब्दिक। उन्हें स्पष्ट करने का उन्होंने निश्चय कोई प्रयत्न नहीं किया। प्रमाणतः रहस्योद्घाटन इनकी शक्ति और तत्सामयिक पुरातात्विक ज्ञान से परे था। इन शब्दों में से **तैमात** का प्रयोग अथर्ववेद के ५, १८, ४ में फिर एक बार हुआ है परन्तु आलिगी, विलगी और उरुगूला फिर कभी प्रयुक्त नहीं हुए। इनका प्रयोग पाश्चात्कालीन साहित्य—**काशिका-सूत्र**

में हुआ है परन्तु इनके मूल का विवेचन वहाँ भी नहीं किया गया है। वहाँ का प्रसंग अवश्य सर्पविष-विमोचन है। मैक्डानेल और कीथ की ही भाँति ग्रिफिथ ने भी **तैमात, अपोदक, आलिगी, विलिगी** और उरुगूला को साँपों की अज्ञात जातियाँ कही हैं। निरुक्त-निघंटु में इनको निरर्थक शब्द कहा गया है। ख़ल्दी खोजों के अनुसार **तियामत** जल का दैत्य है जो ख़ल्दी सृष्टिपरक अनुश्रुतियों में कभी पुरुष कभी नारी माना गया है। **अपोदक,** जो एक प्रकार का स्थल-सर्प है, **तियामत** के साथ साथ ही व्यवहृत हुआ है। तियामत और मारदुक का युद्ध अनेक 'कीली' (क्यूनीफार्म) अभिलेखों का विषय है। तिलक के विचार से उरुगुला का व्युत्पत्तिक अर्थ 'विशाल-नगर' (उरु=नगर, गुल = विशाल) है और भावार्थ **पाताल** है। वेबर ने इस शब्द को प्राकृत **रूख** अथवा संस्कृत **वृक्ष** से बना मान **जंगल** का अर्थ निकाला है। परन्तु प्रमाणतः तिलक और वेबर दोनों गलत हैं। अतः यथास्थान इनका अर्थ करेंगे।

तिलक लिखते हैं—"**आलिगी** और **विलिगी** का मूल मैं स्थापित न कर सका, परन्तु संभवतः ये अक्क़ादी शब्द हैं, क्योंकि एक अस्सीरी देवता का नाम **बिल** और **बिल-गी** है। जो कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि **तैमात** और **उरुगुला,** कुछ अन्तर होते हुए भी वास्तव में अक्कादी अनुश्रुतियों के **तियामत** और **उरुगल** अथवा **उरुगूला** हैं और वैदिकों ने अपने ख़ल्दी पड़ोसियों। अथवा सौदागरों से इनको लिया होगा। (पृष्ठ ३५)

इसी प्रकार तिलक की राय में **ताबुवम्** पोलिनेशियन शब्द ताबू—अवावन—से बना है। स्पष्टतः यह वही शब्द है जिससे अरबी 'तोबा' बनता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है श्री तिलक की **तैमत** और **ताबुवम्** की व्याख्या सही है परन्तु **आलिगी, बिलिगी** तथा **उरुगुला** का अर्थ वे नहीं लगा सके; यद्यपि उनके अभारतीय मूल का उन्होंने सही पता लगा लिया था। यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि वे जीवित होते तो संभवतः इनका अर्थ वे यही करते जो नीचे किया गया है; क्योंकि इनका आधार भी अस्सीरी पुरातात्त्विक खोजें हैं जिनका हवाला उन्होंने अपने लेख में दिया है। ये खोजें वस्तुतः उनकी मृत्यु के पश्चात् की जा सकीं और वे इनका उपयोग न कर सके। डाक्टर लियोनार्ड वूली ने आज से प्रायः पन्द्रह वर्ष पूर्व ही वह पट्टिका निकाल डाली थी जिन पर **आलिगी, बिलिगी, एलूलू, बेलूलू** आदि अभिलिखित थे, परन्तु अस्सीरी विद्वानों को इन अथर्ववेदीय मन्त्रों का ज्ञान न था जिनको ऊपर उद्धृत किया गया है और भारतीय विद्वान किस प्रकार अस्सीरी खोजों के प्रति उदासीन हैं,* यह कहने की आवश्यकता नहीं।

श्री तिलक के उठाये इस प्रसंग पर मैं प्रायः सन् ३५ से विचार कर रहा था कि सन ४० में मुझे डा० वूली की अस्सीरी खुदाइयों से प्रसूत सामग्री का हवाला पढ़ने का सुअवसर मिला। इन्हें पढ़कर मेरी पुरानी धारणा बलवती हो उठी। सन् ३७ में डाक्टर प्राणनाथ का एक लेख—वेद का सुमेरीय मूल'—काशी विश्वविद्यालय की शोध-प्रत्रिका में छपा था, उसे फिर पढ़ा और फिर अस्सीरी खोजों की ओर मुड़ा। धारणा सही निकली, डा० बारनेट ने बृटिश-म्यूजियम की सुमेरो-अस्सीरी विभागों के

---

* डाक्टर प्राणनाथ को छोड़कर—लेखक

गाइड स्वरूप एक पुस्तिका छापी थी। इन्हीं दिनों उसे जो उलट रहा था तो उस पट्टिका पर नजर गई जो प्रायः ३००० ई० पू० के अस्सीरी राजाओं की वंश-तालिका थी, जो ऊर नामक अस्सारी नगर से खोदकर प्राप्त की गई थी और जिसमें **आलिगी और विलिगी** पिता और पुत्र के रूप में अभिलिखित मिल गये बिना एक मात्रा के अन्तर के। इसी पट्टिका पर कुछ नीचे एलूलू-वेलूलू भी राजा के रूप में अभिलिखित मिले। पीछे देखा तो कुछ अन्तर के साथ यही पट्टिका कैंब्रिज-प्राचीन इतिहास के भाग एक में छपी मिली।

अब इन मन्त्रों की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार होगी—उनका प्रयोग ऋषि ने सर्प-दंश झाड़ने के प्रसंग में किया है। इस प्रकार के ओझा-मन्त्रों का कुछ विशेष अर्थ नहीं हुआ करता और अपने जिन असाधारण शब्दों का प्रयोग ओझा कर जाता है वे प्रायः निरर्थक होते हैं और यदि उनका कोई अर्थ होता भी है तो सम्भवतः वे उसे नहीं जानते, यद्यपि किसी अत्यन्त प्राचीन-काल में उनका प्रयोग हुआ था। उदाहरणतः संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी जिलों और बिहार में भूत भगाते समय ओझा जिन मन्त्रों का प्रयोग करते हैं उनमें कुछ है—'अकाइनी-बकाइनि पीपल पर की डाइनि' इनमें पीपल पर की डाइनि तो बोधगम्य हैं परन्तु अकाइनि-बकाइनि सर्वथा नहीं। कम से कम ओझा इनका अर्थ नहीं जानता, अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों के उदाहरण से, परन्तु यह स्पष्टतया दर्शाया जा सकता है कि इनका भी अर्थ है और ये दो जाति के पौधों का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववैदिक ओझा भी जिन आलिगी-विलिगी तैमात-उरुगुला आदि का प्रयोग करता है उनका स्वयं अर्थ तो

नहीं जानता और उनका उपयोग वह केवल अपने सुनने वालों के विस्मय का सृजन कर उनको प्रभावित करने ही के लिए करता है. परन्तु उनका अर्थ है। ऊर की पट्टिका पर अभिलिखित आलिगी, विलिगी अस्सीरी राजाओं के नाम हैं जिन्होंने प्रायः ३००० ई० पू० के लगभग सुविस्तृत प्रान्तों पर राज किया था और प्राचीनता का उद्‌घोष करने वाले अथर्ववैदिक ओझा ने इन शब्दों का उपयोग झाड़ने वाले मंत्रों में इन्हें डालकर किया। यद्यपि दो हजार वर्षों के याद प्रयोग करने वाला अथर्ववैदिक मंत्रकार इनके अर्थ को न समझ सका परन्तु अपना अर्थ उसने निस्संदेह साध लिया।

इसी प्रकार उरुगूला का अर्थ भी कुछ कठिन नहीं। मुझसे भी पहले जब इस शब्द का अर्थ न चला तो मैं भी वेबर की भाँति इसका व्युत्पत्तिक अर्थ करने लगा था। 'एल-इराक़' और तासिर-उल-दीन के वजन पर मैंने पहले उरुगूल को उरुक और उल में तोड़ा, फिर अच् सन्धि के उसूल पर इनसे उरुगूल बनाया। तत्पश्चात् उसे स्त्रीलिंग-रूप दे उरुगूला बनाया और षष्ठी में विकृत कर **उरुगूला = याः** दुहिता पाठ सार्थक किया। और मेरे इस द्राविड़ी प्राणायाम में अनेक अरबी लुग़द और अरबी के विद्वानों की मदद थी। फिर भी स्वतंत्र रूप से मैं एक सही अटकल पर पहुँच गया था कि उरुगुला का संबन्ध उर अथवा उरुसे अवश्य है। उर की खुदाई में आलिगी-विलिगी वाली जो पट्टिका मिली थी उससे यह पकड़ मुझे सिद्ध हो गई थी। परन्तु मैं इस व्युत्पत्ति को केवल एक 'कार्य्योचित-अनुमान' मानता था। डाक्टर प्राणनाथ से चर्चा करने पर मालूम हुआ कि 'गूल' अस्सीरी भाषा में सर्प-विष-भिषज् को कहते हैं। इस अर्थ की पुष्टि फिर बज साहब के कोष ने कर

दी। अर्थ प्रस्तुत हो गया। और द्राविड़ी प्राणायाम से मेरा छुटकारा हुआ। **उरुगूलायाः** दुहिता का अर्थ हुआ—उर नगर के सर्प-विष-विशेषज्ञ की कन्या और इसका प्रयोग उस साँप झाड़ने वाले मंत्र में इसलिए किया गया कि उस विष-शत्रु का नाम सुनकर सर्प अपना विष-दंशित व्यक्ति के व्रण से खींच ले।

इस प्रकार अनेक भिन्न जातियों के सांकेतिक शब्दों और सांस्कृतिक आँकड़ों का प्रयोग अन्यों ने किया है। भला किसे गुमान हो सकता है कि इस प्रकार के वेदपूत मंत्रों में भी अभारतीय म्लेच्छ शब्दों का प्रयोग हुआ होगा! इसी प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक अन्य अंशों से भी इस सांस्कृतिक अंतरावलम्बन का सिद्धांत उदाहृत किया जा सकता है। कुछ स्थलों के शब्दों को लें।

खत्ती और **मितनी** संघर्ष के बाद उनके सन्धिपत्र में (१४००-ई० पू०) ह्यूगो विंक्लर ने जो इन्द्र-वरुण-मित्र-नासत्यों के नाम पढ़े वे ऋग्वैदिक देवता हैं इसमें संदेह नहीं। इसका संकेत हम पहले कर आये हैं। अथर्व वेद १०, ५ में आने वाले **कनक्नकम्** और **ताउदी** शब्द भी संभवतः पोलिनेशियन ही हैं। ऋग्वेद ७।१०४।२३ और अथर्व वेद १।७।१ में **किमीदिन** जाति के प्रेमों का हवाला है। यास्क ने जिस प्रकार ऋग्वेद के **तुफरी, जुर्फरी** आदि के साथ **आलिगी-विलिगी** को निरर्थकाः शब्दाः' कहा है उसी तर्क से इस **किमीदिन** को भी **किमिदानीम्** (अब क्या ?—६,११६) कहकर सार्थक किया है। उनका तात्पर्य यह है कि उस जाति के प्रेम 'अब क्या ? इधर क्या ? उधर क्या ?' कह-कहकर पता लगाते रहते हैं इस-

लिए उन्हें **किमीदिन्** कहा गया है। मेधा की यह अद्भुत् जादू-गरी है? यास्क को यह नहीं ज्ञान था कि **किमीदिन्** खल्दी शब्द है और प्राचीन अकादी में **एकिम्मु** और **दिम्म** प्रेतों के अर्थ में प्रयुक्त होते थे। इन्हीं का संयुक्त प्रयोग सम्भवतः **'किम्म-दिम्म'** है जिससे वैदिक **किमीदिन्** बना है। इसी प्रकार खुदा का प्राचीन खल्दी नाम **जेहोवा**, जिसका उच्चारण **यह्व** होता था, वैदिक **यहु, यह्व, यह्वत्, यह्वी, यह्वती** आदि शब्दों में ध्वनित है। निघण्टु के अनुसार यह्व का अर्थ महान् है। यह्व का 'महान्' अर्थ में प्रयोग **सोम** (ऋग्वेद, ६।७५।१), **अग्नि** (वही, ३, १, २ और १०, ११०, ३) तथा **इन्द्र** के लिए (वही, ८, १३, २५) हुआ है। इसी प्रकार प्रतापी अर्थ में **असुर** शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में वरुण और इन्द्र के लिए किया गया है। अस्सीरी और खल्दी अनुश्रुतियों में **अप्सु-तियामत और मर्दुक** की लड़ाई ऋग्वेदिक वृत्र-इन्द्र का युद्ध है। जिस प्रकार तियामत सर्प है उसी प्रकार वृत्र भी सर्प है, उसके भी अहिपुच्छ है। **अशुर, मर्दुक** और इन्द्र एक ही हैं। अप्सु पुरुष है, तियामत (अथर्ववेद वाला तैमात) उसकी नारी है। इंद्र को **अप्सुजित्, अप्सुक्षित्** कहा गया है। **अप्सु को अप्** की सप्तमी बहुवचन में बनाना यास्क और सायण दोनों द्वारा भाष्य की बिडम्बना है। अप्सु सीधा प्रथमा एक-वचन है, खल्दी-अस्सीरी अनुश्रुतियों का अकाल डालने वाला दैत्य जिस पर अशुर, मर्दुक, इन्द्र सभी अपने-अपने वज्र मार जल का मोक्ष कराते हैं। उसका प्रयोग ऋग्वेद (१, ६०, ६,

१०, ११८, ६, १, १५४, १ आदि) में विस्तृत के अर्थ में हुआ है। श्री तिलक को तो **सिनीवली** भी अभारतीय जान पड़ा है। तुर्फरीतू (ऋग्वेद, १०, १०६, ६) तो निश्चय अभारतीय है, सम्भवतः खल्दी क्योंकि इसका 'इतु' खल्दी में मास का अर्थ रखता है जिसका ऋतु रूपान्तर ऋग्वेद में भी मास और ऋतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बावुली तिथि-क्रम में भी भारतीय मलमास की भाँति 'बीजवपन के तममास' (=मलमास) तेरहवें महीने—का उल्लेख है। **गिल्गेमिश इस्तर की** अनुश्रुतियों के अनुसार सूर्य त्वचारोग से पीड़ित होकर वर्ष में कुछ काल तक अव्यक्त रहता है। ऋग्वैदिक जन-विश्वास से इसकी अद्भुत समता है। वहाँ (ऋ०, ७, १००, ६) भी विष्णु (=सूर्य) **शिपिविष्ट** अर्थात् त्वचा रोग से पीड़ित कहा गया है। **सप्तलोकों** के सम्बन्ध में बावुली और पौराजित तथा वैदिक अनुश्रुतियों में अद्भुत समता है। खल्दी अनुश्रुतियों में **सात स्वर्ग और सात नरक हैं, तियामत के सात मस्तक हैं।** इसी प्रकार इन्द्र (ऋ०, १०, ४६, ८) भी **सप्तबन्ध** है, सात तलों वाला, सिन्धु के प्रच्छन्न तल जिनके द्वार इन्द्र और अग्नि खोलते हैं (ऋ०, ८।४०।५)

इसलिए कि प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य अन्यथा न समझा जाय स्वयं तिलक से प्राचीनतावादी विद्वान् का एक उद्धरण दे देना युक्तियुक्त होगा—"मेरा उद्देश्य केवल वैदिक विद्वानों का ध्यान भारतीय और खल्दी वेदों के तुलनात्मक अध्ययन के महत्व की ओर आकर्षित करना था और यह हमने कुछ ऐसे शब्दों के निरुक्त को प्रस्तुत करके किया है जो दोनों में समा-

नार्थक हैं जो एक तर्फा नहीं, प्रत्युत प्रायः समकालीन आर्यों और तूरानी जातियों का पारस्परिक सांस्कृतिक ऋण प्रमाणित करते हैं।" (भाण्डारकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४२)

परन्तु इसका अर्थ कभी यह नहीं है कि केवल भारतीयों ने ही अपनी सम=सामयिक विदेशी सभ्यताओं से सीखा है उनको स्वयं सिखाया नहीं। जिस प्रकार उन्होंने औरों से पाया है, औरों से लेकर अपनी संस्कृति की काया का निर्माण किया है उसी प्रकार उन्होंने भी दूसरों को दिया है और उनकी देन से भी अन्य संस्कृतियाँ धनी हुई हैं। कुछ लोगों का तो मत है कि बाबुली जन्तर-मन्तर, जादू-ओझाई, प्रलय-सृष्टि, ज्योतिष-तिथिक्रम आदि तद्विषयक भारतीय सिद्धान्तों से ही अनुप्राणित हैं। सत्य चाहे जो हो, चाहे बाबुलियों ने अपने सिद्धान्त भारतीयों से पाए हों, चाहे भारतीयों ने अपने बाबुलियों से, एक बात सिद्ध है कि आदान-प्रदान हुए हैं और फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों की काया बनी है। बिना एक के अस्तित्व के दूसरी नहीं बन सकती थी। बाबुली वस्त्र-तालिका में मलमल का नाम सिन्धु मिलता है जिससे उसका भारतीय ऋण सिद्ध है। यह शब्द अक्कादी (खल्दी) मलमल के अर्थ में केवल इस कारण प्रयुक्त हो सका कि मलमल भारत में सिन्धुनद के तट पर बुनी गई थी। **ओल्ड टेस्टामेन्ट** का **शदीन** शब्द भी इसी अर्थ में इसी भाव से प्रयुक्त हुआ है। **फिनीशियन मनह्** (आभूषण-सायण) ऋग्वेदीय **मना** का रूपान्तर मात्र है जो ऋग्वेद ८, ७८, २ में—**सचा मना हिरण्यया**—मिलता है। इसी प्रकार भारतीय आधारों ने संसार की पिछली सभ्यताओं के धर्म, दर्श, कथा - साहित्यादि को काफी प्रभावित किया है। इसी

प्रकार अंकगणित, बीजगणित, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में भी अनेक सभ्यताएँ भारत की ऋणी हैं।

संस्कृति केवल कुछ काल तक ही एक देशीय रह सकती है, अपने विकास-क्रम के युगांत-सन्धियों के अल्पकाल मात्र में। शीघ्र फिर वह अपने प्रवाह में चल पड़ती है। समष्टि और समन्वय उसके शारीरिक अवयव हैं। शरीर की ही भांति उसके भी सन्धियाँ हैं, अनन्त, जहाँ एकैक संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है परन्तु जैसे नदियों के संगम के पूर्व की पृथक धाराएँ संगम के बाद मिलकर एक हो जाती हैं, संस्कृति भी अनेक सामाजिक धाराओं का सम्मिश्रित प्रवाह है, अविच्छिन्न और स्वाभाविक।

———

नारी की अधोधः प्रगति

भारतीय नारी अनेक सामाजिक स्तरों, ऐतिहासिक युगों और राजनीतिक परिस्थितियों से होकर गुजरी है। आग और पानी उसने समान रूप से लाँघा है। सेवा उसका भाव रहा है, त्याग उसका संबल। उसके इतिहास के युगस्तर मोटे रूप में निम्नलिखित हो सकते हैं—वैदिक, वीरकाव्य-कालीन उपनिषत्कालीन, सूत्र-कालीन, राजपूत-कालीन। नीचे हम भारतीय नारी के अनुयुगीय क्रमिक विकास अथवा पतन की कथा कहेंगे, जो उन्नत है, करुण है, कठोर है।

मोहनजोदेड़ों और हड़प्पा की सैन्धव-सभ्यता में उसका क्या स्थान था, क्या अनुभूति थी, क्या अधिकार थे हम नहीं जानते, परन्तु उसकी दशा दयनीय न थी इसका हमें कुछ आभास मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि उससे बहुत पूर्व मातृ-सत्तात्मक-व्यवस्था का अन्त हो चुका था और उसके स्थान में पितृसत्तात्मक समाज स्थापित था। उस सभ्यता की एक नर्तकी मूर्त्ति से ज्ञात होता है कि गणिका का जीवन वहाँ आरम्भ हो गया था। तत्सामयिक बाबुल सभ्यता में तो निस्सन्देह गणिका का एक भयावह वर्ग ही बन गया था। नर्तकी का जीवन व्यवहार रूप में सदा बारवनिता के जीवन से संबद्ध होता आया है; कुछ आश्चर्य नहीं कि आर्थिक-लाभ के लिये सैन्धव सभ्यता की नारी के एक अंग ने भी रूपजीवी वृत्ति को अपना लिया हो। उसका विकास किस हद तक हो चुका था, किस प्रतिशत तक तात्कालिक समाज में इस वृत्ति की संख्या

पहुँच चुकी थी, यह बताना तो असम्भव है, परन्तु इसका रूप खड़ा हो चुका था, यह सम्भवतः सही है।

ऋग्वेद की नारी, शक्ति और औदार्य की सीमा है, पुत्री की हैसियत से पिता की सम्पत्ति में उसका अधिकार है। युवती की हैसियत से वह अपना पति आप चुनती है; यद्यपि यही स्वतन्त्रता कभी-कभी उसके लिये अभिशाप बन जाती है। घोषा उस अभिशाप का उदाहरण है। विवाह के अवसर पर पुरोहित उसे आशीर्वाद देता है, स्वसुर की साम्राज्ञी बनो, सास की साम्राज्ञी बनो, नन्दों और देवरों की साम्राज्ञी बनो, गृह-समुदाय के प्रति गृहपत्नी (रानी) के अधिकार से बोलो, द्विपदों और चतुष्पदों के अर्थ कल्याणी सिद्ध हो।' पत्नी की हैसियत काफी ऊँची है और इस ऋग्वैदिक ऊँचाई तक इस रूप में भारतीय नारी कभी नहीं उठी, न पहले, न पीछे। अपनी शक्ति और ऊँचाई का वह स्वयं प्रतीक है।

ऋग्वेद में नारी, नर के अधिकारों के काफी निकट पहुँच जाती है। गृह-विधान सारा उसके हाथ में है। वह गृह-स्वामिनी है। सारे दास-दासी, धन-चौपाए उसके अधीन हैं। यज्ञाग्नि वह आजीवन प्रज्वलित रखती है, पति के साथ साधिकार यज्ञानुष्ठानों में भाग लेती है। भाई की भाँति वह विद्याध्ययन करती है, अस्त्र चलाना सीखती है, पति की भाँति रण में जाती है, शत्रु का पीछा करती है। कन्या अवस्था के उसके गाय दूहने, आसन बिनने, सीने-पिरोने, पानी भरने आदि के कार्य पत्नी के शालीन कार्यों के सामने विस्मृत हो जाते हैं। अब वह पारिवारिक-सामाजिक कार्यों में भाग लेती है। धर्म कृत्यों में अनवगुण्ठित सम्मिलित होती है, समर में शक्ति का प्रदर्शन करती है। पुरुष ऋषियों की भाँति अनेक नारियाँ भी

आचरण करती हैं। वे ऋषि हैं, कवियित्री हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों की वे द्रष्टा हैं और आर्य उनके मन्त्र भी उसी निष्ठा और उल्लास से गाते हैं, जिससे नर-ऋषियों के मन्त्र। घोषा, अपाला, विश्ववारा, लोपामुद्रा, शची-पौलोमी, वागम्भृणी आदि अनेक नारी द्रष्टाओं के मन्त्र ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। वागम्भृणी तो जैसे चराचर की भाग्य विधायिका है। ओज और ध्वनि की मूर्ति उसका निर्घोष दिशाओं में गूँज उठता है—

मैं ब्रह्म द्वेषियों को मारने के लिये रुद्र का धनुष तानती हूँ, मैं जन-कल्याण के लिये सूर्य को क्षितिज की मेधा पर ला चढ़ाती हूँ।

शची-पौलोमी दृप्त वाक्यावली में कहती है—जैसे सूर्य आकाश की मूर्धा पर चढ़ता है, मेरा सौभाग्य भी ऊर्ध्वोन्मुख हो चला है, मेरी सपत्नियाँ धूलि धूसरित हैं, मेरे पुत्र दिशाओं के स्वामी हैं, मेरा पति इन्द्र मेरे प्रस्तुत किये हवि से शक्ति धारण करता है।

परन्तु इस घोषणा में ही पतन का वह बीज निहित है जो उत्तर काल में भारतीय नारी के लिये विष वृक्ष बन गया। सपत्नी की कल्पना एक ओर तो नारी के अधिकारों की सीमा और दूसरी ओर पुरुष की उस पर प्रभुता प्रमाणित करती है। जब एक पक्ष का अनुराग केवल एक पर अव्यभिचार रूपेण होगा और दूसरे का उस पर केवल आंशिक होगा तो पारस्परिक अधिकारों में निश्चित अन्तर पड़ जायेगा। जब ऋग्वैदिक काल के बहुत पूर्व नर ने मातृसत्ताके व्यवस्था के स्थान पर पितृसत्ताकी व्यवस्था की सीमायें बाँधीं और अन्य जनों की नारियों को जीतकर अपने समाज में उनकी संख्या बहुत कर दी जो उनकी अवमानता के आधार बन गये। ऋग्वैदिक काल

में सपत्नी के अनेक उल्लेख हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि स्वतन्त्र आर्यनारी सपत्नियों में अपना स्थान अंगीकार करती थी। कम से कम उनके उदाहरण अत्यन्त स्वल्प हैं। हाँ दास और दस्यु-शत्रुओं की जीती हुई नारियों की संख्या समाज में प्रचुर हो गई थी। पहले तो ये दासियों की हैसियत से आईं पर इनके नागरिक आचरण ने शीघ्र ग्राम्य आर्यों के मन को छीन लिया। चारों ओर से उनकी माँग आने लगी। राजाओं के अन्तःपुर उनकी संख्या से भर चले। वे औदार्य का परिमाण बन गईं। राजा उनसे भर-भर कर रथ अपने पुरोहितों को दान करने लगा। कक्षीवान, औशिज, वत्स आदि अनेक आचारवान ऋषि-मुनि उस सन्धि से प्रसूत हुए।

ऋग्वैदिक नारी, जैसे-जैसे यह युगस्तर नीचे की ओर चला, अधोधः गिरने लगी। जुवारी उसे दाँव पर रखने लगा और उसके हार जाने पर वह दूसरों से प्रसाधित और विचुम्बित होने लगी। ऋग्वेद में 'जारों' के बीसों संकेत होने से जान पड़ता है कि समाज में जारिणियों की भी एक संख्या थी जो स्वच्छन्द समाज का एक केन्द्रीय स्वाभाविक परिणाम है। इस समाज में भी नर्तकी का स्थान था। अप्सराओं के हवाले भी प्रायः गणिका के ही भाव में दिये गये हैं। गणिका का वर्ग उठ खड़ा हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उषा के प्रति कहे मन्त्रों में वक्ष को खोले नृत्य करती नारी का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

फिर भी उस काल की भारतीय नारी उत्तर काल की अपेक्षा और समसामयिक सभ्यताओं की अपेक्षा कहीं उन्नत थी। बाबुल में नारियों का स्थान प्रायः वेश्या का था। होमर की नारी प्रभूत स्वतन्त्रता की प्रतीक होकर भी ऋग्वैदिक नारी के

अधिकारों के सामने तुच्छ थी और ग्रीस के उत्कर्ष-काल की नारी तो निस्सन्देह दयनीय थी। पर्दा, अनधिकार, बहु-स्त्री-विवाह आदि अनेक कुरीतियों की वह वहाँ शिकार थी। उलिसेस का पुत्र तेलिमैकस अपनी माँ पेनिलोप को राजनीति से अलग हो चर्खा सम्हालने की राय देता है। मीडिया कहती है—'क्या अभाग है हमारा कि अपने ऊपर हुकूमत करने के लिये हम पति खरीदते हैं।' अन्यत्र एक ग्रीक-पात्र कहता है कि 'अच्छी नारी द्वार से बाहर नहीं झाँकती और उस अच्छे सिक्के की भांति है जिसे उसका स्वामी घर में गाड़ कर रखता है। बुरे सिक्के बाजार में चलते हैं।' आश्चर्य है कि उस काल में ग्रीस ने अद्‌भुत उत्कर्ष का आदर्श सामने रखा। पेरिक्लिज, डिमास्थेनिज, शुकरात, अफलातूँ, अरस्तूँ आदि की समकालीन नारी इस अवस्था को पहुँच गई थी, कि विश्वास नहीं होता, परन्तु इतिहास का अकाट्य प्रमाण सामने है। इसकी अपेक्षा ऋग्वैदिक नारी का स्तर बहुत ऊँचा था, उसके अधिकार नितान्त स्पृहणीय थे।

ऋग्वैदिक काल में सती प्रथा का प्रयोग नहीं किया गया, चाहे जिन कारणों से भी ऐसा हुआ हो। इसमें सन्देह नहीं कि उस काल के पूर्व और पश्चात् दोनों युगों में इस प्रथा ने जोर पकड़ा—इसका प्रमाण अथर्ववेद में सुरक्षित है। आर्यों को तब नरबल की आवश्यकता थी—उनका आदर्श था दस पुत्रों का पिता—और इस कारण नारी के संख्या ह्रास की कोई प्रथा बर्ती न जा सकती थी। पति के मरने पर पत्नी उसकी अप्रज्वलित चिता का आरोहण करती, उसके शव के बराबर लेट जाती और उसके प्रज्वलित होने के पूर्व वहाँ से उतर उसके पति के हाथ से धनुष स्वीकार करनेवाले देवर का

तत्काल वरण करती। अपने पहले विवाह के अवसर पर ही उसकी 'देवृकामा' संज्ञा इस आचरण के अनुरूप उसे प्रदान की जा चुकी थी।

ऋग्वेद का निचला स्तर वीरकाव्य (रामायण-महाभारत) काल के उपरले स्तर से मिला हुआ है। उसके अन्तिम मन्त्रों के देवापि, शान्तनु आदि महाभारत के आदि-पुरुष हैं। ऋग्वेद के अन्तिम युगों में नारी का जो अवतार शुरू हुआ था वह निरन्तर बढ़ता गया। उसे जुए में दाँव पर रखना एक साधारण बात हो गई। नल की परम्परा 'पाण्डवों ने कायम रखी और मनस्विनी द्रौपदी को उसका परिणाम सहना पड़ा। रामायण-महाभारत काल की नारी यदि बड़ी है तो इसलिये कि वह अपने एकाकी नर की छाया है, उसकी सतत अनुगामिनी है। सीता बड़ी इसलिये है कि वह राम की सतत छाया है। गान्धारी आदरणीया इस कारण है कि आँखें होते हुए भी उसने संसार का वह ऐश्वर्य न देखना चाहा जो उसके पति धृतराष्ट्र के लिये अदृष्ट था। शकुन्तला और द्रौपदी के विद्रोह-नाद तो अत्यन्त दुर्बल सिद्ध हुए, विशेषकर उन पतियों के प्रति जिनकी अनेक प्रेयसियाँ थीं। भारतीय नारी का आचरण वास्तव में त्याग और सहिष्णुता की पराकाष्ठा है। उसके बाद ही उपनिषत्काल की नारी एक बार फिर चमक उठती है। ब्रह्म-वादिनी गार्गी जनक की परिषत् में याज्ञवल्क्य को अपने शब्द वाणों से ु्द्ध और उत्तेजित कर देती है। मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से अमरतत्व माँगती है और संसार की सुख-शृङ्खला को क्षणिक और असत्य मानकर त्याग देती है, यद्यपि उसका गृह-जीवन सपत्नी की उपस्थिति से सर्वथा निष्कण्टक नहीं। इसी काल के अन्त्यस्तर से उस युग का आरम्भ होता है, जिसे

सूत्रकाल कहते हैं। इसका प्रसार प्रायः ई० पू० छठी शती से ई० पू० प्रथम शती तक हैं—बुद्ध के समय से आरम्भ होकर शकों के आक्रमण-काल तक, यही युग था। जब बुद्ध ने अत्यन्त अनिच्छा से आनन्द के बहुत अनुनय पर नारी को संघ में दीक्षित होने और प्रव्रज्या धारण करने की अनुमति दी—साथ ही कहा भी, 'आनन्द! संघ निस्सन्देह सहस्र वर्षों तक जीवित रहता परन्तु नारी प्रवेश से उसकी आयु अब क्षीण हो जायेगी और वह अब केवल पाँच सौ वर्षों तक ही चल सकेगा!' यही वह युग था जब भारतीयों की निष्क्रियता के फलस्वरूप ईरानी नृपति दारा ने ई० पू० पाँचवीं शती में सिन्ध और पंजाब के भागों को अपने शासन में सम्मिलित कर लिया। इन्हीं दिनों सिकन्दर ने (३२६ ई० पू०) भारत पर आक्रमण कर पंजाब को रौंद डाला। इन्हीं दिनों (ई० पू० १८० के लगभग) डेमिट्रियस ने अपने सेनापति और जामाता मिनान्दर के साथ भारत पर आक्रमण कर पाटलिपुत्र को स्वायत्त कर लिया और ग्रीकों ने पंजाब में अपने राज्यों और नगरों की नींव डाली। इन्हीं दिनों शकों ने भारत पर आक्रमण कर वर्णाश्रम धर्म को कुचल डाला और पाटलिपुत्र को पुरुषों से निःशेष कर दिया। यह बौधायन-आपस्तम्ब का युग था, वसिष्ठ, पाणिनि का, मनु-पतंजलि का, चाणक्य-पुष्यमित्र का, गृह्यसूत्रों और धर्म-शास्त्रों का। यह सामाजिक संघर्ष का युग था, काल ने करवट ली थी।

गार्गी-संहिता का युग पुराण कहता है कि इन आक्रमणों से, विशेषकर अम्लाट शक के बाद, भारतीय वर्ण-व्यवस्था सर्वथा विनष्ट हो गई। 'शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जायगी। पुष्य नाम की नगरी सूनी हो जायगी, अत्यन्त

वीभत्स। वहाँ कभी कोई राजा होगा, कभी न होगा। तब लोहिताक्ष अम्लाट नाम का महाबली धनु के बल से अत्यन्त शक्तिमान हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्तनगर (पाटलिपुत्र) को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे सभी अर्थ-लोलुप और बलवान् होंगे। तब वह विदेशी म्लेच्छ अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्व स्थिति को अधोगामी कर चतुर्वर्णों को नष्ट कर देगा। उस दारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जायगी। करों में हल धारण कर नारियाँ कृषिकार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में वे ही धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरेंगी। पर्वों और उत्सवों में पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र नारियों के ही झुण्ड के झुण्ड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहाँ तहाँ देखकर 'आश्चर्य-आश्चर्य' कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी। पुरुष बचे-खुचे सन्तोष धारण करेंगे। गृहस्थ प्रव्रजित होंगे। फिर असंख्य विक्रान्त शक प्रजा को आचार भ्रष्ट कर अकर्म करने पर वाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है—जन-संख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनकी चतुर्थांश संख्या अपनी राजधानी को ले जायेंगे। इस वस्तुस्थिति में जब प्रान्त 'आकुल' हो गया, समाज विपन्न हो गया तब इस राजनीतिक और सामाजिक विप्लव के परिणाम को सँभालने के लिये भारतीय समाज-शास्त्री विकल हो उठे। गृह्य-सूत्रों में समाज को फिर से नियम देने की व्यवस्था की गई। इस वैदेशिक प्रवाह और विप्लव में प्राण तो संकट में पड़ ही गये थे नारियों की भी बड़ी दुर्दशा हुई। उनकी विपत्ति

को देश और समाज की विपत्ति समझ सूत्रकारों ने उनकी पुनर्व्यवस्था की। परन्तु उनकी व्यवस्था नारियों के प्रति प्रभूत नियन्त्रण सिद्ध हुई। मनु ने कहा तो सही कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता', 'स्त्रीरत्नं सुदुष्कलादपि' तक की व्यवस्था की परन्तु नारियों के अधिकारों की चर्चा करते समय वे भी भूल गये। उनके अपने अधिकार सर्वथा विनष्ट हो गये। उनके अधिकारों के छिन जाने से उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त दारुण हो गई। परन्तु इससे कहीं बुरी उनकी सामाजिक अवस्था हुई। सूत्रकारों ने देखा कि विपत्काल में पति जितना अपनी पत्नी की रक्षा कर सकता है उतना अनेक पुत्र-पुत्रियों के भार से दबा पिता अपनी कन्या की नहीं कर सकता, इससे उचित यह है कि कन्या शीघ्र से शीघ्र पत्नी बना दी जाय। तर्क सही था, परन्तु परिणाम अत्यन्त कठोर। फलतः बाल-बिवाह की नींव पड़ी, 'अष्टावर्षा भवेद्गौरी' की परम्परा जमी। वैदिककाल में ऋतुपूर्वा नारी का विवाह अनजाना अनसुना था। व्यवस्था अधिकतर थी रजस्वला हो जाने के ३६ ऋतुस्राव के पश्चात् (अर्थात् षोडशवर्षीया के) विवाह करने की परन्तु अब आठ-आठ वर्ष की बालिकायें विवाहानल में झोंकी जाने लगीं। जो पिता रजस्वला होने तक अपनी कन्या को अवि-वाहित रख उसे नरक का भय दिखा दिया गया। बाल-विवाह के नितान्त जघन्य उदाहरण सामने आने लगे, यहाँ तक कि कुछ जातियों में तो दूधमुहीं बालिकाओं के कर में भी कौतुक-सूत्र का पाश बँध गया। सती की भी व्यवस्था हुई परन्तु वह काफी उत्तरकाल तक पनप न सकी। विवाह साधारणतया इन व्यव-स्थाओं और पाशों के बावजूद भी विदेशियों तक के साथ होते रहे। भारत का उत्तरी भाग बाख्त्री-ग्रीक, हिन्दू-पह्लव,

शक, कुषाण आदि विदेशी राजकुलों के शासन में लगभग २०० ई० पू० से २०० ई० तक प्राय: चार सौ वर्षों तक रहा। बाख्त्री, ग्रीक, हिन्दू, पह्लव, शक, कुषाण हिन्दू होते गये और यहाँ की नारियों से विवाह करते गये। समाज की व्यवस्था, व्यवहार में बदलती गई अथवा कोरे ताड़पत्रों पर लिखी निष्प्रयोज्य हो गई।

कुषाणों के बाद नाग वाकाटकों ने हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार किया और इस यज्ञ की पूर्णाहुति गुप्त सम्राटों ने की। परन्तु विदेशियों से भारतीय नारियों का विवाह होता रहा। इस काल में अर्थात् पाँचवीं शती ईस्वी तक विधवा-विवाह तक होता था, असवर्ण-विवाह की तो कुछ बात ही नहीं। जिस चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों का ध्वंस कर 'शकारि' का विरुद धारण किया उसी ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक कुलीय ब्राह्मण रुद्रसेन द्वितीय से किया और अपने बड़े भाई रामगुप्त को मार उसकी विधवा ध्रुवस्वामिनी से स्वयं अपना विवाह किया। ध्रुवस्वामिनी से, जिससे उसके पुत्र कुमार गुप्त और गोविन्दगुप्त हुए, उसका विवाह तो इतिहास सम्मत है यद्यपि यह सर्वथा असन्दिग्ध नहीं कि उसने अपने भाई को मार कर उसकी विधवा का पाणिग्रहण किया अथवा उसे क्लीव घोषित कर उसके जीवित रहते ही। यदि यह दूसरी बात सही है तो उसका साहस स्तुत्य है। जो भी हो, याज्ञवल्क्यादि उसकी समसामायिक स्मृतियों ने इस प्रकार के विवाह की व्यवस्था दी। फिर भी नारी की आर्थिक अवस्था नहीं सुधरी, दिन पर दिन बिगड़ती ही गई। उसका आर्थिक उत्तरदायित्व निरंन्तर छिनता गया और अन्तत: वह पंगु हो गई। इस भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग में भी नारी अपनी

ऋग्वैदिककालीन स्थिति के निचले छोर के अधिकारों तक भी नहीं उठ सकी, निस्सन्देह यह उस युग पर प्रभूत व्यंग है।

कालान्तर में हूणों ने गुप्तों का विशाल साम्राज्य टकरा-टकरा कर तितर-बितर कर डाला। उनके साथ गुर्जर आदि अनेक विदेशी जातियों ने भारत में प्रवेश किया और अपने साम्राज्य खड़े किये। उनसे भारत में राजपूतों की अनेक जातियाँ जाट, गूजर, आदि जन्मे और समाज की कल्पित-पावनता दिन-दिन बिगड़ती गई। इनमें से अनेक जातियाँ अपने आदिम स्थान में अपनी कन्याओं की हत्या कर डालती थी। उन्होंने कई अंशों में भारत में आकर भी वह प्रथा जारी रखी। भारतीय नारी व्यवस्था में सती-प्रथा का प्रवेश तो किसी न किसी रूप में सदा से था परन्तु उसने अब जोर पकड़ा और जौहर का रूप धारण किया। विधर्मी शासकों और आक्रमणों से बचने के लिये यह सुदारुण प्रथा भी भारतीय नारी के त्याग, साहस और क्षमता के सामने तुच्छ हो रही। जौहर को उसने अपनाया ही नहीं, उसे उत्सव का रूप देकर उन्होंने अपने रक्त-दान से हरा रखा। नारियों की इस शक्ति ने राजपूतों को उस ओर से निश्चिन्त कर दिया। नारी-हरण से जिस अपमान की सम्भावना थी भारतीय नारी ने स्वयं अपनी, आत्म-हत्या से उसका निराकरण किया। ७१२ ई०. के मुहम्मद बिनकासिम के अरब आक्रमण से लेकर १७०७ में मुगल साम्राज्य के पतन तक भारतीय शालीनता का इतिहास नारी अपने रक्त से लिखती रही। यह इतिहास हजार वर्षों के जौहर का इतिहास था—संसार की जातियों का अनजाना, भारत के बार-बार की पराजय का मूल्य भारतीय नारी के गौरव का वितन्वक। भारतीय पुरुष ने अपने स्वार्थ में नारी को आग में

फेंक दिया, भारतीय नारी ने अपने उत्सर्ग से अग्नि को हृदय से लगाकर उसका प्रतिशोध लिया। कुछ आवाजें इस अन्याय के विरुद्ध उठीं।

कम्पनी के शासन-काल में अन्य प्रान्तों में तो किसी कद्र सती प्रथा का नियंत्रण हुआ, क्योंकि वहाँ के समाज ने उससे भी दारुण विधवा-वर्ग को पाला, परन्तु बंगाल में न केवल वह प्रथा बनी रही वरन् नित्य प्रति जोर पकड़ती गई। बीस और चालीस के बीच की अवस्था में मृत्यु कम होती है परन्तु जहाँ बाल-विवाह होंगे निस्सन्देह वहाँ विधवाओं की बाढ़ आ जायेगी। बंगाल में विधवाएँ पति की चिता में हाथ-पाँव बाँध कर डाल दी जाती थीं और उनका करुण-क्रन्दन ढोल की आवाज में डुबा दिया जाता था। बहु विवाह के कारण इस प्रथा की दारुणता और भी बढ़ गई। राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और स्वामी दयानन्द ने बाद में विधवा विवाह की व्यवस्था दी। विलियम बेंटिंक के विधान ने बंगाल से इस अमानवी प्रथा का अन्त किया।

भारतीय नारी का इतिहास जितना ही उज्वल है भारतीय पुरुष का उस सम्बन्ध में उतना ही कलुष और स्वार्थ-परक है। सारे सामाजिक, राजनीतिक ऐश्वर्य समेट कर उसने अपने लिये रखे और नारी को उसने चूल्हे की राख सौंपी। फिर वह उस बेजबान गाय का वधिक भी बन गया। परन्तु जैसे एक बार आततायी की तलवार भी कांप कर गिर पड़ती है भारतीय पुरुष ने भी अपना अन्याय समझा और अपनी शक्ति के आधार नारी को चेता। परन्तु इससे कहीं पहिले नारी ने कार्य-क्षेत्र में स्वयं पदार्पण किया था यद्यपि उसक यह

प्रयास सामूहिक नहीं व्यक्तिगत मात्र था। दिद्दा ने जिस कार्य-क्षमता का परिचय अपनी असाधुता और कठोरता से काश्मीर के प्राचीन इतिहास में दिया था उसका परिचय अहल्या बाई ने पश्चात् काल में अपनी दूरदर्शिता और साधुता से दिया। १८५७ ई० में नारी की तलवार चमकी और लक्ष्मी बाई ने पुरुषों तक का नेतृत्व किया। इस दृष्टान्त ने स्पष्ट कर दिया कि पुरुष द्वारा अप्रदेय भी कोई उसकी अपनी शक्ति है जिससे नारी उसका मुँह नहीं ताकती रहेगी और तब पुरुष स्वयं उसके उत्थान में योग देने लगेगा। आज भारतीय नारी का भविष्य अत्यन्त उज्वल है—सरोजनी नायडू, अमृतकौर, बेगमऐजाज रसूल, हजरा बेगम, विजय लक्ष्मी पंडित अनेक ऐसी नारियों ने ईरानी तुरसूम बाया का पथ पकड़ा है। भारतीय नारी की बेड़ियाँ अब बेदम हो चटख रहीं हैं—कुछ तमाशा ये नहीं कौम ने करवट ली है!

परन्तु एक शब्द और—जिस शक्ति और साधना से उसने अपने अतीत का इतिहास लिखा है उसे वह विस्मृत न कर दे। वह अतीत उसका अद्भुत और शालीन वैभव है, उसका अनुपम अनुवृत्त। आज के उसके चरित्र में जहाँ तहाँ तितली पने का आभासा होता है—वह सुन्दर नहीं, यदि आकर्षक भी है तो कम से कम स्वस्थ नहीं। उसे छोड़ वह स्वस्थ-नारीत्व की प्रतिष्ठा करे और अपने उदात्त अतीत की पृष्ठभूमि से भविष्य के निर्माण में शक्ति दे, क्योंकि भविष्य जीवन की साधना है।

———

संस्कृत के विरुद्ध प्राकृतों का विद्रोह

प्रकृति कहते हैं स्वभाव को, स्वाभाविक अनुकूलता को। उसे बाह्य क्रियात्मकता से चिढ़ है और कभी वह बाह्य और असत्य नियन्त्रणों को स्वीकार नहीं करती। यही रूप भाषा के प्राकृतों की-सी है। उसके अनेक संस्कार हुए, परन्तु बारम्बार वह अपने ही बनाये मार्ग पर आरूढ़ बन्धनों को तोड़कर वह चली। इस सिद्धान्त की सत्यता को आँकने और समझने के लिये हमें संस्कृत भाषा और उसकी प्राकृतों के एतिह्य पर कुछ विचार करना होगा।

संस्कृत भाषा का आरम्भ कितना प्राचीन है यह बताना आज कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, क्योंकि उसका अधिकतर प्राग्वैदिक अर्थात् प्राकृत रूप बिलकुल अनजाना है। जाने हुए रूप का अध्ययन और उसके उत्तर कालीन विकास का अनुशीलन संभव है। इस जाने हुए रूप का आरम्भ—उपलब्ध ज्ञान ऋग्वेद संहिता से होता है ऋग्वेद से पूर्व की संस्कृत-भाषा अथवा उसके साहित्य का ज्ञान हमें नहीं होता, क्योंकि उसके अध्ययन की सामग्री हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु साहित्य का न सही, किन्तु भाषा की हम कुछ न कुछ अटकल लगा सकते हैं। स्वयं ऋग्वेद ग्रीकों की देवी मिनर्वा की भाँति बिना शैशव-कैशोर आदि शरीर गठन की आवश्यक अवस्थाओं के हमारे सामने आ उपस्थित होता है। उसे हम ठीक उसी रूप में स्वतः पूर्ण पाते हैं। लोगों ने उसके भाषा विकास के अनुसार स्तरों को भी जानने की बात कही है। कुछ स्तरों का

पता स्वयं ऋग्वेद के मंत्रों से ही चल जाता है। उदाहरण रूप एक मन्त्र में पूर्व, मध्यकालीन ऋषियों की चर्चा की गयी है। ऋग्वेद संहिता की भाषा पद्यमयी है, परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तरकाल के अलंकार शास्त्र की पद्धति का अनुसरण नहीं करते जो स्वाभाविक ही है, इससे यह बात प्रकट होती है कि छन्दों के उस रूप का अभी अधिकतर अभाव था, जिसका दर्शन हमें बाद के अलंकार ग्रन्थों में होता है। सामयिक साहित्य उपलब्धं न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह भाषा साधारण बोल चाल की नहीं है, क्योंकि पद्यमयी भाषा साधारण बोल चाल की नहीं हुआ करती। फिर भी छन्दोबद्ध जो भाषा है, वही गद्य रूप में जनता की हो सकती है। इस छन्दों रहित गद्य भाषा के दो रूप हो सकते हैं—एक तो वह रूप जो पद्य से वर्जित ऋग्वेद की भाषा हो सकती है, जिसे तत्कालीन शिष्ट लोग बोलते होंगे, और दूसरा वह जो ग्रामीण अथवा अशिक्षित-जन की भाषा रही हो। जो भाषा शिष्ट लोगों की रही होगी, वही पाणिनि के 'संस्कृत' का पूर्वरूप है, जिसमें संस्कार का समावेश तो हो चुका है, परन्तु जिसके पूर्ण 'संस्कृत' होने में स्वयं पाणिनि को अभी बहुत कुछ करना है। किन्तु जो जन साधारण की भाषा रही होगी, उसे हम पूर्व काल की प्रकृत कह सकते हैं।

कुछ लोगों ने सन्देह किया है कि संस्कृत, जिसे हम आज के रूप में जानते हैं, कभी वास्तव में बोली भी जाती थी अथवा नहीं। यह विचार धारा संस्कृत भाषा के अनुशीलन में अनोखी है। यहाँ इसका विवेचन श्रेय नहीं। इस पर विचार, यदि सम्भव हो सका तो आगे करेंगे। यहाँ इस बात का विचारना

अधिक आवश्यक है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ या संस्कृत का। इस विषय पर विद्वानों का मतैक्य नहीं। कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं, और कुछ संस्कृत को प्राकृत से। इनमें पूर्ववर्ती सिद्धान्त के पोषक वे भारतीय विद्वान हैं जो संस्कृत को देववाणी—ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न—और वेद को अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानते हैं। संस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव युक्ति संगत नहीं जँचता, क्योंकि स्वयं 'संस्कृत' पद से उसका विरोध सिद्ध है। संस्कृत शब्द स्वयं अब संज्ञा होता हुआ भी एक प्रकार का विशेषण है। और इसमें एक 'संस्कार' की हुई भाषा का भाव निहित है। फिर संस्कार किसका? स्वयं संस्कृत का? इसका कुछ अर्थ नहीं होता। अवश्य तब उस भाषा का संस्कार किया गया जो ग्रामीण और जन साधारण की थी और खरादी जाने से निखर कर शिष्टों कीसंस्कार पूत भाषा बनी। स्वयं प्राकृत शब्द में भी 'संस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के निरोध में 'स्वाभाविक', 'प्राकृतिक', 'परिमार्जित', 'असंस्कृत' भाव सिद्ध है। इस हेतु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि 'प्राकृत' पहले की है और संस्कृत बाद की, 'प्राकृत' की ही संस्कार युक्त भाषा। बाद की प्राकृत बिना संस्कृत के मध्य आधार के, पुरातन प्राकृतों से निकलती रही, यद्यपि उनका स्वयं समय-समय पर संस्कृत होना और संस्कृत के अनेक शब्दों का फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत बन जाना अनिवार्य न था। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि संस्कृत की बुनियाद भी प्राकृत की भाँति ही प्राचीनतम स्तरों पर पायी जायगी, क्योंकि उस समय की कल्पना कष्ट कर होगी जब 'शिष्टों' का अभाव रहा हो अथवा वे प्राकृतों को विशेष रूप से न बोलते रहे हों। संस्कृत का प्रादुर्भाव किसी सनातन

यानी प्राचीन संस्कृत से मानना अयुक्ति सम्मत नहीं। परन्तु फिर भी प्राकृत की प्रतिक्रिया और भी पूर्व जा पहुँचेगी। संस्कृत का मूल वहाँ खो जायगा, जहाँ से पूर्व 'शिष्टों' की कल्पना न की जा सकेगी। और यदि मानव विकास का सिद्धान्त सही है तो अवश्य कभी एक अवस्था ऐसी रही होगी जब प्रकृत का सहचर आदि मानव शिष्टवर्ग के अभाव में उनसे वर्ज्य केवल समान प्राकृत ही बोलता रहा हो। यदि उस अवस्था की कल्पना करें, जब भाषा का जन्म हुआ तो निः सन्देह बालक की भाँति उच्चारण का प्रयास करते हुए मानव का भाषा सम्बन्धी कोलाहल प्रकृत के अधिक निकट रहा होगा। और संस्कृत से अधिक दूर।

संस्कृत भाषा कभी बोली जाती थी अथवा नहीं, इस पर भी विद्वानों का मतभेद है। पाँचवीं शती ईस्वी पूर्व में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि ने विशेषकर संस्कृत को वह रूप दिया, जिसे हम आज पाते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों ने तो 'संस्कृत शब्द का प्रयोग तक नहीं किया है। सर्व प्रथम इसका प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। दण्डी ने छठी शती ईस्वी पूर्व में अपने व्याकरण में 'संस्कृत' का व्यवहार जन-साधारण की बोली प्राकृतों के विरोध में किया है। यास्क और दूसरे प्राचीन भाषा शास्त्रियों और वैयाकरणों ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है। उनके और वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि इसे संस्कृत की भाषा कहकर वे प्रचलित, बोली जानेवाली, भाषा की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने 'लौकिक' संस्कृत की ओर संकेत किया है। स्वयं पाणिनी के अनेक विधानों का कोई अर्थ नहीं हो सकता यदि वे जीवित, बोली जाती हुई, संस्कृत के सम्बन्ध में न कहे गये हों। उनकी

युक्तियाँ प्रयत्न और उच्चारण आदि के सम्बन्ध की हैं, कुछ, दूर से बुलाने प्रणाम करने तथा प्रश्नोत्तर में प्रयुक्त होनेवाली स्वर की ध्वनियों के प्रति कहीं गई हैं। वास्तव में संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि अतिप्राचीन काल से ही बोली सम्बन्धी बहुतेरी शाखायें और भेद हमें उपलब्ध हैं। यास्क और पाणिनी दोनों बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। कलायन भी बोली सम्बन्धी स्थान विशेष के परिवर्तनों की बात कहते हैं और स्वयं पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों की गणना की है जिनका व्यवहार स्थान विशेष में होता था। मेक्डोनल साहब की राय में "द्वितीय" शती ईस्वी पूर्व में हिमालय और विन्ध्या पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे आर्यावर्त प्रदेश में संस्कृत अवश्य बोली जाती थीं। यह विचार उतना ही भ्रमपूर्ण है, जितना डाक्टर एस० डब्ल्यू० टामस का, जिन्होंने त्रिवेन्द्रम में होनेवाले ओरियण्टल कान्फ्रेन्स के सभापति की हैसियत से कहा था कि "सारे भारत में अब भी संस्कृत जन-साधारण की भाषा है।" इतना जरूर है कि संस्कृत कभी समझी जरूर साधारणतः जाती थी। नाटकों में संस्कृत और प्राकृत साथ-साथ व्यवहृत हुई हैं। संस्कृत पतञ्जलि के 'शिष्ट'—राजा, मन्त्री, ब्राह्मण आदि—बोलते हैं और प्राकृत साधारण जन द्वारा व्यवहृत होती है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे जब साधारण जनता कम से कम संस्कृत समझ सकती थी—उसमें कही गयी विशेषताओं को, श्लेषों और गूढ़ ग्रन्थियों को वह समझती भी वैसे ही थी जैसे नाटकों के अन्य पात्र स्वयं प्राकृत भाषी होते हुए भी संस्कृत में कही हुई वक्तृताओं में उत्तर प्रत्युत्तर देते थे।

इस प्रकार यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत किसी सीमा तक बोली जाती थी। पर किस सीमा तक ? 'शिष्ट' बोलते थे। पर शिष्ट कौन और कहाँ तक इसे बोलते थे ? यह बात याद रखने की है कि शिष्टता की सीमा अवश्य ही प्राकृतों की अवधि अथवा हदों को नहीं लाँघती। संस्कृत शिष्ट व्यक्ति, यदि वह प्राकृतों अथवा प्राकृत बोलियों की प्रधानता वाले देश का रहने वाला हुआ तो सम्भवतः वह भी अपने घर के भीतर प्राकृत ही बोलेगा। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली का केन्द्र मेरठ माना जाता है। परन्तु खड़ी बोली जिस चुस्ती के साथ मेरठ, दिल्ली अथवा लखनऊ में बोली जाती है, क्या उसकी शतांश सफाई अन्य स्थानों में प्राप्य है ? और स्वयं मेरठ, दिल्ली और लखनऊ से केवल मील भर दूर बसने वाले भी क्या शुद्ध खड़ी बोली बोलते अथवा बोल सकते हैं ? वे सदा एक या दूसरी प्राकृत का आश्रय लेते हैं ? हाँ, जब 'शिष्ट' आपस में मिलते तब अवश्य वे खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं, अथवा भिन्न प्रान्तों के रहनेवाले भी जब परस्पर मिलते हैं, तब वे खड़ी बोली का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल में संस्कृत ने खड़ी बोली का पूर्व स्थान लिया था। आपस में जब 'शिष्ट' मिलते थे, तब वे संस्कृत बोलते थे। जब साहित्यिक प्रसंग उपस्थित होते थे, तब 'शिष्ट' संस्कृत का व्यवहार करते थे। राजकार्य में भी बहुधा इसी भाषा का प्रयोग होता था, यद्यपि पाली अथवा अन्य प्राकृतें राजकार्य से अपवर्ज्य न थीं और अशोक कनिष्क आदि ने उनका प्रयोग किया। प्रमाण तो इस बात का भी है कि पाली कई अवसरों पर राजकीय कार्यों के लिए व्यवहृत हुई है। संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था। उन साहित्यिक केन्द्रों में भी जहाँ का वातावरण

पूर्णतः 'शिष्टों' का था, संस्कृत का व्यवहार शिष्टगोष्ठी में ही था। उन शिष्टों के व्यक्तिगत अन्तःपुरों में नहीं। तभी प्राकृतों का भण्डार भी साहित्यिक रूप में धीरे-धीरे भर रहा था। नाटकों में उनके पदों के भी उदाहरण मिलते हैं। ई० पू० पहली शती की, हाल की 'गाथा-सप्तशती' तो उनके माधुर्य का ज्वलन्त प्रमाण है।

प्राचीनतम प्राकृत का रूप जो साहित्य में व्यवहृत हुआ है वह है बौद्धों की 'पालि' जिसमें बौद्धधर्म की पुस्तकें और जैनों का प्राचीन साहित्य लिखे गये थे। अशोक के शिला लेखों की भाषा भी वही है। पश्चिम में सिन्धु की तलहटी में 'अपभ्रंश' पनपा और 'शौरसेनी' गंगा जमुना के द्वआब के मथुरा केन्द्र में फली। 'शौरसेनी' की शाखायें 'गौडारी' (गुजराती) 'अवन्ती' (पश्चिमी राजपूतानी) और 'महाराष्ट्री' (पूर्वी राजपूतानी) हुईं। पूर्व में 'मागधी' मगध अथवा विहार में और अर्ध मागधी काशी के चतुर्दिक फैली। अपभ्रंश से सिन्धी, पश्चिमी पंजाबी और काश्मीरी, 'शौरसेनी' से पूर्वी पंजाबी और हिन्दी प्राचीन काल की अवन्ती और गुजराती और 'मागधी' और अर्ध मागधी से मराठी, बंगाली, मैथिली और भोजपुरी, आदि की सृष्टि हुई। हिन्दी का आरम्भ लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी में ही हो गया था।

परन्तु इस ऐतिह्य का जोरदार निष्कर्ष यह है कि प्राकृतें सांस्कृतिक कलेवरों में बँध न सकीं, वे जन साधारण की भाषा थीं और जब-जब उन्हें संस्कृत करने का प्रयास किया गया, तब-तब वे शृंखलायें तोड़कर स्वतन्त्र हो गयीं, फिर फिर जन कोलाहल की शक्ति बनने लगीं। संभव भी कैसे था? घरेलू मां, बाप. भाई, भगिनी, आत्मीय सम्बन्धी सबके अन्दर स्नेह

स्रोत का प्रवाह करनेवाली भाषा को कौन बाँध सकता था। स्वयं पाणिनी और कात्यायन, पतंजलि और काशिकार भट्टोजी दीक्षित और शिवकुमार शास्त्री अपने घरों में, बन्धु-बाँधवों में कौन सी भाषा बोलते थे ? क्या इसका उत्तर देना होगा ?

इन प्राकृत भाषाओं में एक अत्यन्त विद्रोहात्मिका शक्ति रही है, 'शिष्टों' से हटकर 'विशों' में जा मिलने की। जन-साधारण की सत्ता ही उन्हें विशेष प्रिय थी, और यदि सच पूछिये तो वर्गवाद का पहला रूप इस भाषा रूपी संस्कृत-प्राकृत के स्वभावजन्य विरोध में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था के उन्मुक्त शैशव की सुषुप्ति में घुसकर कुछ "पतियों" ने अपने लाभकर समाज की प्रतिष्ठा की, उसी प्रकार दूर के अतीत में कुछ शिष्टों ने मिलकर गौरव और धन स्वार्थ की रक्षा के लिए जन्मसिद्ध बोली का संस्कार किया और उस संस्कृत में ही धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की जिनकी दार्शनिक सम्पत्ति जन-साधारण की पहुँच से परे संस्कारों के अँगूठे के नीचे रखी जा सके। जिसे वे अपनी पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति भोगें और जिनसे औरों को अलग रख सकें। यह वर्गवाद का पहला युद्ध था। परन्तु इसका फल यह हुआ कि विद्रोहात्मक प्राकृतें उस बन्धन को तोड़ निकल पड़ीं, और संस्कृत के टूटे स्तूपों पर स्वयं जीवित खड़ी हुईं। आज जहाँ संकृत का बोलबाला था, वहाँ प्रान्तों की प्राकृतें हैं।

संस्कृत के दार्शनिक धरोहरों के विरोध में जब-जब विद्रोह हुआ, तब-तब भाव का वाहन प्राकृतों को ही बनना पड़ा है। जब-जब वेदों और वैदिक ब्राह्मणों की यज्ञ क्रिया में वर्ग विशेष की निधि बन गयीं तब उनसे पृथक् मानवी विचारों का एक स्वच्छ-स्रोत प्रचण्ड रूप से देश में प्रवाहित हो चला। इस

नये स्रोत के भागीरथ तब ब्रह्मर्षियों के हाथ से निकल कर राजर्षियों की छाया में चले और तब उपनिषद् तत्वों के मनीषी हुए राजन्य-जनक-विदेह, प्रवाहण जैबलि, अश्वपति कैकेय। परन्तु उनके विद्रोह की शक्ति भी परिमित न थी, क्योंकि वे स्वयं वर्ग से बाहर न निकल सके। वे राजा थे और राजन्य। वे एक ओर तो ब्राह्मण कर्मकाण्डों से स्वतन्त्र हो उपनिषदों की प्रकृति में घुसे, परन्तु अपने को अथवा अपने अनुचरों को क्षात्रवर्ग से विमुक्त न कर सके, और विदेह जनक चाहे अपना एक पाँव सदा जंगल में रखता था, पर उसका दूसरा पैर तो कम से कम सिंहासन पर जमा ही रहता था। इसी कारण उपनिषदों में विचारों का संघर्ष तो चला, यज्ञों को उन्होंने चुनौती तो दी, फिर भी याज्ञवल्क्य संस्कृत में ही बोलता रहा और वह भी जनक की सभा में, प्रवाहण जैबलि की पंचाल परिषद् में। जन-साधारण अभी दूर था। इस विद्रोह में अभी सिंह का हुँकार नहीं हुआ था। वह जब आकर अपने दोनों पाँव सिंहासन की पीठ पर से अलग कर कूद पड़ा, जब जनक के दोनों पग बन में जा घुसे और कपिलवस्तु का शाक्य-सिंह राजगिरि की पहाड़ियों में दहाड़ने लगा, तब उस विद्रोह के नारे मगध और राज्य के जन-जन ने सुने। कारण, बुद्ध ने संस्कृत की एक देशीयता और वर्ग विशेषता को एक साथ ही अंगूठा दिखा दिया और बोला वह प्राकृत में—तब की पाली में। उसे अपना सन्देश जन-जन तक पहुँचाना था। वर्गवाद को चुनौती देता हुआ, ईश्वर और वेदों की दासता से मानव विचारों को मुक्त करता हुआ, शाक्य शान्त वह खरा भारतीय उस बोली में जन-बल जगाने लगा जो जनता की थी, जिसे जनता बोलती और समझती थी। यह संस्कृत से प्रथम विद्रोह

था, जो सर्वाङ्ग रूप से सफल हुआ, क्योंकि उसके सन्देश में समझ जाने की क्षमता थी। कृष्णमूर्ति और बीसेन्ट की जनता न तो भाषा समझ सकती थी और न उसके विचार। बुद्ध के प्राकृत में कहे सहज-भक्तों के सामने कृत्रिम संस्कृत कलेवर के टांके-टांके टूट गये। जैन तीर्थङ्कर महावीर ने भी प्राकृत में ही अपने उपदेश दिये और फिर जब जब सत्यशील सन्यासियों ने अपने सन्देश जनता को सुनाने चाहे तब-तब उन्हें प्राकृत का ही सहारा लेना पड़ा। भाव का वाहन भाषा है और भाव का निधन उसकी भाषा की दुरूहता है।

बुद्ध के निर्वाण के कुछ दिनों बाद सम्राट-प्रवर अशोक ने जब देश-विजय छोड़ धर्म-विजय करने प्रारम्भ किये तब उसने बराबर अपने विजयों के शंख प्राकृत-स्वरों में फूँके और कितने ही प्राकृत में, जितने हिन्दूकुश से सिन्धु पर्यन्त लम्बे-चौड़े देश में प्रचलित थे। उसके निबन्ध पालि में पर्वत शिलाओं और स्तम्भों पर प्रचारित हुए, जिनमें पिता के स्नेह और गुरु की दीक्षा का नाद था। बाद में कुषाण कालीन राजाओं के काल में भी जन-साधारण ने जब मूर्तियाँ, आयगपट्ट आदि प्रतिष्ठित किये, तब उनमें प्राकृतों का ही प्राधान्य रहा। पुराविद् उन प्रतिष्ठा-प्रवचक लेख में संस्कृत की अशुद्धियाँ ढूढते—क्यों न मिलेगी जब उनका सम्बन्ध जन-साधारण के लिए है, जिनके समझने के लिए वे खुदे हैं? वे 'मन्त्रपूतीय' नहीं हैं, वरन् पढ़े और समझे जाने के लिए हैं।

प्रखर बुद्धि शंकर अत्यन्त विकट तर्क का कवच पहन कर देश भर में घूमते रहे। उनका दिग्विजय भी हुआ, परन्तु वह दिग्विजय संस्कृत में हुआ, जिसका सम्बन्ध कतिपय दक्षों से रहा और जिनके शास्त्रार्थों को मूक जनता अचरज से देखती

रही, सुनकर क्या करती उनके सिद्धान्तों की दुरूहता भाषा की कठिनता में ऊहापोह हो गयी। वह तो उनके और उनके प्रतिस्पर्धी सुरेश्वराचार्य के चेहरों के उतार-चढ़ाव में ही देखती रह जाती थी। उनको समझने के लिये भामतीकार की मेधा अपेक्षित थी। कुमारिल का अखाड़ा भी कुछ ऐसे ही दावों से भरा रहा। फिर तो प्राकृतों ने फिर जोर लगाकर संस्कृत को किनारे कर दिया और रामानुज के बाद उसकी साँस टूटी जाने लगी, विशेषकर तब जब संस्कृत के पंडित होकर भी रामानन्द ने हिन्दी में दोहे लिखे, मुसलमान कबीर के कान फूँके और अयोध्या में नव-मुसलिमों को शुद्ध किया। फिर तो कबीर, नानक, नाथ कवि।

इस प्रकार सदा प्राकृतों ने अपने विद्रोहात्मक स्वरूप को कायम रखकर सत्य को ही अमर किया है और जनता को उस सत्य में दीक्षित किया है। जो भी क्रियमाण समाज शास्त्री जन-साधारण तक पहुँचना चाहेगा, उसे इन प्राकृतों का आसरा लेना होगा। आज की ये प्राकृतें हैं—अवधी, भोजपुरी, बैस-वाड़ी, ब्रजभाषा आदि। जहाँ खड़ी बोली में सत्साहित्य का सिरजन इतना हो रहा है, वहाँ इन प्राकृतों को भी सजाने की आवश्यकता है। यदि जन-जन तक सन्देशों के क्रम को पहुँ-चाना है तो अवश्य उन्हीं प्राकृतों की शरण लेनी होगी। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि स्वयं हिन्दी के बड़प्पन की नींव अवधी और ब्रज भाषा के तुलसी और सूर हैं। रामचरित मानस भी इसी कारण इतना जनप्रिय बन सका कि उसकी एक-एक मात्रा जन-साधारण की साँस का तार बन सकी, समझी जाकर। यदि सन्देश में शक्ति लानी हो तो जनभाषा भोजपुरी में कहना होगा—

भारत का छतिया पर भारत बलकवा के
बहेला रकतवा के धार रे फिरँगिया।

फिर इस छन्द और प्राकृत के शब्द-सौष्ठवकी समता कहाँ मिल सकेगी? कौन-सा कवि भोजपुरी की 'बटोहिया' को अपना कर अपना गौरव उन्नत न करेगा? बढ़े तो सही वह—

......चल हिन्द देखि आई,
जहाँ सिन्धु घहराय रे बटोहिया।

और इन प्राकृतों के विप्लवात्मक सन्देश के वाहकों में निश्चय ही 'पढ़ीसजी' जैसे 'मुखरों' की प्रथम प्रतिष्ठा होगी, जो शक्ति लगाकर गा सके थे—

उदि अउर आयिं,
हम अउर आयिं।

उड़ीसा के मन्दिरों के शृङ्गारिक चित्र

भारतीय इतिहास के मध्यकालीन हिन्दू युग में उड़ीसा वास्तु सम्बन्धी शिल्प कार्य का प्रधान केन्द्र बन गया। अद्-भुत ढाँचे तैयार कर शिल्पियों ने अनेक विशाल गगनचुम्बी मन्दिर खड़े किये। उनके भग्नावशेष आज भी पुरी जिले के लिए विशेष गौरव की वस्तु है। केवल भुवनेश्वर में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के लगभग डेढ़ सौ मन्दिर आज भी खड़े हैं और उनका भग्नावशिष्ट परिवार काल पर व्यंग करता है। भुवनेश्वर के इन अनेक भग्न देवालयों में कुछ ऐसे भी हैं जो भारतीय वास्तु कला के आश्चर्य और उड़िया भास्कर्य के चूड़ामणि हैं। परशुरामेश्वर और मुक्तेश्वर के शिखरों ने पहले मस्तक उठाये। परन्तु उनके तुरन्त ही बाद खड़े होने वाले लिंगराज के मन्दिर ने उन्हें अपने प्रताप से सर्वथा ढँक लि[illegible]। भुवनेश्वर की वास्तु शैली में लिंगराज का यह विशाल मन्दिर उड़ीसा का एक उन्नत कीर्त्तिस्तम्भ है। इसका ढाँचा तो अद्भुत है ही, इसका विशिष्ट सौन्दर्य भी इसके विस्तार के मण्डन में लक्षित होता है। इसके वाह्य शरीर के कण-कण को शिल्पियों ने संख्यातीत सजीव प्रतिमाओं से सजाया है। इसका एक-एक अलिंद जीवित है। आश्चर्यजनक पटुता से आकृतियों का अनन्त प्रसार दृष्टिपथ में उठता जाता है। इस शृंखला की प्रत्येक कड़ी, प्रत्येक आकृति, आकर्षक है। परन्तु कहीं भी उनकी समानता से दर्शन लालसा तृप्त होकर नहीं अलसाती, क्योंकि विविधता उनका प्राण है—प्रत्येक आकृति आकर्षक

है, प्रत्येक आकृति परस्पर भिन्न है। भिन्नपरक इस अनन्त शृंखला की कड़ियाँ दृष्टिपथ को बाँध-सा लेती हैं और मानव हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। फर्गुसन ने सत्य कहा था "यह कहना कुछ अत्युक्ति न होगा कि यदि ऐसी इमारत को बनाने में एक लाख रुपये (अथवा पाउण्ड) लगें तो इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाह्य सौन्दर्य को उत्कीर्ण करने में तीन लाख लगेंगे।* भारतीय वास्तु के प्राथमिक समीक्षक फर्गुसन के इस वक्तव्य में अतिरंजन का आभास तक नहीं। लिंगराज के मन्दिर का बाह्य अलंकरण कुछ ऐसा ही मूल्यवान् है, ऐसा ही श्लाघ्य।

भुवनेश्वर से थोड़ी ही दूर पर उसी पुरी जिले के कनारक में सूर्य का अप्रतिम मन्दिर (कोणार्क) खड़ा है। क्या वास्तु कौशल की विस्मयजनक क्षमता, क्या उत्कीर्ण आकृति की, ओजस्विता, क्या प्रधान प्रतिमा की अपार्थिव शक्यता और किंकर-देवताओं का कर्त्तव्य सब एक साथ एक अन्तर्भूत पिरोई शक्तिसूत्र के सहारे मानो दर्शक जगत को विस्मित, चकित कर देते हैं। निर्जीव पाषाण किस प्रकार सतत जागरूक वाकप्रगल्भ मानव को मूक और स्तब्ध कर देता है, यह कोई वहाँ जाकर देखे। परन्तु क्या उड़ीसा की कला का यह अद्वितीय रत्न यथार्थ में मूक है? जब मानव ऊपर दृष्टि फेंक ऊर्ध्वमुख हो स्थिर हो जाता है तब प्रत्येक उत्कीर्ण आकृति एक अजीब गति धारण करती है, प्रत्येक में एक अद्भुत तेजी भरने लगती है। अश्वों का अकृत्रिम ओज, सिंहों का दुर्दान्त विक्रम, नवग्रहों

---

* A History of Indian and Eastern Architecture. पृ० १०१।

की निःशब्द परन्तु सवेग गति, मास और ऋतु-चक्रों के मूक, निरन्तर ऊर्ध्व और अधोगत चक्कर मानवी आधार वन्ध से उठते वासनामय द्वन्द्वों के आकर्षक अनुनय—सब एक प्राण हो उस विशाल प्रस्तर समूह में चेतनता सृजन करते हैं, और चकित मानव अन्तर्मुख हो खो जाता है। कनारक का वह गगनभेदी मन्दिर एक अनन्त सिकता प्रस्तर पर खड़ा है। नीले आकाश की गोद में सिर डाले वेग से टूटती बंगाल की खाड़ी की अनवरत वेलाओं के मस्तक पर चरण रोपे सागर की इन खारी लहरियों का इस मन्दिर को भग्न करने में काफी हाथ रहा है। नीरव काल और उच्चरव सागर के षड्यन्त्र से कोणार्क का वह गौरव आज अवश्य विशीर्ण हो गया है, जो कभी उसका था, परन्तु फिर भी शिखर दण्ड के सम्मुख तोड़ विषम-अविषम गतिवाले वे प्रस्तर खण्ड कोणों के गोल कर्त्तन, और मोड़ अब भी सौन्दर्य के वे स्कन्ध हैं जो इस भव्य मन्दिर को विश्व के विख्यात वास्तु-विस्मयों में एक उन्नत स्थान दिलाते हैं।

वास्तु क्षेत्र में ह्रास के बाद उत्थान का युग आया, तभी पुरी के बाद कनारक चमका। आश्चर्य की बात है जिस शताब्दी में पुरी के जगन्नाथ मन्दिर-सी ओछी कलाकृति का जन्म हुआ उसी में कनारक के उस अद्भुत सूर्य-मन्दिर का प्रादुर्भाव भी हुआ। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर उड़िया कन्या का कलंक है, और कोई उसकी तुलना कनारक और भुवनेश्वर के प्रसिद्ध मन्दिरों से नहीं कर सकता, फिर भी यह आश्चर्य का विषय है कि ख्याति और पावनता में किस प्रकार इसने उन सौन्दर्य के प्रतीकों को अपने बहुत पीछे छोड़ दिया। पावनता में यह जगन्नाथ का मन्दिर केवल काशी के विश्वनाथ के मन्दिर से घट

कर है। इसकी इस प्रसिद्धि का कारण क्या है? स्वर्गीय राखालदास बन्दोपाध्याय ने इसका कारण उत्कट प्रचार (प्रोपेगेण्डा)* बताया है। यह सम्भव है परन्तु यह विषयान्तर है और हम इस पर विचार न करेंगे।

इस समय हमारा विचारणीय विषय दूसरा ही है। जगन्नाथ, बनारस और भुवनेश्वर के कतिपय मन्दिरों की वास्तु शैली के अतिरिक्त एक और अजीब विशेषता है। उनमें एक विशेष प्रकार के अलंकार का उपयोग किया गया है, जिसने भारतवर्ष के असंख्य श्रद्धालु उपासकों के हृदयों में सदियों तक आतंक और विस्मय का सृजन किया है। चकित दर्शक और धर्मान्ध उपासक दोनों उन संख्यातीत शृङ्गारपरक दृश्यों को देखकर स्तब्ध रह जाते हैं, जो मन्दिर के विमान और जगमोहन दोनों की दीवारों पर बाहरी और नाकों की एक अनन्त शृङ्खला में उत्कीर्ण हैं। मानव वासना के ये मुक्त चित्र जगन्नाथ के मन्दिर पर कुछ निस्तेज और अनाकर्षक लगते हैं, परन्तु भुवनेश्वर के कुछ मन्दिरों पर वे अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। कनारक के मन्दिर पर तो इनकी क्षमता सजीव हो उठती है। वहाँ इनकी भंगियों की ओजस्विता और कामोन्मादक शक्ति की मनुष्य केवल सराहना ही नहीं करता वरन् उनके मोहक, विक्षेपक प्रभाव से वह त्राण भी माँगता है। इस उत्कीर्ण चित्रों में से कुछ मनुष्याकार हैं परन्तु अधिकतर छोटे और नाकों में हैं। इनकी विदग्धता में एक अजीब मौलिकता का आभास मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्पूर्ण शृंखला में कामुकता नग्न ताण्डव करती है और अप्रयास हृदय में यह

* History of Orissa, खण्ड २, पृ० ३७१।

प्रश्न उठता है कि इन पावन देवालयों की भित्तिपर विशेषकर पूतातिपूत इस विष्णु के अवतार श्री जगन्नाथ के मन्दिर पर इन हृदयग्राही परन्तु अश्लील प्रस्तर चित्रों के बनाने का क्या तात्पर्य था। इस शंका के समाधान के लिये वह भारतीय कला के समोत्तक पण्डित फर्गूसन स्मिथ, कुमार स्वामी बन्दोपाध्याय, चन्दा और बसु के ग्रन्थों को देखते हैं, परन्तु उसका उत्तर वहाँ नहीं मिलता है। इनमें से अनेक विद्वानों ने तो इन श्रृङ्गार चित्रों की ओर संकेत नहीं किया है, यद्यपि इनकी संख्या हजारों में है। इस लेख में एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है जो सम्भवतः इस कठिन प्रश्न पर प्रकाश डाल सके। वर्तमान लेखक के सामने दो युक्तियाँ आती हैं, जो साधारणतः परस्पर-विरोधी-सी प्रतीत होती हैं तथापि दोनों के समन्वय से कदापि कुछ अर्थ सिद्ध हो सके।

पहली युक्ति को रखते समय बौद्ध और शैव सम्प्रदायों की प्रगति पर दृष्टिपात आवश्यक होगा।

तथागत बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र बाद बौद्ध धर्म की जिस शाखा का विशेष रूप से प्रचार था उसे संकेततः हीनयान कहते हैं। इस शाखा के उदय और मध्याह्न के समय तक अभी बुद्ध देवों की परम्परा में अभिषिक्त न हुए थे। देव प्रतिमाओं की अनन्त श्रेणी में उनका जन्म अनिवार्य अवश्य था, परन्तु वह भविष्य की एक घटना थी। उनके अपने ऐतिहासिक आर्थिक महत्व से कहीं बढ़ कर उनके उपदेश थे। परन्तु जब अकायिक सूक्ष्मता से भौतिक स्थूलता की ओर धार्मिक भावों और विश्वासों का मुँह फिरा तब बुद्ध की आंशिक आकृति जहाँ तहाँ झलकने लगी। परन्तु अभी तक पद्मासन मारे ध्यान अथवा अनेक मुद्राओं में बैठी या खड़ी बुद्ध प्रतिमा न कोटी गई। इस समय

रेलिंग स्तम्भों के बीच के सूची-प्रस्तरों पर केवल उनके उपष्ट-मीष, चरण धर्म-चक्र-प्रवर्तन में स्थित कर भिक्षा पात्र, बौद्धि वृक्ष और चैत्य आदि चिन्ह ही उत्कीर्ण और पूजित होते थे। परन्तु इस मानव बुद्ध का आगमन भी दूर न था उस भक्त-वत्सल भगवान् को, जिसकी रक्षा में भवसागर के कष्टों से भाग कर निःशंक श्रद्धालु उपासक शरण ले, नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ और फलस्वरूप महायान का उदय हुआ। इस नये भक्ति सम्प्रदाय का प्रसार ईसा की प्रथम शताब्दी में बड़े वेग से प्रारम्भ हुआ। पार्श्व और अश्वघोष की ओर उपासकों की आँखें लगी थीं, नागार्जुन ने उन्हें आलोक दिया। पहले से ही श्रीमद्भगवद्‌गीता के सिद्धान्त ने भक्ति सम्प्रदाय के लिये क्षेत्र निर्मित कर दिया था, जिसमें बहुत पूर्व का बोया हुआ बीज अंकुरित हुआ और महायान का पौधा धीरे-धीरे जड़ पकड़ने और बढ़ने लगा। मानव बुद्ध का अभिजनन हुआ और हिन्दू आर्यों की देवशाला जो बहुत कुछ पहले से ही प्रतिमाओं से स्नेह रखती थी अब अनन्त संख्या में काटी जानेवाली बुद्ध की मूर्त्तियों से भर चली। यह तथागत बुद्धदेव अकेला नहीं आया, उनके साथ ही अनेक किंकर देवों, बोधि सत्वों और अर्हनों का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह नवीन सम्प्रदाय वहीं न रुक कर आगे बढ़ा, क्योंकि वह वहीं किसी प्रकार ठहर न सकता था। श्रद्धा और उससे प्रादुर्भूत पूजा कुछ और भी उत्पन्न करता है—गौराग किंकर देवताओं और धार्मिक अस्पष्ट आकृतियों का एक परिवार और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण विधि क्रियाओं की एक अनन्त शृङ्खला।

जैसे जैसे यक्ष, किन्नर आदि अर्ध देवों की संख्या बढ़ी, वैसे ही संख्यातीत मात्रा में धार्मिक विधि-क्रियाओं में प्रजनन

हुआ और इन उलझी-सुलझी क्रियाओं के साथ ही इनमें मनो-योग में प्रयोग करने वाले रहस्यमय मन्त्रवानी आये। ऐति-हासिक बुद्ध सर्वशक्तिमान देवता बने और बौद्ध धर्म एक अजीब अलौकिक युग में प्रविष्ट हुआ, जिसके सूत्रधार बने कुछ भेद भरे अभ्यस्त प्रयोगी। लम्बे 'सूत्रों' को और छोटा कर लिया गया, फिर उन्हें भी और घोट कर 'मंत्रों' का निर्माण हुआ। लगभग इसी समय के 'योग' का प्रयोग स्थूल और अधिकाधिक लाभकर कायिक प्रक्रियाओं में होने लगा। हठ-योग अपनी घोर यातना भरी प्रक्रियाओं से दर्शक में आतंक भरने लगा। मंत्रयान के सिद्ध और प्रक्रियाओं के वे भेदभरे साधक विहारों में बैठे-बैठे हठयोग की क्रियाओं द्वारा कुछ अलौकिक शक्तियों का संचय करने लगे। मोहन और उच्चाटन की क्षमता उनमें आने लगी। इन प्रक्रियाओं की शक्ति कुछ वैसी ही थी जैसी आज भी हम मेस्मेरिज्म और हेप्नाटिज्म के अभ्यासियों में पाते हैं। हठयोग का जादू चल पड़ा। मठों और विहारों के प्रांगण सिद्धों के प्रयोगों से चकित, विक्षिप्त, क्षुब्ध नर नारियों से भर चले। सीधे अक्रिय उपासक मोहन के प्रभाव से इन सिद्धों के दास बन गये। विहारों में धन बरसने लगा और मठों के उन निम्न कक्षा-गह्वरों में सुन्दर तरुणियों के समुदाय संकेत मात्र से नीयमान अन्धे की नाईं चुपचाप बढ़ते गये, जिनके तमपूरित कोनों में पाप भक्ति का बाना पहने बैठा रहता। इन श्रद्धालुओं के पहुँचते ही वह उन्हें आत्मसात कर लेता। हठयोग, मंत्र और मैथुन मंत्रयान के त्रिपाद बन गये।

परन्तु इनसे भी कहीं घृणित प्रयोगों का युग अभी निकट भविष्य में आने वाला था। अधिक निकायों और वैपुल्यवाद ने पहले ही स्त्री-प्रसंग को सराहा था, अब लगभग ईसा की

सातवीं शताब्दी में उड़ीसा के श्रीपर्वत पर कामुकता का विपु घन्टा गम्भीर स्वर से बज उठा। उड़ीसा की रहस्यमय प्रयोग वीथी पर अपना वह भेदभरा 'भैरवी-चक्र' समाज के प्राची स्तरों को चुनौती देता हुआ वज्रयान आरूढ़ हुआ। इसके सिद्धों ने खुलेआम स्त्री-प्रसंग की प्रशंसा की और उनके अपने घृणित प्रयोगों ने स्वयं कामुकों में साहस भर दिया। चौरासी सिद्धों की संख्या ने रति-शैली की संख्या पर अपनी छाप डाली इन सिद्धों के जीवन पर मंत्र, हठयोग, मद्य और माननियों का विशेष रंग चढ़ा। 'मालती-माधव'[1] में भवभूति द्वारा निर्दिष्ट वह श्री पर्वत वज्रयानियों का निवास बन गया और वहाँ उनके निवास के कारण ही उसे वज्रपर्वत[2] की संज्ञा मिली। इसी पर्वत पर तन्त्र रहस्य के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। उनमें से कुछ ये हैं—'मायाजाल तन्त्र' 'गुह्यसमाज तन्त्र' 'महा-समय तत्व' 'भूत चामर' 'वज्रामृत' 'चक्रसंवर' 'द्वादशचक्र' 'मेरुकाभ्युदय' 'महामाया' 'पदनिःक्षेप' 'चतुष्पिष्ट' 'परामर्द' 'मरीच्युद्भव' 'सर्वबुद्ध' 'सर्वगुह्यसमुच्चय' 'माया मारीचिकल्प' 'हेरंबकल्प' 'विसमपकल्प' 'राजकल्प' 'वज्रगांधार कल्प' आदि[3]।

वज्रयानी तर्क के अन्तिम छोर तक जा पहुँचे। उन्होंने पत्नी, माता, भगिनी, और पुत्री में अन्तर न डाला, नारी जाति मात्र उनकी इन्द्रिय-लालसा की अभितृप्ति का साधन बनी। 'गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज़' में प्रकाशित 'गुह्य समाज तन्त्र'[4] में इन सिद्धों की प्रक्रियाएँ और उनका रहस्य-

---

१—अंक १, ७, १०। २—महायान और वज्रयान पर श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख 'गंगा' (पुरातत्वांक) ५–२१८।
३—वही। ४—पृष्ठ ६४, १२०, १३६।

मय इन्द्रिय लोलुप विलासी-जीवन समुचित रूप से वर्णित है। परन्तु यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि एक ओर जहाँ ये वज्रयानी सिद्ध वासना के खुले उपासक थे दूसरी ओर वहीं वे अध्यात्म साहित्य के प्रकांड पण्डित भी थे। आन्वीक्षिकी पर इनकी वाग्धारा कभी न रुकती थी। अन्वीक्षिकी, हठयोग और मोहनादि प्रयोगों के बल पर देश में इन्होंने वह धाक बैठा दी थी जिसका लोहा राष्ट्र का सर्वोन्नत प्राणी राजा स्वयं मानता था। उसमें भी इन सिद्धों का विरोध करने की क्षमता न थी और यदि वे उससे उसकी पुत्री अथवा पत्नी माँगते तो उसे इन्कार करने का साहस न हो सकता था। ग्यारहवीं सदी तक इन सिद्धों की संख्या चौरासी तक पहुँच गयी। और ठीक यही समय था जब उड़ीसा के अधिकतर कामचिन्हित मन्दिर विशेषकर पुरी और कनारक के मन्दिर बने।

अब तनिक भारतवर्ष के पूर्वी छोर पर दृष्टि डालें। पूर्वी बंगाल में शाक्त सम्प्रदाय उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। वहाँ तन्त्रयोग का साम्राज्य था। साहित्य काफी पुराना है और कुछ आगम और तन्त्र तो शायद ईसा से पूर्व की शताब्दियों तक के हैं। स्वयं शक्ति की उपासना भी अति प्राचीन है। ऋग्वेद में ही वागंभृणी विश्व की शासन-डोर अपने हाथ में धारण कर लेती है। वह कहती है—'अहं रुद्राय धनुरात—नोमि ब्रह्मद्विषे शखे हन्तवाऊ' परन्तु कामरूप का शाक्त-सम्प्रदाय लगभग तभी विशेष रूप से वहाँ फैला जब उड़ीसा में वज्रयान का समुद्र लहराने लगा। शाक्त धर्म का प्रचार भी बहुत कुछ वज्रयान के ही अनुरूप हुआ। और जब बोधिसत्त्व की पत्नी तारा जो बौद्धों को प्रज्ञापारमिताओं में से एक थी स्वयं एक 'शक्ति' मान ली गयी और जब उसकी आरा-

धना शाक्तों ने आरम्भ कर दी, तब तो दोनों सम्प्रदाय बहुत निकट आ गये। शाक्त सम्प्रदाय में भी वज्रयान की ही भाँति अनेक परिवर्तन होते गये। तांत्रिकों से कापालिक निकले और फिर वे अघोरपन्थी आये जिनके काम और वासनायुक्त आचरण सर्वथा वज्रयानियों के-से थे। धीरे-धीरे मनुष्य-संभूत देवी ने प्रतिमा (विग्रह) का स्थान लिया और यह विजय तन्त्र सम्प्रदाय कामाख्या पर्वत से पश्चिमाभिमुख हो विंध्याचल और काशी की ओर बढ़ा। आज भी काशी का नेपाली मन्दिर कामपरक अपने काष्ठचित्रों द्वारा उस सम्प्रदाय की महत्ता घोषित करता है। तान्त्रिक सम्प्रदाय ने अनेक रूप धारण किए जिनमें से दो 'सहजनिया' और 'मरमिय' थे, जिनका वर्णन महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने अपने 'वेनेर मेये' नामक उपन्यास में किया है।

इस प्रकार जब उड़ीसा के उठते हुए मन्दिर अपनी भित्तियों पर इन कामचित्रों का वसन धारण कर रहे थे, ठीक उसी समय आन्ध्र, उड़ीसा, वंग, आसाम (कामरूप) धर्म का एक स्तर बन चुका था जिसके रंगमंच पर भेदभरे सिद्ध मदिरा-नारी के साधनों से अनेक रूप धारण कर रहे थे। इस भूखण्ड के अनन्य सांस्कृतिक शासक वज्रयान भिक्षु थे। क्या इन सर्वशक्तिमान् भूखण्डों के स्वामी का हाथ, जो तत्कालीन धर्म के प्राण-विन्दु थे, तब के बनते हुए मन्दिरों के ढाँचों के निर्माण में न रहा होगा। इस बात को कभी न भूलना चाहिये मन्दिर साम्प्रदायिक शक्ति के स्मारक स्तम्भ होते हैं और तब के उड़ीसा के धर्म-सम्प्रदायों के प्रचालक-पीठ और प्रमुख सूत्रधार ये वज्रयान सिद्ध थे। इस कारण यह मानना असम्भव है कि उनके विश्वास और आचरणों की छाप इन मन्दिरों की दीवारों पर न उतर गयी हो।

एक विचारणीय बात और है। विष्णु के प्रत्येक अवतार के लिए एक स्थान-विशेष पुनीत माना गया है। राम की अयोध्या और कृष्ण के मथुरा-वृन्दावन ऐसे ही विशिष्ट पावन-स्थल हैं। इसी प्रकार पुरी वह पुनीत स्थान है, जहाँ विष्णु के जगन्नाथ रूप का अवतरण हुआ था, और विष्णु-जगन्नाथ की यह कला बुद्ध में उतरी थी। इस प्रकार यहाँ विष्णु के बुद्धावतार की महत्ता है और पुरी का जगन्नाथ-मन्दिर बुद्ध-निवास है। विष्णु के जिस रूप की जहाँ विशेषता है उसे दर्शाने के लिए वहाँ उस रूप का कोई सांकेतिक निदर्शन अवशिष्ट है। बुद्ध ने वर्णधर्म को चुनौती देकर पतितोन्मुख मनुष्य को परस्पर समान किया था, उसके व्यक्तित्व की रक्षा की थी। हिन्दू अवतार की बुद्धवाली शृङ्खला की कड़ी इसी हेतु जोड़ी गयी है। बुद्ध के इसी रूप की जगदेव आदि वैष्णव स्तुति करते हैं। इसी कारण इस मानव मात्र की महानता घोषित करनेवाले सिद्धान्त को एक विशेष रूप से पुरी में महत्व दिया है। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की दीवारों के भीतर किसी प्रकार का वर्ण भाव नहीं बरता जाता। बुद्ध के उपदेश के अनुसार वहाँ अन्त्यज और ब्राह्मण बराबर समझे जाते हैं। बुद्ध ने वर्ण-धर्म को धिक्कारा था और मानव-धर्म में एक अद्भुत समता का आदर्श रखा था। यही बुद्धावतार की विशिष्ट भावना पुरी के विष्णु मन्दिर में सुरक्षित रह सकी है। समाज की स्थिति के सम्बन्ध में बुद्ध का यही उपदेश विशिष्ट रूप से मान्य हो भी सकता है। सम्भव है और उपदेशों पर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार आक्षेप किये जांय, परन्तु यह समानता का सिद्धान्त सर्वथा स्तुत्य और सर्वमान्य है। फिर एक ऐसे मन्दिर के निर्माण में जिसका देवता बुद्ध हो, वज्रयानियों का हाथ क्या

न रहा होगा ? युक्ति-युक्त बात तो यह है कि इस बुद्ध मन्दिर के सम्बंन्ध में बौद्ध-पुजारियों का प्राधान्य रहा होगा, और तब के बौद्ध धर्म के प्रधान-सम्प्रदाय बज्रयान उड़ीसा के धार्मिक जीवन का प्रमुख ही नहीं एक मात्र शासक था। तब बज्रयान का सूर्य उड़ीसा की मूर्धा पर मध्याह्न के तेज से तप रहा था, यह वह मौका था जब मादकमयी वासना भी पुण्यात्मक धर्म का एक अंग बनाई जा सकती थी। बज्रयानी इस बात को जानते थे कि उनकी तूती सदा न बोलती रहेगी। ज्ञानसूर्य का जब उदय होगा, अंधकार तब छट जायगा, और उनकी सत्ता नष्ट हो जायगी। जनता की सांस्कृतिक क्रान्ति कभी न कभी होगी ही। और इस विप्लव को और दूर हटा देने के निमित्त बज्रयानियों ने मन्दिर के निर्माताओं को अपनी ओर खींच लिया। फिर उन्होंने उस समय के बनने वाले उड़ीसा के मन्दिरों पर कामुकता की छाप डाल दी, जिससे बाद की जनता भी उनके आचरण को पूजा का अंग समझे और क्रान्ति न करे। दूसरी युक्ति पूर्ण कल्पना जो इसके विश्लेषण में की जा सकती है वह नीचे दी जाती है।

कुछ लोगों[1]का विचार है कि इन शृंगारिक दृश्यों का कारण और है, वह यह कि उड़िया जनता का यह विश्वास है कि जिन मन्दिरों पर इस प्रकार के काम-चित्र नहीं उनसे जन-कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु यह तर्क सर्वथा अनुचित है, क्योंकि इस प्रकार के दृश्य केवल उड़ीसा के मंदिरों पर ही उत्कीर्ण नहीं हैं। यदि यह बात होती तो ये केवल उड़ीसा के मंदिरों पर होते। किन्तु ऐसा नहीं हैं। खजराहो के चन्देल-मंदिर, ऐल्लोरा का कैलाश और काशी का नैपाली मन्दिर सभी

---

१. राय, 'कोलार्क' (बंगला में लिखी एक पुस्तिका)

इस प्रकार के काम चित्रों से भरे हैं। सच तो यह है कि कला में नग्न सौन्दर्योपासना बहुत पुरानी है। प्रमाण इस बात का उपलब्ध है कि इस प्रकार के उल्लेख कला में वज्रयानियों से बहुत पूर्व के हैं और उड़िया प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र हैं। परन्तु इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि तक्षति-भास्कर्य में इसका विशिष्ट अगोप्य रूप वज्रयान के तांडव के बाद ही प्रतिष्ठित हुआ। ऊपर के गिनाये उड़ीसा के मंदिरों के सारे कामुक दृश्यों का तक्षणकाल वज्रयान के बाद ही है। इनमें से एक भी छठी शताब्दी अथवा उससे पूर्व का नहीं है।

कला में नग्नता का प्रादुर्भाव किसी न किसी रूप में द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ही हो गया था। भारतीय विचारों में बहुत पूर्व यक्ष और यक्षणियों की कामुक मूर्तियाँ घर कर चुकी थीं। शुङ्गकाल से ही साँची और भरहुत स्तूपों के रेलिंग-स्तम्भों पर वासनामयी अर्धनग्न यक्षणियों की मूर्तियाँ तक्षित होने लगी। कुषाण और गुप्त काल में ये यक्ष-यक्षणियों का काम प्रमत्त परिवार खूब फला-फूला। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालय में कुषाण कालीन नग्न यक्षी मूर्तियों से ढके रेलिंग से भरे पड़े हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन संस्कृत के अमर कवि कालीदास ने अपने मेघदूत के लिए एक यक्ष को नायक बनाया। स्वयं वह शृङ्गारिक कवि इन नग्न यक्ष प्रतिमाओं की भावभंगियों से न बच सका और रघुवंश के एक विशिष्ट सर्ग में उसने अयोध्या के राजप्रसाद के खंडहरों का वर्णन करते हुए रेलिंग-स्तम्भों के ऊपर बनी 'योषित्प्रतियातनाओं'* की ओर संकेत कर ही दिया है। इस प्रकार

---

* स्तम्भेषु योषित्प्रयातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्। स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १६, १७ ॥

न रहा होगा ? युक्ति-युक्त बात तो यह है कि इस बुद्ध मन्दिर के सम्बंन्ध में बौद्ध-पुजारियों का प्राधान्य रहा होगा, और तब के बौद्ध धर्म के प्रधान-सम्प्रदाय बज्रयान उड़ीसा के धार्मिक जीवन का प्रमुख ही नहीं एक मात्र शासक था। तब बज्रयान का सूर्य उड़ीसा की मूर्धा पर मध्याह्न के तेज से तप रहा था, यह वह मौका था जब मादमयी वासना भी पुण्यात्मक धर्म का एक अंग बनाई जा सकती थी। बज्रयानी इस बात को जानते थे कि उनकी तूती सदा न बोलती रहेगी। ज्ञानसूर्य का जब उदय होगा, अंधकार तब छट जायगा, और उनकी सत्ता नष्ट हो जायगी। जनता की सांस्कृतिक क्रान्ति कभी न कभी होगी ही। और इस विप्लव को और दूर हटा देने के निमित्त बज्रयानियों ने मन्दिर के निर्माताओं को अपनी ओर खींच लिया। फिर उन्होंने उस समय के बनने वाले उड़ीसा के मन्दिरों पर कामुकता की छाप डाल दी, जिससे बाद की जनता भी उनके आचरण को पूजा का अंग समझे और क्रान्ति न करे। दूसरी युक्ति पूर्ण कल्पना जो इसके विश्लेषण में की जा सकती है वह नीचे दी जाती है।

कुछ लोगों [१]का विचार है कि इन शृंगारिक दृश्यों का कारण और है, वह यह कि उड़िया जनता का यह विश्वास है कि जिन मन्दिरों पर इस प्रकार के काम-चित्र नहीं उनसे जन-कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु यह तर्क सर्वथा अनुचित है, क्योंकि इस प्रकार के दृश्य केवल उड़ीसा के मंदिरों पर ही उत्कीर्ण नहीं हैं। यदि यह बात होती तो ये केवल उड़ीसा के मंदिरों पर होते। किन्तु ऐसा नहीं हैं। खुजराहो के चन्देल-मंदिर, ऐल्लोरा का कैलाश और काशी का नैपाली मन्दिर सभी

१. राय, 'कोलार्क' (बंगला में लिखी एक पुस्तिका)

इस प्रकार के काम चित्रों से भरे हैं। सच तो यह है कि कला में नग्न सौन्दर्योपासना बहुत पुरानी है। प्रमाण इस बात का उपलब्ध है कि इस प्रकार के उल्लेख कला में वज्रयानियों के बहुत पूर्व के हैं और उड़िया प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र हैं। परन्तु इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि तक्षति-भास्कर्य में इसका विशिष्ट अगोप्य रूप वज्रयान के तांडव के बाद ही प्रतिष्ठित हुआ। ऊपर के गिनाये उड़ीसा के मंदिरों के सारे कामुक दृश्यों का तक्षणकाल वज्रयान के बाद ही है। इनमें से एक भी छठी शताब्दी अथवा उससे पूर्व का नहीं है।

कला में नग्नता का प्रादुर्भाव किसी न किसी रूप में द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ही हो गया था। भारतीय विचारों में बहुत पूर्व यक्ष और यक्षणियों की कामुक मूर्तियाँ घर कर चुकी थीं। शुङ्गकाल से ही साँची और भरहूत स्तूपों के रेलिंग-स्तम्भों पर वासनामयी अर्धनग्न यक्षणियों की मूर्तियाँ तक्षित होने लगी। कुषाण और गुप्त काल में ये यक्ष-यक्षणियों का काम प्रमत्त परिवार खूब फला-फूला। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालय में कुषाण कालीन नग्न यक्षी मूर्तियों से ढके रेलिंग से भरे पड़े हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन संस्कृत के अमर कवि कालीदास ने अपने मेघदूत के लिए एक यक्ष को नायक बनाया। स्वयं वह शृङ्गारिक कवि इन नग्न यक्ष प्रतिमाओं की भावभंगियों से न बच सका और रघुवंश के एक विशिष्ट सर्ग में उसने अयोध्या के राजप्रसाद के खंडहरों का वर्णन करते हुए रेलिंग-स्तम्भों के ऊपर बनी 'योषित्प्रतियातनाओं'* की ओर संकेत कर ही दिया है। इस प्रकार

---

* स्तम्भेषु योषित्प्रयातनानामुत्क्रान्तवर्ण क्रमधूसराणाम्। स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥ १६, १७॥

कुषाण और गुप्त काल तक यक्ष और यक्षिणियाँ प्रेम और काम दोनों का प्रतीक बन चुकी थीं। कुषाण-कालीन रेलिंग-स्तम्भों पर जो यक्षी-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं वे सर्वथा नग्न हैं केवल पैरों पर एक वस्त्र की लकीर डाल दी गई है जिससे जान पड़े कि वे वस्त्रों से अच्छादित हैं परन्तु वह लकीर केवल चरणों तक ही सीमित है और उससे निर्दिष्ट वस्त्र का तन के ऊपरी अङ्गों पर कहीं भी नामोनिशान नहीं, वरंच उनमें नारीत्व के खुले अङ्गों का पूर्णतया निर्देश भी कर दिया गया है। ये नग्न प्रतिमायें अधिकतर वसंत के साजनों से सजी होती है—आम्र-मंजरी और मदिरापात्र तथा चषक धारण किये हुए। अधिकतर ये अशोक के नीचे दोहद तथा अन्य मुद्राओं में खड़ी होती हैं जिनमें से एक विशिष्ट मुद्रा 'शालभंजिका' की है। इनके चरणों के नीचे प्रायः एक नग्न पुरुष वामन कुचला पड़ा रहता है। उसकी जिह्वा और आँखें कष्ट के कारण बाहर निकली रहती हैं। यक्षिणियाँ जैसा ऊपर कहा जा चुका है वासना की प्रतीक हैं पुरुष की इन्द्रिय-लोलुप तृष्णा का रौप्य निदर्शन। पुरुष वह वामन है जो अपनी ही वासना जन्य कामुकता के भार से कुचला जा चुका है और उसकी वासना नारी का रूप धरे (क्योंकि नारी पुरुष की वासनाओं में सर्वोच्च स्थान रखती है) उस पर, खड़ी नग्न तांडव कर रही है।

परन्तु इस प्रदर्शन का भाव अथवा लाभ क्या है? ये यक्षी-मूर्तियाँ उस रेलिंग के स्तम्भों पर खुदी हैं जो स्तूप के चतुर्दिक दौड़ती थीं। ये स्तूप निर्वाण अथवा बुद्ध या उसके अन्य रूपों या शिष्यों के जीवन अथवा उसमें घटी किसी विशेष घटना के स्मारक हैं। स्तूप व्यावहारिक जगत के बाहर

के आनन्द (निर्विकल्प) के प्रतीक हैं। यह विशेष महत्व की बात है कि ये नग्न यत्ती-मूर्तियाँ तो सामने खुदी हैं, परन्तु इनके पीछेवाले स्तम्भ भाग पर प्रायः बुद्ध की एक जातक कथा उत्कीर्ण है। ये कथा में बुद्ध के उन पूर्व जन्मों से सम्बन्ध रखती है जिनमें परोपकार में सतत प्रयत्न करते हुए तथागत ने अपनी बोधि प्राप्ति की थी। स्तूप और रेलिंग के भीतर चारो ओर कुछ भूमि छूटी होती है जिसमें श्रद्धालु उपासक चल कर स्तूप की परिक्रमा करते हैं, इसे प्रदक्षिणा भूमि कहते हैं। प्रदक्षिणा-भूमि में भीतर की ओर स्तूप की तरफ संकेत करती-सी जातक कथा है जिनमें व्यक्त जीवन का अनुकरण कर दुखी जन बुद्धत्व अथवा बोधिसत्व और अर्हत अवस्था का लाभ करेगा जिससे स्तूप की सार्थकता होगी। बाहर उन्हीं स्तम्भों पर जहाँ से उपासक भीतर की प्रदक्षिणा भूमि में प्रवेश करता है यत्ती-मूर्तियाँ हैं। यही बाहर का पददलित लांछित संसार है, जहाँ पुरुष अपनी ही वासनाओं का दास हो उनके ही बोझ से दबा जाता है। जहाँ वह उन गगन-चुम्बी बलवती नारी-तत्ती भावमयी वासनाओं के सम्मुख वामन मात्र है, उनका भार वहन करने में सर्वथा असमर्थ है। इसी कारण तथागत बुद्ध, संघ में नारी प्रवेश के विरुद्ध थे और इसी कारण जब प्रजापति ने प्रव्रज्या ग्रहण की उन्होंने आनन्द से कहा— "आनन्द नारी रहित संघ का जीवन हजार साल का होता है, परन्तु अब वह पाँच सौ वर्ष से अधिक नहीं चल सकेगा।"

इस प्रकार मन्दिरों पर मूर्तियों का नग्न चित्र भारत में नवीन नहीं और न उसका उपयोग केवल उड़ीसा के वास्तु-कला में ही हुआ है।

सम्भव है उसका अर्थ यह रहा हो कि नग्न वासना दलित संसार बाहर का है और उपासकों पर इसका पूर्णतया आतंक जमाने के लिये बाह्य-चित्र उत्कीर्ण किये गये हों। यह बात बराबर ध्यान में रखने की है कि इनमें से सारे चित्र बाहर की ओर हैं, एक भी भीतर मन्दिरों के 'गर्भागार' में नहीं। यह तो हुई सिद्धान्त की बात, परन्तु एक बार जब यह सिद्धान्त नग्न मूर्तियों की भावभंगियों में प्रयुक्त हुआ फिर तो वह तक्षकों के चित्त को अटका-अटका कर चकित दूषित करने लगा जैसा वह आज भी इन मूर्तियों में प्राण फूँक-फूँक दर्शकों को करता है। और जब वज्रयानियों ने इस प्राचीन सिद्धान्त को स्वार्थ-वश रूप दे दिया तब इसका प्रसार उड़ीसा के बाहर भी हुआ। इन वज्रयानियों का तांडव सातवीं सदी से ही आरम्भ हो गया था। जहाँ-जहाँ इन कामोन्मादक मूर्तियों का प्रयोग हुआ वे सभी मन्दिर सातवी सदी के बाद के हैं।

———

दासप्रथा का विकास

दासता का उदय इतिहास के बर्बर युग में हुआ और तब से सबल वर्गों से वह निरन्तर बह चली आ रही है। सभ्यता के इस लौह-युग में उसकी शक्ति और भी दृढ़ होती गयी है। अब्राहम लिंकन ने जिसे उखाड़ फेंकने की इतनी कोशिशें कीं, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र जिसके लिए क्षत-विक्षत हो गये उसकी जड़ें उसी देश में और मजबूत हो गयीं। इस दिशा में अमेरिका के प्रयत्न यथार्थतः व्यंग बन गये। जिसका उसने विरोध किया था, वास्तव में दासता का वह केवल स्थूल रूप था। उसका सूक्ष्म मारक रूप आज के शोषक राष्ट्रों की आर्थिक नीति में वर्तमान है जो अपने प्राचीन रूप से कहीं अधिक भयावह सिद्ध हो रहा है। और जिसका केन्द्र स्वयं अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र हैं।

प्राचीन स्टेट दास-पतियों का था जो उसका विनयन दासों के शोषण के अर्थ करते थे। मध्य कालीन सामन्त-स्टेट अभिजात कुलीनों का था जिसका उपयोग उन्होंने बेगार-किसानों और भूदासों के शोषण में किया। आज का 'प्रजा सत्ताक' स्टेट पूंजी पतियों का है जो श्रमिकों के शोषण में संलग्न हैं। प्राचीन काल से उस प्राचीन स्टेट का कार्य प्राचीन श्रमजीवी मानव का दुरुपयोग और उसके श्रम-का अनुचित लाभ-संचय रहा है। यों तो बर्बर-काल से ही शोषक और शोषित अथवा श्रमिक दो वर्ग रहे हैं पर दासता का परम विकास इस सभ्यता के युग में ही हुआ। शोषण प्राचीन जगत में दास-

प्रथा के रूप में जन्मा, मध्यकाल में वह सामन्तों के भूदासों के रूप में पोषित हुआ, वही वर्तमान युग में श्रमजीवियों के रूप में जीवित है। सभ्यता के तीन युगों में दासता ने तीन कलेवर बदले। रूप बदलते गये परन्तु नग्न अथवा ढकी दासता इस अनविच्छिन्न त्रैकालिक शोषण का आधार बनी रही।

दासता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन, नितान्त लोमहर्षक है, चाहे उसका संघटन ऐशिया-अफ्रिका में हुआ हो, चाहे योरप-अमरिका में। दासता के इतिहास और उसके भारतीय रूप का अध्ययन वर्बर और सभ्य काल दो स्पष्ट स्कंधों में उपादेय होगा। फिर इन युगों में भी दासता की परिस्थितियों का अध्ययन पारिवारिक और सामाजिक दो दृष्टियों से होगा। दासता का उदय जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वर्बर काल में हुआ। मानव जाति के इतिहासकार जिसे पूर्व-पाषाण काल कहते हैं उसमें मनुष्य प्रायः कन्द-मूल अथवा आखेट के मास ही खाता था। इसी काल के अन्त में, और संभवतः इसके पूर्व भी, उसने नर-मास को भी अपना आहार बनाया। उसकी अन्य नरों से बहुधा लड़ाई रहती थी परन्तु उन्हें जीत-मार कर खा जाने के अतिरिक्त वह उसका अन्य उपयोग न करता था, न जानता था। उत्तर-पाषाण-काल में तीन विशिष्ट परिवर्तन हुए जो सभ्यता के युग के शी पूर्ववर्ती थे—(१) पशु पालन, (२) कृषि और (३) उद्योग-धन्धों का उदय। इस काल में लोग कबीले बनाकर रहते थे। उनकी परस्पर टक्करें आवश्यक थीं। झगड़े विशेषकर पशुओं, चर-भूमि अथवा नारी के लिए हुआ करते थे। पशु पालन और पशु चारण से कबीला बन्दी भी हुई और कबीलाबन्दी से पशु पालन और पशु चारण को भी शक्ति

मिली। पारस्परिक युद्ध ने कबीलों को उनके चरागाहों में पशु चारण के लिए अवैतनिक नौकर अथवा दास भी प्रस्तुत किये। जंगल में स्वाभाविक उगने वाले धानादि को देख बर्बर मानव ने कृषि-कर्म का भी आरम्भ कर दिया था, जिसके लिए अब गुलामों की आवश्यकता होने लगी थी। मनुष्य ने इस युग में पहला मानव आविष्कार किया था—गाड़ी का चक्का। उसने पहले पहल जाना कि चिपटी पृथ्वी पर गोल पहिया ही दौड़ सकता है। उस प्राचीन युग में इस आविष्कार का बड़ा महत्व था। इससे युद्ध को बल मिला, कृषि को सहायता हुई और उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। कुम्हार वर्तन भांड़े इसी की सहायता से बनाने लगे। इसी काल सूत कातकर हाथ से ही कपड़ा भी बुना जाने लगा। 'लूम' से कपड़ा बुनने के प्रयास और धातुओं के ज्ञान तथा उनके प्रयोग ने उन दासों की अतीव आवश्यकता घोषित की जो युद्धों में बन्दी किए जाते थे। कुछ आश्चर्य नहीं यदि उस समय के अनेक युद्ध दासों की अभि-प्राप्ति के लिए ही लड़े गये हों। अब युद्धों से प्रस्तुत एक नगण्य वर्ग की स्थापना हुई जिसको विजेता स्वाभाविक ही अपने गुलाम समझने लगे। श्रम की उत्पादक शक्ति ने शीघ्र अब समाज को वर्गों में बाँट दिया। उनमें से एक स्वामी था दूसरा दास।

इसी काल के आस पास समाज में एक अद्भुत परिवर्तन हुआ। पहले उसकी व्यवस्था मातृ सत्ताक थी अब पितृसत्ताक हो गई। पहले नारी बलवती थी. गृह की स्वामिनी और सम्पत्ति की प्रभु। प्रारम्भिक मानव अपने उत्पादक के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु था इससे समाज की स्थापना मातृसत्ताक हुई। उसी का एक रूप भारत के मालाबार में आज भी शेष

है। अब अवस्था पलट गई और माता के स्थान पर पिता शक्तिमान हुआ। माता के सारे अधिकार पिता के हो गये, स्वयं नारी भी नर की दासी बन गयी। गृह दास के उदय के साथ इस पितृसत्ताक सामाजिक परिवर्तन का घना संबंध है। पितृसत्ताक व्यवस्था में पिता नारी-बच्चों-दासों का पूर्ण स्वामी था और उनके जीवन पर भी उसका सर्वथा स्वत्व स्थापित हो गया। नारी उसकी विशिष्ट दास, दास परिवार में प्रमुख, सिद्ध हुई। कुछ कबीलों ने इस समय यह भी घोषित कर दिया कि अब वे अपने रक्त की नारियों से मैथुन व्यवहार न रक्खेंगे, और इस कार्य के लिए वे अन्य कबीलों से नारियां उपलब्ध करेंगे। फिर तो अब नारियों के लिए भी युद्ध शुरू हो गये और वे भी जीतकर लाई जाने लगी। जीती हुई वस्तु यथेच्छ भोग की होती है और दासों का स्थान पहले भी गृह में निश्चित हो चुका था। उन्हीं की भाँति अन्यत्र से जीतकर लाई गयी नारियों का स्थान उनसे भिन्न कैसे हा सकता था? इससे गृह में दो प्रकार के दासों की सृष्टि हुई, साधारण दास और नारी। अन्तर केवल इतना था कि एक कर्म का सेवक था, दूसरी नर के शरीर का दास, उसके पुत्र-पुत्रियों की जननी। पुत्रियों को मार डालने की जो प्रथा चली उससे कुछ कबीलों में नारी की माँग बढ़ गयी और उसके साथ ही परिणाम स्वरूप, नारी के लिए युद्धों की संख्या भी। पितृसत्ताक स्थिति में नारी नर के भोग का साधन, उसका उत्पादक यन्त्र बन गयी। कबीलों में पारस्परिक युद्ध जो बढ़ा तो उसके लिए लड़कों की भी आवश्यकता बढ़ी और नारी इस अर्थ विशेष उपादेय सिद्ध हुई। ऋग्वैदिक ऋषि ने गाया—दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि (१०, ८५, ४५) दस पुत्र प्रसव करो

ग्यारहवाँ नर तुम्हारा पति होगा। वीर और काव्य कालीन ग्रीक समाज में यह स्थिति और भी स्पष्ट हो गयी। युद्ध-विजय दास और नारी प्रजनन-फिर युद्ध-विजयादि की वृत्तपरक परम्परा।

पितृसत्ताक काल वह था जिसमें बद्ध और स्वतन्त्र नर-नारी एक साथ भूमि और मवेशियों के अर्थ प्रयुक्त होते थे। गृह में दास-दासियों दोनों का उपयोग होता था। इसमें से दासियों का पत्नी के रूप में अक्सर प्रयोग होता था। भारत में भी इस रूप को प्रश्रय मिला। ऋग्वेद में सैकड़ों-सहस्रों की संख्या में गृहों में 'बधु' रूप में प्रयुक्त होने वाली इन दासियों के अनेक हवाले मिलते हैं। प्रख्यात ऋषि कक्षीवान, औशिज और कवष इन्हीं की सन्तान थे। रोम का परिवार जिसे 'फेमिली' कहते आरम्भ में आधुनिक स्नेह-संचित कुल न था, वह **केवल दास-दासियों का** समुदाय था (फेमिलिया-familia)। रोमन भाषा में 'फमुलस्' (famulas) का अर्थ ही गृह दास है। उसी शब्द का बहुवचन 'फेमिलिया' है जिसका अर्थ है एक नर के 'दास-दासियों' का समुदाय। गेयस के समय तक यह 'फेमिलिया' (दास-दासियों का परिवार) वसीयत का विषय था और अन्य सामाजिक वस्तुओं की भांति इच्छित जन को लिखकर भेंट किया जा सकता था। रोमक व्यवस्था के अनुसार रोमन नर की अपनी स्त्री, बच्चों और दास-दासियों पर सर्वतो-मुखी प्रभुता थी। उनके ऊपर उसका जीवन-मृत्यु का अधिकार था। उनको वह बेच बदल सकता था। कृषि ने इस प्रथा को विशेष आश्रय दिया और बढ़ाया। आज का परिवार अधिकतर (कम से कम पूर्वात्य कृषि-प्रधान उद्योग हीन देशों में) कृषि-प्रधान होने के कारण दासत्व और भूश्रम के मिश्रित आधार पर खड़ा हुआ।

यह तो हुआ रोमन कुल का हाल। ग्रीक कुल का जीवन इससे कुछ कम भयावह न था। वीर-काल से वहाँ भी नारी का अवसान हुआ। वीर काल सारे भूमण्डल पर नारी के पतन का घण्टानाद है। क्या भारत, क्या ग्रीस, क्या रोम सर्वत्र इस युग में नारी का अपकर्ष और नर का उत्कर्ष हुआ, प्राचीन जगत में नर का उत्कर्ष नारी के अपकर्ष की नींव पर हुआ। मातृसत्ताक से पितृसत्ताक का जो परिवर्तन हुआ था उसकी पराकाष्ठा वीर-काल में हुई। भारत के वीर-काल में (महाभारत और रामायण) पुरुष देव तुल्य अमानव रूप धारण करता है उसकी नारी उसकी छाया बनती है, स्वार्थ रहित, पति परायणा, तपस्विनी, निरीह। वह पति की राह नहीं रोकती नितान्त 'अरुन्धती' है। सीता और 'अरुन्धती' गान्धारी और रुक्मिणी अपने पतियों की दासियाँ हैं, उनकी इच्छा सेविकाएँ, उनके दीप्ति से प्रतिविम्बित।

नारी का अपकर्ष वीर-काल में एक और कारण-वश हुआ। दासियों की स्पर्धा के कारण। दासियाँ जो रण में गृहीत अथवा गृह दासों से उत्पन्न होती थीं, नर की कृपा दृष्टि से विरहित न थीं। सारा कुटुम्ब ही चूँकि उसकी इच्छाओं का दास था, सुन्दरी दासियों ने भी उसके स्नेह का भाग पाया। निश्चय खण्डित प्रेम के राज्य में एक पत्नी सम्पूर्ण स्नेह का पात्र नहीं होती। खण्डिता होना नारी की विडम्बना है। काव्य-काल में कालीदास कुमार सम्भव की नायिका पार्वती भारतीय ललनाओं का चिर अभिलषित-आशीर्वाद—अखण्डित प्रेम लभस्व पत्युः—प्राप्त करती है। जिसकी अभिप्राप्ति के अर्थ तप करती हुई भारतीय नारी तपस्वियों के तप को तुच्छ कर देती है—तपस्विनां दूरमधश्चकार-सा। उस 'पति देवता' नारी के लिए

पिता का आशीर्वाद है "भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः' (पति के रुष्ट होने पर भी तुम रोष न करना) और 'पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम्' (पति के कुल में तुम्हारा दासत्व भी उचित है) । निश्चय पत्नी वास्तविक दास की समीपवर्तिनी हो चुकी थी । मनु ने भी उस निरीह नारी का नियमन किया— 'प्रदानं स्वाम्यं कारणं'—जिस पर कालीदास ने अपना पेबन्द लगाया—उपपन्ना ही दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी । होमर के काव्यों में कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था उद्घाटित है पेतिलोप का पुत्र तेलियेकस अपनी माँ को पुरुषोचित कार्यों से अलग रहने और कातने-बुनने में चित्त देने का आदेश करता है (ओदिस्सी २१, २, ३५०) । उस प्राचीन कवि की कृतियों में तरुणियाँ लूट कर लूट के माल की ही भाँति व्यवहृत होती हैं । कमाण्डर उन्हें अपनी काम-ज्वाला की अभितृप्ति का साधन बनाते हैं । पदों के क्रमिक विधान से वे प्रमुख और गौण सुन्दरियों का वरण करते हैं । सारे 'ईलियद' की कथावस्तु एक दासी की अभितृप्ति में ही वितन्वित है । सारी वस्तु स्थिति का कारण एकाइलस और एगमेम्नन के बीच उस कमनीय दासी के लिए वैमनस्य है । अपने काव्य प्रसार में स्थान-स्थान पर होमर यह बताने से नहीं चूकता कि यदि कोई वीर महान् है तो उसकी वीर प्रसाद लब्ध दासी कौन है । दासियाँ विशेष कर प्रसाद लब्ध, ग्रीस में पत्नी के ही साथ गृह में ही रखी जाती थी और वह सेविका के बहाने नहीं, घोषित उपपत्नी के नाम से । विख्यात कासान्द्रा इसी प्रकार एगामेम्नन द्वारा लाई गई थी । दासी-पत्नी का पद साधारण दासियों से ऊँचा था और पुत्र उत्पन्न करने पर उनका आदर और भी बढ़ जाता था । उनका पुत्र अब दास नहीं रह जाता, स्वतन्त्र नर था, वह पिता की

सम्पत्ति में कुछ भाग पाता था। पत्नी को सती का जीवन बिताना पड़ता था। सती न होकर सती का जीवन बिताना असाधारण क्षमता और सहन का कार्य है, और सती होना भी कुछ सुखद्-वश्य बात नहीं, क्योंकि यह निश्चित है कि सती का जीवन अनिवार्य रूप में बिताये जाने के प्रथा-निर्माण में यदि नारी का हाथ होता तो वह प्रथा ही आज न होती। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक इतिहास के वीर-काल में नारी का स्थान सभ्य-काल की नारी से ऊँचा था। पर ऊँचाई कुछ ऐसी ही थी जैसी भारतीय इतिहास में काव्य काल की नारी की ऊँचाई राजपूत काल की नारी की ऊँचाई से अधिक थी। ग्रीक इतिहास के वीर काल में वह स्तुत्य अवश्य है परन्तु भारतीय इतिहास के काव्य-काल की नारी की ही भांति वह पति के सम्मुख नितान्त तुच्छ है, वह उसके औरस-पुत्रों की जननी मात्र है। एक पद उसका और है, दासियों की निरीक्षिका का जिनमें अनेक उसके पति की रखैल है, उसकी स्पर्धिनी। एक पत्नीत्व (Monogamy) के साथ पत्नी की दासता और तरुण सुन्दर दासियों का उप-पत्नीत्व अनिवार्य है। इस काल में नर का एक पत्नीत्व (Monogamy) केवल नारी के लिए है, स्वयं नर के लिए सर्वथा नहीं।

ग्रीक काल की गृह-तथा सामूहिक (विशेष कर गृह) दासता के समझने के लिए उनकी दोनों जातियों-डोरियनों और यवनों (आयोनियनों)—के इतिहास पर एक नजर डालनी होगी। इनका तिथिपरक स्थान तो होमर के पश्चात् है परन्तु वास्तव में इनके अनेक सामाजिक रूप उसके पूर्व के हैं। डोरियन ग्रीकों में स्पार्टा की व्यवस्था मुख्य है। उनकी विवाह प्रथा होमर कालीन प्रथा से भी सम्भवतः प्राचीन है।

उनमें भी 'युगुल-विवाह' (एक पुरुष-एक स्त्री) की प्रथा का ही प्रचलन था। परन्तु सन्तति-विरहित-विवाह गैर कानूनी करार देकर तोड़ दिये जाते थे। उनमें अनेक भाई एक ही पत्नी से विवाह कर सकते थे, जैसा पाण्डव-बन्धुओं ने द्रौपदी के साथ किया था। स्पार्टा के उत्कर्ष-काल में गृह-दासता की प्रथा अनजानी थी क्योंकि उनके दास जो स्वतन्त्र न थे, इलाकों पर काम करने के लिए पृथक कर दिये जाते थे। इस कारण स्पार्टन-नर अपने दास की स्त्री से प्रभावित होने का अवसर कम पाता था। परन्तु इसी कारण स्पार्टा में दासों की संख्या भी प्रभुओं से अधिक हो गयी थीं और उनका प्रयोग गृह-दासों की भांति कम वरन् सामूहिक दासों को भांति अधिक किया जाता था। इसी कारण उनकी नारियों का स्थान यवन-ग्रीक नारियों से कहीं ऊँचा था, आयोनिया में अवस्था दूसरी थी। इन यवनों का केन्द्र एथेन्स था। वहाँ कुमारियाँ प्रायः सूत कातने, बुनने, सीने पिरोने और कुछ अंशों में तनिक पढ़ने-लिखने की आदी थीं। उनको तालों के अन्दर रहना पड़ता था। घर में उनके लिए ऊपर अथवा पीछे का खण्ड नियत था जहां उनका संबंध केवल नारियों से हो सकता था। बाहर वे दासियों की कैद में निकलती थीं, अन्दर दासियों की कैद में रहती थी। गृह के नारी खण्ड के लिए रक्षक नियत थे। भारतीय नारी विधान में यह नीति अनजानी नहीं थी। यहां भी गृह में नारी-खण्ड पृथक होता था जिसे अन्तःपुर शुद्धान्त आदि कहते थे और राजाओं के हरम में इन पर नियन्त्रण रखने के लिए यवनी काफिला कायम था जिनका स्वयं नियन्त्रण मौर्य काल का 'अन्तर्वेशिक' (अन्तर्वंशिक) गुप्त काल का प्रतिहार अथवा संस्कृत नाटकों का कंचुकी करता था।

स्वयं ऋग्वेद तक 'गुहा चरन्ती योषा'—गृह के अभ्यन्तर भाग में फिरने वाली नारियों का हवाला मिलता है। अरिस्तोफेनिज की कृतियों से स्पष्ट है कि इस काल के ग्रीक में 'जारों' को दूर रखने के लिए मोलोस्सियन कुत्तों को रक्षक के रूप में रखा जाता था। ऋग्वेद में भी इसी प्रकार के कुत्ते का वर्णन आया है। जार अपनी प्रेयसी के घर के सामने रात्रि में उपस्थित होकर देवताओं से प्रार्थना करता है कि उस घर के अन्य प्राणी सो जायं केवल प्रेयसी जगी रहे। इस संबंध में वह पहरे के कुत्तों के प्रति भी एक ंत्र बोलता है जिससे वे शीघ्र ही निद्रित होकर उसे अपने प्रेम के वितन्वन का अवसर दें। पश्चात् वह कुत्तों के सो जाने पर गृह में प्रविष्ट हो प्रेयसी को जगा उसे 'उषा' काल तक भोगता है (ऋ० १, १२४, १२) इस अन्तःपुर की रक्षा और नियन्त्रण के अर्थ पूर्वान्त्य देशों में तो 'जनखों' (Eunuch–यूनख) का एक व्यवसाय ही चल पड़ा था। ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस्, जो पांचवी शती ई० पू० में ईरानी साम्राज्य में एथेन्स का राजदूत रह चुका था, लिखता है कि उसके समय में कीयोस (Chios–इस स्थान की पहचान आज कठिन है) नामक स्थान जनखों के व्यवसाय का एक विशिष्ट केन्द्र था जहां वे न केवल बेचे खरीदे वरन् प्रस्तुत किये जाते थे। एथेन्स के समाज में नारी का स्थान प्रमुख दासी का हो गया था। वहां के पुरुषों के मनोरंजन की वस्तु दासियां थी अथवा वे वारांगनायें जिनकी संख्या एथेन्स के समृद्धि-काल में फूली-फली और जो स्टेट की कृपा भाजन थी। इस काल के दास प्रथा के बीच रहने वाली एथेनियन नारी अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। एथेन्स के 'दास' स्टेट में एथेनियन नारी का जीवन दासवत बीतता था। जब हम इस

काल केवल असाधारण नामों—शुकरात, अफलातूं, साफोक्लिज इस्काइलस, यूरिपाइडिज, अरिस्तोफेनिस, पेरिकिलज, आल्कि बिआडिज, थेमिस्ताक्लिज, डिमास्थेनिज, हेरोदोतस, अरस्तू थ्यूसिडाइडिज, प्रैक्सीटीलिज, जेनोफोन पर विचार करते हैं जो प्रायः समसामयिक थे और जिन्हें साधारणतः प्रत्येक शिक्षित मनुष्य कम से कम नाम से जानता है तो हम इस बात से स्तम्भित रह जाते हैं कि उन्होंने अपनी उन्नति न केवल अपने दासों को कुचल कर वरन् समस्त नारी जाति के अधिकारों को दबा कर की। अफलातूं ने स्वयं 'बच्चों नारियों और दासों' को एक श्रेणी में रखा है, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दू और ईसाई धर्म का 'दसवां आदेश' पड़ोसी की बीबी, उसके दासों, उसके बैल, गधे और अन्य वस्तुओं को एक साथ रखता है। ग्रीक मीडिया कहती है—"सारे प्राणियों में नितान्त घृणित जीवन हम नारियों का है, क्योंकि हम सोना देकर उस पति को खरीदते हैं जो हमारा स्वामी बन बैठता है। और इस स्वामी के उचित अनुचित पर हमारा भाग्य निर्भर करता है।" थ्यूसीडाइडिज का एक पात्र कहता है "नारी वह अच्छी है जिसकी चर्चा पुरुषों से 'अच्छे-बुरे' किसी भाव से नहीं होती" एक स्थल पर उसी नारी का दयनीय व्यंगपूर्ण चित्रण इस प्रकार है—"अच्छी नारी अच्छे सिक्के की भाँति है, जिसे उसका स्वामी घर पर गाड़कर रखता है। बुरी नारी उस खोटे सिक्के की भाँति है जो बाजार में चलता है।"

पितृसत्ताक परिवार और एक पत्नीक जीवन ने गार्हस्थ्य का सामाजिक रूप नष्ट कर व्यैक्तिक कर दिया और नारी गृह की प्रमुख दासी, सामाजिक आचरण से पृथक हो गयी। आज का व्यैक्तिक परिवार खुले छिपे पत्नी की दासता पर अवलम्बित

है। ग्रीस, विशेषकर एथेन्स की नारी का यह सारा रूप दास-परक इसलिए है कि वहां का सारा जीवन दास-प्रथा से अभिभावित था। दास ग्रीक गार्हस्थ्य जीवन का प्राण था, उसका प्रतीक और आधार। अब जरा उसी देश के अट्टिका प्रदेश की दास व्यवस्था पर विचार करें। वहां के कर्ज़ में रेहन किये हुए खेतों की सीमा पर स्तंभ गड़े रहते हैं। जब इस प्रकार दी हुई भूमि ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त न होती तो गरीब कर्जदार अपने बच्चों को गुलाम बनाकर विदेशियों के हाथ बेच देते थे। फिर भी अगर महाजन की अभितृप्ति न होती और ऋण अभी पूर्णतः चुका न होता तो वह अपने ऋणी को दास बना कर बेच सकता था। इस प्रकार दास-प्रथा को प्रश्रय देने अथवा उसको बढ़ाने में सूदखोरी का भी काफी हाथ था। अबीसीनिया में इस रूप में दास बनाने की प्रथा अभी हाल तक जारी रही है। ऋग्वैदिक काल में भी किसी न किसी रूप में यह विद्यमान थी। उसके द्यूत परक सूक्त में नारी दांव पर हारी जाकर विजयी के विलास की वस्तु बनती है, और स्वयं ज्वारी भी दासत्व के अनरूप स्थान ग्रहण करता है। यह प्रथा साधारण युद्ध-ग्रहीत दास-प्रथा से भी संभवतः भीषण थी क्योंकि इससे अपनी ही जाति अथवा 'जन' के स्वतन्त्र व्यक्ति दास बनाये जाते थे। यद्यपि दासता का पुराना रूप अब भारत से उठ गया है फिर भी ऋणी के रूप में सूद खोरी का गुलाम आज भी वहाँ वर्त्तमान है।

अट्टिका में व्यापार जल दस्युता और विजयों का बाज़ार गरम था। इस प्रकार विजयों से दास उत्पन्न करने वाला ज़रिया तो सुरक्षित था ही, जल दस्यु से भी दासों की संख्या बढ़ी परन्तु उनसे कहीं अधिक इस प्रथा का प्रसार व्यापार से

कमाये धन ने किया। एथिनियन नागरिकों से कहीं अधिक संख्या बढ़ कर दासों की हो गयी। उनकी प्राचीन शासन-व्यवस्था में दासता का नाम तक न था। इस कारण दासों की सम्हाल एक नई बात हो गई। अब उन्होंने अपने दासों के श्रम का उपयोग उद्योग-धन्धों में किया। इससे द्रव्य और समुद्रगामी यानों में और उनसे कहीं अधिक दासों की सम्पत्ति बढ़ी। पहले तो उनका नियन्त्रण स्टेट ने अपनी सेना से किया। जब नागरिकों से भी बढ़कर उनकी संख्या हो गयी तब क्या हो ? तब उन्होंने एथेन्स में उनका एक पुलिस फोर्स कायम किया। आश्चर्य की बात यह थी कि एथेन्स के नागरिक जल दस्युता और सैनिकता पर तो गर्व करते थे परन्तु पुलिस-कर्म उन्हें हेय जान पड़ता था। वे गुलाम-पुलिस द्वारा बद्ध होते तो लज्जित न होते थे परन्तु उनका कर्म उन्हें घृणित लगता था। इसलिए एथेन्स की पुलिस संस्था सर्वथा दासों की हो गयी। अब उसका समाज दासों और स्वतन्त्र नागरिकों में विभक्त था जिसमें दासों की संख्या कहीं अधिक थी। एथेन्स की उच्चतम समृद्धि के समय उसके नागरिक-नागरिकाओं और उनके बच्चों की संख्या कुल ९०,००० थी पर उनके दासों की संख्या ३६५,००० अर्थात् चौगुनी से भी अधिक थी। इसी प्रकार कोरिन्थ और ईजिना दोनों में नागरिकों की संख्या से दास-दासियों की संख्या (क्रमशः ४६०,००० और ४७०,०००) प्रायः दसगुनी थी। एथेन्स में यह औसत प्रत्येक नागरिक (नर) पर अट्ठारह दासों का था। इसका परिणाम हुआ एथेनियन स्टेट का विध्वंस। सम्पत्ति के एकत्रीकरण से एथेन्स का नागरिक सर्वथा दरिद्र हो गया। न तो वह सम्पत्तिवान् का सम्पत्ति में मुकाबला कर सका और न गुलाम

का श्रम में। इससे क्रमशः वह स्वयं गुलामों की श्रेणी में जा मिला।

रोमन स्टेट में भी दासता का प्रारम्भ युद्ध की विजयों, कृषि-कर्म और व्यापारिक सम्पत्ति से हुआ। रोमन विजित जर्मन प्रान्तों में जर्मनों के साथ की सन्धियों में उनकी कुमारिकाओं का बन्धक अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था। पत्नी अथवा कन्या का दासी बनाया जाना जर्मनों के लिए अत्यन्त घृणा की बात थी। धीरे धीरे रोमनों में काव्य-कालीन (classical) दासता विलुप्त हो गयी। अब दासों का व्यवहार केवल श्रीमान्, गृह-कार्यों अथवा विलास में करने लगे थे। फिर भी श्रम, दासों का ही काम समझा जाता था। स्वतन्त्र रोमन नागरिक शारीरिक श्रम को अनागरिक समझता था। स्वयं ईसाई धर्मने कभी दास-प्रथा के विरुद्ध आचरण नहीं किया और न उसे कहीं बुरा कहा। यह बात आश्चर्य की होते हुए भी अकारण नहीं है। यह धर्म रोमन शासन में पोषित और वर्द्धित होने के कारण न तो उत्तर के जर्मनों और न दक्षिण के भूमध्यसागरस्थ वेनीशियनों में ही दास-व्यापार का विरोध कर सका। बाद में रोमन सत्ता के नष्ट हो जाने पर जब हब्शी दासों के व्यापार ने जोर पकड़ा तब भी अपनी परम्परा से लाचार इस धर्मने उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया। दसवीं सदी ईस्वी में होली-रोमन-साम्राज्य के अन्तर्गत वर्दून नगर में जनखों के दास व्यापार ने अपना केन्द्र बनाया, जनखे बनाये, और स्पेन के 'मूरी' हरमों में नियुक्त होने के लिए सदियों तक भेजे जाते रहे। रोमनों की दास-प्रथा इस कारण नष्ट हो गयी कि अब वह अर्थकारी न रह गई थी।

जर्मनों ने जिस दासता का अविष्कार किया उसने रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत भी प्राचीन दास प्रथा का स्थान ग्रहण कर लिया। इस दासता में बद्ध दास धीरे-धीरे सामूहिक रूप से मोक्ष पा सकता था। यह व्यक्तिगत दासता से कहीं अच्छी थी। प्राचीन काल में संगठित विप्लव द्वारा दासता का नाश इतिहास नहीं जानता। परन्तु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जर्मन भूदासों ने, जिन्हें 'सर्फ' कहते थे, धीरे-धीरे वर्ग रूप में दासत्व से मोक्ष प्राप्त किया। वास्तव में वे 'क्लासिकल'-जगत की श्रम-दासता अथवा पूर्वात्य जाति की गृह-दासता के स्तर तक कभी न गिर सके थे।

भारतीय दासों की परम्परा भी बहुत प्राचीन थी। आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व का इतिहास अत्यन्त अन्धकार में होने के कारण, भारत में इस प्रथा के होने में सन्देह किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु-सभ्यता में उसका प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु चूँकि इस सभ्यता के मोहन-जो-देड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में पाए गये ऐतिहासिक आँकड़ों में इसके चिन्ह ढूँढ़ना आसान नहीं, और इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के अवशेष अधिकतर स्थूल पुरावस्तुओं में मिलते भी नहीं। दासता का सर्वथा वहाँ न होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। कम से कम यह तो है ही कि अन्य पाषाण-काल के पूर्व और उत्तर युग, बर्बर, पशुपालन, कृषि, उद्योग-व्यापार, धातु-कर्म आदि यहाँ भी उसी प्रकार सम्पन्न हुए जैसे विदेशों में। पारस्परिक युद्धों की परम्परा यहाँ भी थी। दासता का कोई न कोई रूप वर्ग-विभाजन के साथ होना ही चाहिये। परन्तु ऋग्वैदिक आर्यों के समाज में दासों का बाहुल्य था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। आर्यों के भारत में आने पर

इस भूमि के चप्पे-चप्पे के लिए उन्हें द्रविड़ों से लड़ना पड़ा था। उन्हें युद्ध में जीत, बन्दी बनाकर दास बना लेना साधारण बात हो गई थी। अपने शत्रुओं को आर्य ऋषियों ने 'दासाः' 'दस्युः' 'मृध्रवाचा' 'शिश्नदेवाः' 'अनासाः' 'अदेवयुः' 'अयज्वन्' आदि कह कर व्यक्त किया। इनमें से उनका पहला सम्बोधन 'दास' वही है जो संस्कृत में गुलाम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निश्चय तब भारतीय दास युद्ध में आर्यों के विजित और बन्दी होकर उनके गुलाम हो गये और उनकी संज्ञा दासता के अर्थ में धीरे-धीरे रूढ़ि हो गयी। अत्यन्त अधिक संख्या में आर्यों ने अपने शत्रुओं को दास बनाया था परन्तु ये दास निःसन्देह गृह-दास ही थे। उनका उपयोग गृह में सेवा, पशुचारण, कृषि आदि में किया जाता था। आर्य अपने भ्रमण जीवन के कारण···अपने साथ स्त्रियाँ कम लाये थे। परन्तु भारत में शत्रुओं की बहुसंख्या के कारण उनको अपने 'जनों' की आवश्यकता अधिक प्रतीत हुई। इससे उन्होंने एक नारी से अधिक से अधिक पुत्र उत्पन्न करने की घोषणा की। प्रत्येक आर्य का यह आदर्श कार्य हो गया कि वह दस पुत्र उत्पन्न करे और ग्यारहवाँ पुरुष वह स्वयं हो। नारियों की संख्या की पूर्ति उन्होंने दो प्रकार से की। एक तो अपनी सती प्रथा को बन्द कर पति के मरते ही उसकी विधवा का विवाह उसके देवर अथवा अन्य पारिवारिक जन से करने लगे तथा 'नियोग' से······पुत्र जनन की उन्होंने व्यवस्था की, दूसरे युद्ध में जीती हुई दास स्त्रियों का भी वे पत्नियों की भाँति उपयोग करने लगे। इनके लिए शायद उनको दासों के गाँव भी लूटने पड़े थे क्योंकि वे वीरांगनायें अपने पतियों के साथ देश की स्वतन्त्रता के अर्थ खुले युद्ध में लड़ती

थीं और जब तब बन्दी हो जाती होंगी। ऋषि कहता है—
"दास-पत्नी रहिगोपा अतिष्ठानिरुद्धा आपः पणिने भाव:"
(ऋ० १, ३२, ११)—

दास ने नारियों को अपना अस्त्र बनाया है; भला उनकी सेनाओं से हमारा क्या अपकार होगा ? इससे समाज में नारियों की संख्या बढ़ी और बहु विवाह की प्रथा जोर से चल पड़ी। राजाओं के हरम दासियों से भर गये (राजेवहिजनिभि: ७, १८, २, २, १६, २, १०, ६५, ६७१)। ऋषियों ने भी बहु-विवाह करने आरम्भ किए। कक्षीवान् ने दो विवाह किये थे (१, १२६, ३; १, ५१, १३) च्यवन ने अनेक किए थे (१, ११६, १०; ५, ७४, ५; १, ११७, १३; ११८, ६; ७, ६८, ६; ७१, ५, १०, ३९, ४)। घर में सपत्नियों (सौतों) की बाढ़ सी आ गयी। राजा अपने परिजनों और पुरोहितों को गायों, भैंसों, अश्वों आदि के साथ रथों में भर-भर कर दासियाँ भी दान में करने लगे (६, २७, ८; ८, ६८, १७) राजा त्रसदस्यु ने सभरिकण्व को पचास दासियाँ प्रदान कीं (८, १९, ३६; ५, ४७, ६)। इसी प्रकार राजा स्वनय भावयव्य के यहाँ अपने विवाह के अवसर पर ऋषि कक्षीवान् ने 'रथों भर कर' दहेज दासियाँ पाईं। (उपमाश्यावाः स्वनयेन दत्तां वधुमन्तो दशरथा: सो दस्युः—१, १२६, ३ और देखिये, ७, १८, २२) इन दासियों को संज्ञा 'वधू' थी। जिससे विना किसी विवाह क्रिया के उनके साथ पति-कर्म किया जा सके। जहाँ नारियों की संख्या इतनी थी वहाँ आर्य नारियों का इस संख्या में दान में दिया जाना सर्वथा कल्पना के बाहर है। विवाह अनुष्ठान रूप में केवल आर्य नारी के साथ ही हो सकता था। परन्तु दासियों की संज्ञा भी 'वधू' इसलिए कर दी गयी थी कि उन्हें बिना

विवाह के भी कानूनी मातृत्व का अधिकार प्राप्त हो सके। आज भी रियासतों में विवाहिता के साथ अनेक सवर्ण दासियाँ विवाह-यौतुक में आती हैं और उनका अधिकतर वही प्रयोग होता है जो पत्नी का परन्तु उनको पत्नी के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। ऋग्वैदिक आर्यों ने अविवाहित किन्तु प्रस्तुत पत्नियों का सृजन किया जो 'वधू' के नाम से विवाह के अवसर पर वर को अथवा अन्य अवसरों पर पुरोहित को दी जाती थीं। इनसे उत्पन्न होने वाला पुत्र औरस होता था। कक्षीवान्, औशिज, कवष, वत्स आदि प्रमुख ऋग्वैदिक ऋषि इसी प्रकार की दासी वधुओं से उत्पन्न थे (१, १८, १; ११२, ११)। ग्रीस में दासियाँ केवल रखैल थीं; भारत में आर्यों ने उन्हें अविवाहित 'औरस' पत्नियाँ करार दिया। इससे एक लाभ हुआ कि ग्रीकों की भाँति उनकी नारियों का तिरस्कार न हो सका। इस प्रकार ऋग्वेद में दास-दासियों की संख्या का पूरा हवाला मिलता है। विवाह के अवसर पर पुरोहित द्वारा जो नव-विवाहिता वधू को 'शंनो भव द्विपदेशं चतुष्पादे' का (ऋ० १०; ८५ में) बराबर आशीर्वाद मिला है उसमें भी 'द्विपद' से तात्पर्य दासी से ही है। यदि ऐसा न होता तो 'सास-ससुर, ननद-देवर' आदि सम्बन्धियों के अलग गिनाने और 'द्विपदों' को चतुष्पदों के साथ 'शूद्र-पशु-नारि' वत् बाँध देने की क्या आवश्यकता थी? जिस प्रकार राजा गायों, अश्वों का दान देता था और ऋषि इन तीनों को एक ही स्वर में समान पदीय होने के कारण गिनाता था; यहाँ भी पुरोहितों ने दो-पायों और चौपायों को साथ ही रखा है।

भारतीय दासों की परम्परा का उत्तर-वैदिक कालीन साहित्य, सूत्र और काव्य-साहित्य में भी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट

रूप में उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के भारतीय हमले के समय तक्षशिला के बाजारों में दास-दासी बेचे जाते थे जिनमें पिताओं द्वारा बेची जाने वाली कन्यायें भी थीं। काव्य-काल के पिछले स्तरों, विशेषकर कालीदास और अन्य संस्कृत नाटककारों की कृतियोंमें दासों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। नाटकों में यवनियों और किरानियों का जो वर्णन आया है वह दास परक ही है। यवनियों का उपयोग राजाओं के अन्तःपुर में रक्षिकाओं के रूप में होता था वे राजा की शस्त्र-वाहिनियां थीं, उसके अस्त्र शस्त्र को अपनी देखरेख में रखती थीं। जब राजा आखेट अथवा राजकाज के अर्थ प्रसाद से बाहर निकलता तो वे उसकी पालकी को घेर कर चलती थीं। कालीदास ने इनके विशेष वेशका हवाला दिया है। ईसा पूर्व चौथी शती में होने वाले चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि राजा का प्रातः उठते ही इन नारियों का मुख देखना कल्याणकर है। तत्सामयिक सिल्यु-किद राजदूत मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त के नारियों से घिर कर चलने का उल्लेख किया है। ये यवनियां कौन थीं इसका विस्तृत वर्णन प्रथम शती ईस्वी के अज्ञात ग्रीक-लेखक द्वारा प्रस्तुत "इरिथ्रियन-सागर का पेरिप्लस" नामक ग्रन्थ करता है। उसमें लिखा है कि किस प्रकार ग्रीस आदि के नगरोंसे दासियां जहाजों में भर भर कर सुरा और अन्य व्यापारिक वस्तुओं के साथ भारत के पश्चिमी तट के 'बेरीगाजा' (भृगु-कच्छ-भड़ोच) शूर्पारक (सोपारा), कल्याण आदि बन्दर-गाहों पर उतारी जाती थीं, जहाँ से उज्जैन होती हुई वे उत्तरी नगरों के राजप्रासादों और श्रीमानों के महलों में पहुँचती थीं। इन्हीं की भांति 'जनखे भी व्यापार में खरीदे-बेचे जाते थे।

मुग़ल हरमों में उनका विशेष स्थान था। यद्यपि कालीदास तक ने उनके प्रति संकेत किया है। आखिर कियोस वरदून में 'बनाये' जाने वाले 'जनखों' के लिए बाजार तो चाहिए ही था। वरदून के जनखे तो अलहम्रा के महलों में जाते थे और प्राचीन कियोस के फारसी महलों और भारतीय प्रासादों को। मुगल हरमों में 'तातारियाँ' प्राचीन यवनियों की ही स्थानापन्न थीं।

मध्य हिन्दू काल के बाद अरब-उत्कर्ष के समय मध्य ऐशिया और योरप में भी अनन्त अनन्त संख्या में गुलाम बने जो अपने स्वामियों के विलास में सहायक हुए। तुर्कों की 'जैनिसरी' सेनाओं द्वारा बाल्कन से जीते गुलामों की संख्या बढ़ी थी। इनमें से अनेक हरम के अफसर और सुल्तान के शरीर-रक्षक सेना के अध्यक्ष भी हो जाते थे। इन सुल्तानों ने दासियों का उपभोग तो किया ही सुन्दर ईसाई दास बालकों को भी प्राचीन ग्रीकों की भाँति इन्होंने अपने काम का साधन बनाया। परन्तु इन्हीं दिनों गुलामों का एक शक्तिशाली परिवार भी उदित हो रहा था। मिस्र, मध्य ऐशिया, सर्वत्र इन्होंने अपनी शक्ति से अपने स्वामियों को भूलुण्ठित कर दिया। मिस्र और भारत में तो इनके कुलों ने सशक्त शासन भी किया। कुतुब-उद्दीन-ऐबक, अल्तमश, नासीरुद्दीन, बलबन इसी गुलाम परम्परा के शक्तिपुंज प्रतीक थे। इसके बाद ही मंगोलों (मुग़लों) ने भारत पर अनेक आक्रमण किए और चंगेज, तैमूर आदि लाखों की संख्या में भारत से दास ले गये। जिनका उन्होंने मध्य और पश्चिमी ऐशिया के खेतों पर उपयोग किया। अलाउद्दीन के समय में तो दासों की संख्या मध्य ऐशिया में इतनी बढ़ी कि एक-एक दासी-रखैल दस-दस

आने में खरीदी जा सकती थी और लड़का रखैल पांच-पांच आने में। मुगल बादशाहों ने अपने हरमों में दास-दासियों और जनखों को काफी संख्या में रखा। इन्हीं दिनों स्पेन के व्यापारी अफ्रिका के हबशियों का दास-व्यापार करते थे जिसमें इंगलैंड और उसकी रानी एलीजाबेथ तक की पूंजी लग कर अनन्त गुना धन लाती थीं। इस प्रथा का नग्न-नृत्य इंगलैंड में अठारहवीं, उन्नीसवीं सदी और अमेरिका में खून खराबे के बाद बन्द हुआ।

इन नग्न दासता के अतिरिक्त भूदासों (serfs) की भी एक परम्परा चली, जिसे जर्मनों ने जन्म दिया। वे स्वयं जर्मनी में तो स्वतन्त्र हो गये परन्तु भारत में आज भी विद्यमान हैं। सामन्त युग में ही इस परम्परा का जन्म हुआ जो जागीरदारी काल में फूलती फलती रही और कम्पनी राज में इस्तमरारी बन्दोबस्त से भूरहित परिस्थिति और पनपी। आज भी ये भूदास जमीदारों की भूमि पर अवैतनिक रूप से गुलामी कर रहे हैं। पूंजी के एकत्रीकरण ने श्रमिकों की एक नवीन दास परम्परा स्थापित की है। आज का भारत श्रमिक-भूकर्मकर-नारीपरक तीन दास परम्पराओं से अभिभूत है।

"भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति"

(उत्तरार्ध)

नोटः—यह लेख बाद में प्राप्य होने से अन्त में दिया जा सका:— प्रकाशक

शिशुनाग वंश के पिछले युगों में नन्दों का उत्कर्ष हुआ ईसा पूर्व चौथी-पांचवीं शती में। इतिहास प्रसिद्ध है कि महापद्म शूद्र और निम्नकुलीय था जिसने क्षत्रिय राजन्यों (शैशुनागों) से मगध का साम्राज्य छीन लिया था। महापद्म नन्द अमित कोष और अमित सेना वाला राजा था। इसी से उसका नाम भी 'महापद्म' पड़ा था। उसने क्षत्रियों का उसी प्रकार संहार किया था जिस प्रकार कभी परशुराम ने किया था। उसका विरुद था—'सर्व-क्षत्रान्तक'—सब क्षत्रिय राजाओं का संहारक। ऐसा विरुद क्षत्रिय राजा कभी धारण नहीं करता। कम-से-कम इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। महानन्द की सेना के सिपाही भी सम्भवतः क्षत्रिय न थे, निम्नवर्णीय थे जैसा उनका राजा था और क्षत्रिय सैनिक भी महापद्म की क्षत्रिय संहर्त्री नीति और उसके अक्षत्रिय कार्य की सहायता के अर्थ इस संख्या में सम्मिलित होकर उसका 'उग्रसेन' विरुद सार्थक नहीं कर सकते थे। महापद्म की अमित सेना, जिसने सारे क्षत्रिय राजाओं को उखाड़ फेंका, निस्सन्देह अक्षत्रिय और निम्नवर्णीय थी। परन्तु महापद्म के इस क्षत्रिय-संहार में प्रमाणतः ब्राह्मणों ने सक्रिय साथ दिया। कुछ आश्चर्य

की बात नहीं यदि पाणिनी ने यूसुफजई के शालातूर से आकर पाटलिपुत्र के वातावरण में अपनी 'अष्टाध्यायी' के सूत्र में 'वासुदेवार्जुनायनाभ्याम् वुन्' में भागवत धर्म की उठती हुई लहर की घोषणा की तो उनके वार्तिककार कात्यायन ने शीघ्र उस लहर को अपने पुरातन शत्रुओं की ओर मोड़ दिया। इस बात को भूलना न चाहिये कि नन्द के तीन मन्त्री थे और तीनों ब्राह्मण थे। उनमें दो के नाम तो विशेष प्रसिद्ध हैं, कात्यायन (वररुचि) और राक्षस। दोनों ने उसकी क्षत्रिय संहारक नीति का पूर्ण रूप से अभिपोषण किया और दोनों ने 'कण्टकेनैव कण्टकम्' का राजनीतिक अचरण किया। राक्षस तो नन्दों की सहायता में शहीद तक हो गया। उसने चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों से संघर्ष किया। उसके सामने ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का अतीत मूर्त्तिमान था और क्षत्रिय सत्ता का पुनरोदय उसकी दृष्टि में ब्राह्मण का अपकर्ष था। चाणक्य के सामने एक नये भविष्य का भीषण दृश्य था जिसमें निम्न-कुलीय शूद्र प्रबल जनसत्ता अभिजात वर्गीय ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों ही को भूलुण्ठित कर रही थी। नव-समाज का यह भीम-काय रूप चाणक्य ने देखा जिसका अभिपोषण नन्द की शक्ति और क्षत्रिय-संहारक नीति ने किया था। चाणक्य चन्द्रगुप्त में एका हुआ। समान भय के सामने ब्राह्मण-क्षत्रिय आत्म-रक्षा के लिये कटिबद्ध हुए। मेधा और क्रिया एकत्र हुई। इस सम्मिलित चोट ने नन्द को धूल चटा दी। राक्षस भी (अनु-वृत्त हैं) संभवतः आगे का भय देखकर चाणक्य की मति का हो गया। बाद में गुप्तकालीन क्षत्रिय नाटककार विशाख दत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में ब्राह्मण कर्मा राक्षस को 'राक्षस' कहा और राक्षसकर्मा चाणक्य को 'ब्राह्मण'। वस्तुतः उसके लिये

राक्षस दोनों ही थे, परन्तु चाणक्य निस्सन्देह प्रियतर था, क्योंकि उसने क्षत्रिय की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था, उसकी रक्षा उसने की थी। ब्राह्मण ने क्षत्रिय के साथ साझा किया था जो भावी जनसत्ता के संघर्ष में कुछ अपवादों के साथ सदा बना रहा। पहला लम्बा अपवाद इसी मौर्यकाल में सामने आया। एक परम्परा वैयाकरणों की थी दूसरी शास्त्रियों की। एक शृंखला की कड़ियां थे पाणिनी-कात्यायन-पतञ्जली, दूसरी के थे मनु-याज्ञवल्क्य-विष्णु। अष्टाध्यायी-वार्तिक-महाभाष्य और मनुस्मृति-याज्ञवल्क्यस्मृति-विष्णुस्मृति। चाणक्य का अर्थशास्त्र दोनों के मध्य था। अष्टाध्यायीकार पाणिनी क्षत्रिय नन्द की संरक्षा में था, स्वयं ब्राह्मण। उसने जनवर्ग की उठती हुई आंधी भागवत धर्म में देखी, उससे संत्रस्त हुआ। वार्तिककार कात्यायन न केवल अष्टाध्यायी का प्राश्निक था वरन् पाणिनी के क्षत्रिय पोषक नीति का शत्रु भी था। राजनीति में उसने शूद्र जनसत्ता से साझा किया। पतञ्जलि व्याकरण में ही नहीं राजनीति में भी वार्तिककार कात्यायन का विरोधी था। वह एक प्रकार का समन्वय था। ब्राह्मण धर्म का वह पोषक था इसमें उसका और पाणिनी तथा कात्यायन का साम्य था। वह क्षत्रिय-शत्रु और पुष्यमित्र का स्रष्टा था इससे वह पाणिनी और कात्यायन दोनों का विरोधी था। और शूद्र-शत्रु होने के कारण वह चाणक्य के भी समीप आ गया था। धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण शूद्र विरोधी ब्राह्मणों का था। मनुस्मृति के साथ मनु का नाम इसलिये जुड़ा है कि वह अनुवृत्त से मनुष्य का पिता और राजधर्म का प्रारम्भक माना जाता है। स्मृति भृगुवंशीय ब्राह्मण की लिखी हुई है और शूद्रों के विरोध में अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, बर्बर और अन्याय-

पूर्ण नियमों का उद्घाटन करती है। साथ ही उसमें ब्राह्मण शक्ति का उद्घाटन भी है। ब्राह्मण उसमें पृथ्वी का देवता और 'महीसुर' हो जाता है। भार्गव शुंगों के आदि राजा और पतञ्जलि-शिष्य ब्राह्मण पुष्य मित्र के तत्वावधान में लिखी मनुस्मृति का ऐसा होना स्वाभाविक ही है। यह परम्परा याज्ञवल्क्य और विष्णुस्मृतियों में भी अक्षुण्ण बनी रही। जबतक ब्राह्मण क्षत्रियों का उस अनागत भय के प्रति गुप्तकाल तक साझा बना रहा। बौद्ध अशोक के समता-घोष के परिणाम में ऐसा होना स्वाभाविक था।

चाणक्य, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इन दोनों शृंखलाओं के बीच में है। वह शूद्रध्वंसक है। निम्नवर्णीयों से संत्रस्त उनके नन्दीय उत्कर्ष को वह संदेह से देखता है और क्षत्रिय सहायता से उसका विध्वंस करता है। फिर एक विशाल साम्राज्य को खड़ा कर वह पंजाब और पश्चिमी भारत के गण राज्यों को नष्ट कर देता है। इन्हीं जन-सत्ता के गण राज्यों में समता-समानता और ब्राह्मण-विरोध के बीज रोपे जाते और अंकुरित होते थे। वही निम्नकुलीय और शूद्र ब्राह्मणों और अभिजात-कुलीयों से समानता का आचरण करते थे। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में शूद्रों के विरुद्ध अनुचित अन्यायपूर्ण नियम लिखे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मति आदि ने जिनको विस्तार दे देकर प्रकाशित किया। चाणक्य ने क्षत्रिय से साझा तो किया परन्तु उसका स्वामी बनकर। शूद्र शत्रु नन्द की मार से मूर्छित क्षत्रिय ब्राह्मण की छाया में गिर पड़ा, ब्राह्मण ने उसे अस्त्र बनाकर समान शत्रु पर प्रहार के अर्थ धारण किया। यह क्रम कुछ काल चला परन्तु जिस साझे में एक पक्ष अत्यन्त सबल हो दूसरा अत्यन्त दुर्बल, वह चिरकालिक नहीं हो सकता।

यह साझा भी टूट गया। संभव है ब्राह्मण के सतत राजस आचरण के अंकुश और निर्मम रक्तपात से क्षुब्ध अथवा उसके नित्य-प्रति हस्तक्षेप और 'वृषल' संबोधन से विरक्त होकर क्षत्रिय प्रव्रजित हो गया। परन्तु यह अर्थ की बात है कि चन्द्रगुप्त ब्राह्मण-संन्यास की छाया में न आया और अपने स्वाभाविक बौद्ध-जैन संप्रदायों की ओर अनुरक्त होकर जैन हो गया। संभवतः उसके पुत्र को कुछ काल तक चाणक्य-चन्द्रगुप्त ही की भांति अपने चंगुल में डाल उसे विजय-संघर्ष में सक्रिय रखा जैसा बिन्दुसार के विरुद्ध 'अमित्र घात' से प्रगट है, परंतु विन्दुसार के पुत्र अशोक के शासनकाल में पुराना संघर्ष फिर क्षत्रियों में घर कर बैठा। बौद्ध अशोक ने यज्ञ बन्द कर दिये, सारे धर्मों, सारे वर्णों की समानता की घोषणा कर दी। दबा हुआ घाव फूट चला। ब्राह्मण उछल कर फिर एक बार सामने आ गये। धन और शक्ति क्षत्रिय के हाथ में थे पर क्रांतिकारी षडयन्त्र-मेधा ब्राह्मण के हाथ में। पतञ्जलि के तत्वावधान में उस षडयन्त्र ने रूप धारण किया। उसके शिष्य पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य वृहद्रथ को मारकर ब्राह्मण साम्राज्य की नींव डाली। बौद्ध संघारामों के क्षत्रिय और ब्राह्मणेतर वर्गों में प्रतिक्रिया हुई। वे शाकल के ग्रीक राजा मिनान्दर को बौद्ध बना पुष्यमित्र पर चढ़ा लाये। पुष्यमित्र ने उसे हराकर पाट-लिपुत्र से जलंधर तक के सारे बौद्ध विहारों को जला डाला और शाकल में एलान किया "जो मुझे एक श्रमण-मस्तक देगा उसे मैं सौ दीनार दूँगा" श्रमण-मस्तक दोनों का प्रतीक था, क्षत्रिय का भी, ब्राह्मणेतर बौद्ध का भी। पुष्यमित्र संरक्षा में मनुस्मृति में श्रमण और शूद्र दोनों के विरोध में नियम बने और लगातार आनेवाली स्मृतियों में भी बनते ही गये। तीन

राज्य खड़े हुए, शुंगों के, चेदियों के, आंध्र-सातवाहनों के, फिर काण्वायणों और सातवाहनों के। सब ब्राह्मण कुल थे। यज्ञानुष्ठान सर्वत्र होने लगे, अश्वमेधों की परम्परा फिर जगी।

परन्तु अब तक वर्ण-धर्म संदेहात्मक हो चला था यद्यपि ब्राह्मण उसे बचाने की प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे। बौद्ध जैनों ने उस पर प्रहार किया, भगवद्धर्म ने उल्टे तरीके से उसको क्षति पहुँचाई, अशोक, शालिशूक ने उसे अर्थ-रहित कर दिया। परन्तु गीताकार ने देखा कि यदि ब्राह्मण न रहा तो क्षत्रिय भी न रहेगा और उसने उसमें सांख्य और वैशेषिक का न्याय और योग का समन्वय किया। परन्तु चूँकि सतर्क भागवत धर्म की यह पोथी थी, जिसका केन्द्र क्षत्रिय अथवा ब्राह्मणेतर देवता कृष्ण था, वह वेद और कर्मकाण्ड विरोधी बना रहा। परन्तु सतर्क होने के कारण जन सत्ताक आँधी से रक्षा के लिये अथवा उसको दूरस्थ करने के लिये एक बार उसने गीता में—उसके अन्त्य-स्कंधों में—वर्ण-धर्म की फिर से व्याख्या की—ब्राह्मण का धर्म पठन-पाठन, क्षत्रिय का प्रजापालन, वैश्य का कृषिकर्म और वाणिज्य, और शूद्र का त्रिवर्ग की सेवा। परन्तु आँधी न रुक सकी, न रुक सकी। ग्रीकों, शकों और कुषाणों के आक्रमणों ने जाटों, हूणों और गुर्जरों के हमलों ने ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था तोड़ दी, ब्राह्मण-क्षत्रियों के साझे से खड़े गुप्त-साम्राज्य को टूक-टूक कर दिया और वे स्वयं इसी भारतीय व्यवस्था में खो गये। उस व्यवस्था की शुद्ध असंकरता को न तो धर्म-सूत्रों की शृंखला बचा सकी, न अर्थ-शास्त्रों का नियन्त्रण और न धर्मशास्त्रों के विधान। युद्ध-दुर्मद ग्रीकों (यवना दुष्ट विक्रांता) के हमले से भारतीय प्रांत नष्ट-भ्रष्ट हो गये (आकुला विषयाः सर्वे) राजा विनष्ट हो गये

(नश्येरन् च पार्थिवाः) इस ग्रीक-शक विध्वंस का रूप सम-सामयिक 'शुंगपुराण' ने इस प्रकार खींचा है (पाठ प्रायः अशुद्ध है—व्याकरण के रूप से प्रयास पूर्वक शुद्ध किया हुआ)—

अनार्याश्चार्य धर्माश्च भविष्यन्ति नराधमाः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव युगक्षये ॥
समवेशाः समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।
पाषण्डैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये ॥
स्त्रीनिमित्तं च मित्राणि करिष्यन्ति न संशयः ।
चीरवल्कलसंवीता जटावल्कल धारिणः ॥
भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः ।
त्रेताग्नि वृषला लोके होष्यन्ति लघुविक्रियाः ॥
शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः ।
भोवादिनस्तथा शूद्राः ब्राह्मणाश्चार्य वादिनः ॥
समवेशाः समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।

× × × ×

ततस्तस्मिन्गते काले महायुद्ध सुदारुणे ।
शून्या वसुमती घोरा स्त्रीप्रधाना भविष्यति ॥
कृषि नार्यः करिष्यन्ति लांगल कर्षणाणयः ।
दुर्लभत्वान्मनुष्याणां क्षेत्रेषु धनुयोधनाः ॥
विंशद् भार्या दशोयावा भविष्यन्ति नरास्तदा ।
प्रक्षीणाः पुरुषा लोके दिक्षु सर्वासु पर्वसु ॥
ततः संघातशो नार्यो भविष्यन्ति न संशयः ।
आश्चर्यमिति पश्यन्तो'''पुरुषा स्त्रियः ॥
स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च ।
नराः स्वस्था भविष्यन्ति गृहस्था रक्तवाससः ॥

× × × ×

ततः प्रनष्टचरित्रा स्वकर्मोपहताः प्रजाः ।
करिष्यन्ति शका घोरा बहुलाश्च इति श्रुतिः ॥
चतुर्भागं तु शस्त्रेण नाशयिष्यन्ति प्राणिनां ।
हरिष्यन्यि शकाः तेषां (कोषं ?) चतुर्भागं स्वके पुरे ॥

× × × ×

ततः पापक्षते लोके दुर्भिक्षे लोमहर्षणे ।
भविष्यति युगस्यान्तं सर्वप्राणि विनाशनम् ॥
जनमारस्ततो घोरो भविष्यति न सशयः ।

× × × ×

इस उद्धरण से यह सिद्ध है कि इन आक्रमणों से वर्ण-धर्म सर्वथा नष्ट हो गया, अधिकतर पुरुष मारे गये, जो बचे उनमें से प्रायः बौद्ध या जैन श्रमण हो गये। परन्तु इससे एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि हिंदू अथवा ब्राह्मण-धर्म नष्ट होने से बच गया और जीवित रह सका। उसको यह शक्ति वास्तव में बौद्ध धर्म ने ही अप्रत्यक्ष रूप से प्रदान की थी। वर्णाश्रम के विरोध में ब्राह्मण-धर्म बौद्ध-धर्म की चोटें सहने का आदी हो गया था। इसी से जब उस पर औरों ने चोट की तो उसने उन्हें तो बर्दाश्त कर ही लिया चोट करनेवालों को भी वह पचा गया—यवन-शकों को, कुषाण जाटों को, हूण गुर्जरों को, पुक्कस-आभीरों को और बौद्धों तथा उनके बुद्ध को भी! फिर भी संघर्ष चलता रहा ब्राह्मण-क्षत्रियों में भी, ब्राह्मण-बौद्धों में भी, अभिजात-कुलीय-निम्नवर्गीयों में भी। गुप्तकाल में फिर एक बार ब्राह्मण-क्षत्रियों का साझा हुआ। ब्राह्मणों ने बुद्ध को अंगीकार कर लिया था और साथ ही गुप्तों के भागवत-शैवा-नुचरण को भी। उन्होंने भाई के रहते अथवा उसके हत्यारे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का रामगुप्त की विधवा ध्रुव-

स्वामिनी के साथ परिणय स्वीकार किया और उसी विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मण वाकाटक कुलीय प्रवरसेन से सम्पन्न कराया। मनुस्मृति आदि के ब्राह्मण विवाह-विधान का यह ज्वलंत 'अनुलोम' था, ब्राह्मण को मान्य।

परन्तु बौद्धसम्प्रदाय विलुप्त न हो सका, संघशक्ति न टूटी। समय-समय पर वह जोर पकड़ती गयी, हर्षवर्धन के समय वह फिर एक बार सचेत हुई और बौद्ध नृपति तथा उसके अतिथि हुएन्-त्सांग को मारने की ब्राह्मण अभिसन्धि का उसने सफल प्रतिकार किया। फलतः पाँच सौ ब्राह्मणों का देश निकाला हो गया। बौद्ध प्रयास और निम्नकुलीन जनबल फिर बढ़ चला। पालों के समय में दोनों की शक्ति बढ़ी; क्योंकि पाल कट्टर बौद्ध भी थे, और शूद्र भी थे। उनका साम्राज्य सुविस्तृत था और उन्होंने शूद्रों को उच्च पदाधिकारी बनाया। हर्ष और उसके बौद्ध-धर्म के विरोध में गौड़वंशीय शशांक ने, जो बोध गया के बोधिवृक्ष को काटकर उसके मूल में अग्नि रख दी थी, उसे पालों ने फिर से पनपाया। नालन्दा के विश्वविद्यालय में बौद्ध दार्शनिक ब्राह्मण और लोकायत दोनों का खण्डन करते थे, पालों ने उस विद्यापीठ को अपनी छाया में बढ़ाया, विक्रमशिला आदि औरों को खड़ा किया। ब्राह्मण में फिर एक बार प्रतिक्रिया हुई, जीवन जागा—शंकर और कुमारिल सयत्न हुए। विडम्बना अवश्य थी कि बौद्धों का शून्यवाद जो उपनिषदों का अद्वैतवाद था शंकर का भी अद्वैतवाद बना शंकर ने बौद्ध दर्शन की सूक्तियों का बौद्धों ही के विरुद्ध प्रयोग किया और फलतः स्वयं प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये। परन्तु कुछ काल के लिए निश्चय शंकर और कुमारिल के सम्मिलित

उद्योग ने बौद्धों को अप्रतिभ कर दिया। क्षत्रिय चुपचाप देखते रहे। ब्राह्मण-समाज की शक्ति एक और कारण से बढ़ चली थी। हूण, आभीर, गुर्जर आदि नवागन्तुकों को उन्होंने अपनी छाया में ले लिया। उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञानुष्ठानों के विधान किये। माउन्ट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियों का आविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था। आज के अनेक राजपूत कुल नये क्षत्रिय बने और उनका आबू में ही राजपूताना की मूर्धा पर ही क्षत्रिय बनना उचित भी था। फिर भी यह नवीन शक्ति ब्राह्मणों को अधिक सबल न बना सकी; क्योंकि अब युद्ध का क्षेत्र सर्वथा बदल चुका था। अब उनका युद्ध क्षत्रियों के विरोध में न था वरन् उनका और क्षत्रियों का सम्मिलित प्रयास उन बौद्धों के विरोध में था जो अब न तो क्षत्रिय ही रह गये थे, न अभिजात कुलीय ही।

अब बौद्ध धर्म से अनुबोधित एक नवीन जनसत्ता उठ रही थी जिसने पालों की युद्ध शक्ति की संरक्षा में समृद्धि पायी थी। दर्शन को उन्होंने अभिजात कुलीय समझ फेंक दिया, ब्राह्मण-दर्शन भी, क्षत्रिय-बौद्ध दर्शन भी। भागवत और शैव धर्म प्राचीन काल से ही निम्नवर्गीय और अंशतः अब्राह्मण-अनार्य रहे थे। इन दोनों का इस युग में प्रबल योग हुआ। बौद्ध धर्म के महायान ने इस आंदोलन का आरम्भ किया। महायान से मन्त्रयान निकला और मंत्रयान से उड़ीसा के महेन्द्र (श्री) पर्वत पर वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ। कर्मकांड नये सिरे से निखरा, सिद्ध अब नये पुरोहित थे। क्रिया-रहस्य पर निम्नवर्गीय धर्म आगे बढ़ रहा था—यौनचंद्र से भी वह बचा न रह सका। बौद्धों की प्रव्रज्या, जैनों के उत्कट तप और

ब्राह्मणों के संयम पर यह जीवन का कटु उपहास था। उड़ीसा के मंदिरों पर यौन भास्कर्य उत्कीर्ण हुआ*। परंतु दूर की पूजा अब भी बुद्ध की थी, इससे बुद्ध की प्रतीक मूर्ति जगन्नाथ के रूप में पुरी के वैष्णव मंदिर में आदृत हुई। बौद्धों की तारा सहसा शाक्तों की शक्ति और माता बन गयी। कुमारी पूजा ने पश्चिम में काशी-विंध्याचल तक अपना स्वत्व जमाया। वज्र-यानी सिद्ध, शाक्त कापालिक और अघोरपंथी औघड़ उड़ीसा से कामरूप (आसाम) तक और कामरूप से काशी तक यौन प्रक्रियाओं से शांति लाभ करते रहे। घोर तप और क्रूर संयम के विरुद्ध यह नग्न प्रतिक्रिया थी। परंतु यह प्रवाह घृणित स्रोत में बह चला। काश, इसका सचेतक प्रयोग समाज की उठती विषमताओं के विरुद्ध हो सका होता। इससे बस एक फल हुआ। ब्राह्मण वर्ण-विधान, मनु-याज्ञवल्क्य और विष्णु के स्मृति-विधान मिट गये, ब्राह्मण और क्षत्रिय बौद्ध अभि-जात कुलीय दर्शन प्रनष्ट हो गये।

समाप्त

---

* देखिये काशी विश्वविद्यालय के रिसर्च जर्नल में लेख—
Erotic Scenes on the Temple of Orissa.